हिन्दू जाति का उत्थान और पतन

लेखक

ज्यौतिषाचार्य, विद्यानिधि,

रजनीकान्त शास्त्री, बी० ए०, बी० एल०

साहित्य-सरस्वती, ज्योतिर्भूषण



किताब महल

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १६४७
द्वितीय संस्करण, १६४६

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद
मुद्रक—इलाहाबाद प्रेस, त्रिवेनी रोड, इलाहाबाद

भूमिका

इस पुस्तक के लिखने का ध्येय हिन्दू जाति को उसके वास्तविक रूप का, एक मालिन्यमुक्त आइने की तरह, केवल दर्शन करा देना है ताकि वह अब से भी अपना होश सँभाले। अब तक यह जाति आत्मश्लाघा एवं परनिन्दा जैसे हेय दुर्गुणों के नशे में सदा चूर रहकर अपनी तथाकथित प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति की डींग हाँकती, तथा अपने को आर्य, पर संसार की अन्य जातियों को म्लेच्छ, बर्बर आदि घृणा-व्यंजक शब्दों से याद करती हुई चली आई। इस जाति का सदा यह दावा रहा है कि वह जगद्गुरु है। जिस काल में संसार की अन्य जातियाँ बर्बरता के अथाह अन्धकूप में पड़ी हुई थीं, उस काल में ही वह सभ्यता के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ थी और उसने अपनी सभ्यता का प्रकाश अन्य जातियों तक पहुँचाया था। इस पुस्तक में हिन्दुओं के इस दावे पर निष्पक्ष होकर विचार किया गया है ताकि जनता को मालूम हो जाए कि उनका यह दावा मान लेने के योग्य है या नहीं। यदि इस पुस्तक को इस प्रकार के स्वतंत्र तथा निष्पक्ष विचारों का भण्डार कहा जाए तो कोई भी अत्युक्ति नहीं।

सर्वप्रथम पाठकों को जान लेना चाहिए कि 'हिन्दू' शब्द किसी भी भारतीय भाषा का शब्द नहीं है। प्राचीन पारस-वासी सिन्धु-नदी के समीपवर्ती भूभाग को 'हिन्द' और इसी सम्बन्ध से वहाँ के निवासियों को 'हिन्दू' कहा करते थे और भारत-निवासियों ने, अपने यहाँ किसी ऐसे राष्ट्रीय नाम के अभाव के कारण जिसके द्वारा उनका सामूहिक रूप से बोध हो सके, इसे चिरकाल से अपना लिया है। इस देश

में किसी भी राष्ट्रीय नाम के अभाव का कारण यह था कि भारत-निवासी अनेक जातियों तथा उपजातियों में विभक्त थे, जो अपने डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-अलग पकाया करती थीं, जिससे उनमें राष्ट्रीय-भावना अंकुरित होने नहीं पाई और जो अन्त में जाते-जाते उनके वर्त्तमान अधःपतन का कारण बना।

हिन्दू जाति की यह चिरबद्ध-मूल धारणा है कि वह उन प्राचीन आर्यों की शुद्ध सन्तान है जिन्हें ऋग्वेद के मंत्रों का प्रस्फुरण हुआ था। पर उनकी यह धारणा बिल्कुल निर्मूल है। सच पूछिये तो वर्त्तमान हिन्दू जाति एक भानमती का पिटारा है जिसमें न मालूम कितने प्रकार के रक्तों का सम्मिश्रण हो गया है, यहाँ तक कि बड़े-बड़े प्राचीन राजवंशों तथा ब्राह्मण-गोत्र-प्रवर्त्तक महर्षियों का रक्त भी अछूत-रक्त से अछूत नहीं रह सका है। पहले तो धर्म-शास्त्रों ने ही स्वयं असवर्ण विवाह को प्रोत्साहितकर हिन्दू जाति का रक्त मिश्रित कर दिया। पर पीछे तो नियोग जैसी घृणित प्रथा एवं इसी की देखा-देखी वैध किम्बा अवैध, सवर्ण किम्बा असवर्ण, सभी प्रकार के यौन-सम्बन्धों का बाज़ार इतना गरम हुआ कि वह ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी जातियों को ले डुबोया। पर प्रत्येक क्रिया की उतनी ही जबर्दस्त प्रतिक्रिया भी होती है, जिसके फल-स्वरूप आगे चलकर जाति-भेद-पोषक ऐसे कड़े-कड़े नियमों की सृष्टि हुई कि प्रत्येक जाति एक वायु-बद्ध कोठरी (Air-tight compartment) में बन्द हो गई और उसके लिए दूसरी जाति का अन्न-जल भी हराम हो गया और 'तीन कन्नौजिये तेरह चूल्हे' वाली कहावत का तमाशा प्रत्यक्ष देख पड़ने लगा। इस प्रसंग में कतिपय द्विजमन्य जातियों के वर्ण-विषयक दावे पर सप्रमाण आलोचनात्मक विचार किया गया है जिसका अभिप्राय कोई और न होकर केवल इस प्रगति-शील युग में भी वर्ण-व्यवस्था जैसी हानि-कारक तथा

दकियानूसी प्रथा को, जिसने उन जातियों को लिए-दिए समूची हिन्दू जाति को अधःपतन के गहरे गर्त्त में ढकेल दिया है, क़ायम रखने की मूर्खता तथा व्यर्थता दिखानी है, ।जिससे यह प्राचीन जाति अब भी चेत जाए और अपने यहाँ से उसके जीवन-रक्त को अहर्निश चूसने वाले जाति-भेद का भूत सदा के लिए भगाकर अपना उद्धार और सुधार करती हुई संसार की अन्य उन्नत जातियों की समकक्ष बन जाए। मुझे तो उन कतिपय जातियों की बुद्धि पर तरस आता है जो वर्ण-व्यवस्था के ठेकेदारों द्वारा शूद्र, वर्ण-संकर वा अन्त्यज आदि करार दी जाने पर भी इस कुत्सित प्रथा की कट्टर समर्थक बनी हुई है और 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान' वाली लोकोक्ति को चरितार्थ करती हुई जनेऊ धारणकर द्विज बनने चली हैं। क्या आत्म-गौरव-हीनता इससे भी अधिक हो सकती है ? उन्हें तो भारत को गारत में मिलाने वाली इस पाखंड-पूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध गौतम बुद्ध की तरह, जेहाद को घोषणा कर देनी चाहिए। जाति-भेद की यह विभीषिका इतनी प्रबल है कि धर्मान्तर में चले जाने पर भी वह पिण्ड नहीं छोड़ती। इसाई वा इस्लाम-धर्म में दीक्षित किसी चमार से उसकी मूल जाति पूछने पर वह इस प्रश्न से अपना पल्ला यह कहकर छुड़ाता है कि उसे मालूम नहीं; उसके खान्दान को इसाई वा मुसलमान हुए कई पुश्त बीत गये; अथवा वह किसी तथाकथित ऊँची जाति का नाम बतला देता है ताकि लोग उससे घृणा न करें।

अब ज़रा इस हिन्दू जाति का 'अपने मुँह मियामिट्ठू' बनना देखिए। जिस जाति के मनु, याज्ञवल्क्य प्रभृति समाजशास्त्रीगण शूद्र संज्ञाधारी, पर भारत माता के नाते अपने ही सहोदर भाइयों के विद्या-धनोपार्जन-सम्बन्धी सारे जन्म-सिद्ध अधिकारों को हड़पकर उन्हें सदा मूर्ख और दरिद्र बनाए रखने का कुत्सित प्रयत्न करते रहे, उस जाति का 'जगद्गुरु' होने का दावा करना एक ऐसी निर्लज्जता

है जिसे देखकर स्वयं निर्लज्जता भी लजा जाती है। आज भारत में प्रायः १० करोड़ ऐसे मानव प्राणी हैं जिन्हें हम उच्च-मन्य हिन्दू अछूत कहा करते हैं। इन अभागों के पास हमारे गुरु-दिवाकर की शिक्षा-रश्मि आज तक नहीं पहुँची। ये सर्वदा सूकर-श्वान का जीवन बिताते चले आए। इन अछूतों के अतिरिक्त भारत में कई लाख कोल, भील प्रभृति वनचर हैं जो गिरि-काननों में नग्न-प्राय रहकर पशु-जीवन जी रहे हैं। इनके उद्धारार्थ हमने आज तक कौन-सा उपाय किया जो हम 'जगद्गुरु' बनने चले हैं? वास्तविक 'जगद्गुरु' तो उन विदेशी इसाई मिशनरियों को कहना चाहिए, जो इन अभागों को पढ़ा-लिखा तथा वस्त्र पहनना सिखाकर पशु से आदमी बना रहे हैं। यह देखकर यह कैसे माना जा सकता है कि जो जाति अपने ही सहोदरों को अज्ञान के महाअन्धकूप में रखकर बराबर अपना उल्लू सीधा करती आई, उसने कभी भी विदेशियों को, जिन्हें वह 'म्लेच्छ' कहा करती है, कुछ सिखलाई होगी। कहावत मशहूर है कि 'पहले अपने घर में ही चिराग़ जलाकर मसजिद में चिराग़ जलाया जाता है'। हमारे घर को रौशन करें दूसरे लोग और 'जगद्गुरु' बनने का दावा करें हम! क्या हमारे डूब मरने के लिए पृथ्वी-तल पर चुल्लू भर भी पानी नहीं है?

हिन्दुओं का यह अभिमान भी कि उनकी सभ्यता संसार में प्राचीनतम है, इसी प्रकार बिना नीव की दीवार है जो समालोचना के एक हल्के धक्के से भी चकना-चूर होकर धराशायी हो सकती है। इस भूमण्डल में कितनी ऐसी भी जातियाँ हैं जिनकी सभ्यता हिन्दू-सभ्यता से कम प्राचीन नहीं है। क्या मिश्रवालों के स्फिंक्स और पिरैमिड, बाबूल वालों के आकाश में लटकते हुए बाग़ तथा चीनियों की विशाल दीवार उनकी प्राचीन सभ्यता के स्मारक नहीं हैं? क्या उनके ये कीर्त्ति-स्तम्भ उनके अद्वितीय कला-कौशल के परिचायक

नहीं है ? क्या हिन्दू भी अपनी सभ्यता के इससे भी प्राचीन होने का कोई ठोस प्रमाण दे सकते हैं ? कभी नहीं।

हिन्दू जाति में, जैसा कि अभी पूर्व में कह आया हूँ, आत्म-श्लाघा तथा परनिन्दा की प्रवृत्ति इतनी कूट-कूटकर भरी हुई है कि वह अपने को तो 'आर्य' (श्रेष्ठ), पर विदेशियों को 'म्लेच्छ' कहा करती है। बौद्धायन ने गोमांस-भक्षण तथा सर्वाचार-विहीनता ही म्लेच्छों के मुख्य लक्षण कहे हैं। यदि ऐसी बात है तो क्या हिन्दुओं ने अपने प्राचीन पूर्वजों के भी खान-पान पर कभी कुछ विचार किया है ? क्या उन्हें मालूम है कि उनके पूर्वजों में सभी प्रकार के भक्ष्य पशु-पक्षियों के मांस की तरह ही गोमांस का भी भक्षण तथा मद्य-सेवन, द्विज किम्वा अद्विज, सभी वर्णों में छूटकर प्रचलित थे ? क्या उन्हें मालूम है कि राजाओं तथा श्रोत्रिय ब्राह्मणों का आतिथ्य मधुपर्क में गोमांस अथवा छाग-मांस मिलाकर ही किया जाता था ? क्या वे जानते हैं कि गोमेध यज्ञ में गो-पशु का बधकर और उसके विविध अंगों को काट-काटकर यज्ञ कराने वाले प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, उद्‌गाता आदि विविध पुरोहितों में उनका विभाग किया जाता था, जिसका प्रमाण गो-पथ-ब्राह्मण के 'अथातः सवनीयस्य पशोर्विभागं व्याख्यास्यामः' (३।१८) आदि वचन हैं ? क्या वे जानते हैं कि राजा रन्तिदेव जैसे महाधर्मिष्ट कहे जाने वाले राजा की पाकशाला में अतिथि-सेवा के लिए प्रतिदिन दो सहस्र गौएँ कटती थीं ? यदि नहीं, तो वे अपनी श्रुति-स्मृतियों तथा महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के पन्ने उलटें और अपने हृदय पर हाथ रखकर अपनी आत्मा से निष्पक्ष होकर पूछें कि उनके पूर्वज आर्य थे वा म्लेच्छ ? यह बात दूसरी है कि आधुनिक हिन्दुओं ने गोपशु की उपयोगिता तथा भारत की जलवायु में उसका मांस-भक्षण हानिकारक समझकर उसका

सर्वथा परित्याग कर दिया है; पर उनके मद्य-मांसादि अन्य खान-पान ज्यों के त्यों हैं।

प्राचीन हिन्दुओं की वर्बरता गोमेध तक ही सीमित न थी; बल्कि वह नर-मेध तक जा पहुँची थी, जिसमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नर-बलि हुआ करती थी। इसका प्रमाण ऋग्वेद के शुनःशेफ वाला सूक्त (१।२४) है; जिसमें हरिश्चन्द्र जैसे अद्वितीय धर्मात्मा कहे जाने वाले राजा ने वरुण देव को प्रसन्न करने के लिए अपने पुत्र के बदले में ऋषि अजीगर्त्त के पुत्र शुनःशेफ को खरीद-कर उसे बलि चढ़ा देने की आयोजना की थी कि वह बेचारा किसी प्रकार अपनी जान बचाकर भागा और विश्वामित्र की शरण में चला गया।

इस प्रसंग में अश्वमेध नामक यज्ञ पर भी कुछ विचार करना अनुचित न होगा। जिस साम्राज्यवाद को आज निःशेष सभ्य जगत् एक स्वर से कोस रहा है उसको अश्वमेध यज्ञ द्वारा अपने पशु-बल से क़ायम रखना वा ऐसे भी स्वर्ग-प्राप्ति के लिए उस यज्ञ का अनुष्ठान करना प्रत्येक क्षत्रिय-नरेश का जन्म-सिद्ध अधिकार तथा एक अति ही धार्मिक कृत्य समझा जाता था। इस यज्ञ में मुख्य राज-महिषी अपने हाथ से यज्ञीय अश्व (घोड़े) का वध करती थी और यज्ञ-सम्पादनार्थ नियुक्त विविध पुरोधा-गण उस घोड़े के सभी अंगों-प्रत्यंगों को काट-काटकर हवन-कुण्ड में उनकी आहुति देते थे। इसके अनेक स्पष्ट तथा अखंडनीय प्रमाण हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

पर इधर कुछ काल से एक ऐसे दल का प्रादुर्भाव हो गया है जो गोमेध, अश्वमेध नरमेध आदि शब्दों तथा तत्सम्बन्धी विवरणों का अर्थ बदलकर प्राचीन हिन्दुओं की पूर्वोक्ति काली

करतूतों पर पर्दा डालने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। व्यर्थ इसलिए कहा कि उसके नवीन अर्थों का समर्थन, उनके अप्रासंगिक तथा कपोल-कल्पित होने के कारण, अधिकारी एवं निष्पक्ष विद्वानों के द्वारा नहीं होता और जहाँ उसकी अर्थ बदलने वाली युक्ति फेल करती है वहाँ वह वाममार्गियों की प्रक्षेप-लीला कहकर स्पष्ट प्रमाणों को भी अमान्य कह देने में तनिक भी नहीं हिचकता। जैसे जब राजा दशरथ और युधिष्ठिर के अश्वमेध में वास्तविक अश्व-पशु का बध किया जाना एवं रामचन्द्र और जानकी जैसे आदर्श नर-नारियों का मद्य-मांस-सेवन प्रमाणित करने के लिए उसके सामने वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत पेश किए गए तो वह झट उक्त ग्रन्थों के सम्बन्धित अंशों को यह कहकर प्रमाण मानने से इन्कार कर गया कि वे तो वाम-मार्गियों के प्रक्षिप्त अंश हैं तथा उन्होंने हमारे सभी पवित्र ग्रन्थों में अपने मतलब के प्रक्षेप भरकर उन्हें दूषित कर दिये हैं; अतः उन्हें प्रमाण-कोटि में कभी नहीं रखना चाहिए। यदि ऐसी बात है तो वे वाम-मार्गी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् अवश्य होंगे तथा सभी प्रमाण्य-ग्रन्थ उन्हीं के घर चले गए होंगे; कारण कि यदि दूसरे लोगों के पास वैसा एक भी ग्रन्थ रहता तो उसका शुद्ध तथा प्रक्षेप-रहित संस्करण हमें आज अवश्य उपलब्ध होता। ऐसे शुद्ध ग्रन्थ के अभाव से हम इसी परिणाम पर हठात् पहुँचते हैं कि एक समय था जब कि श्रुति-स्मृतियों से लेकर साधारण तंत्र ग्रन्थों तक हमारे सभी धर्म किम्वा अधर्म ग्रन्थों के अधिकारी वाम-मार्गी थे; उनकी संख्या कम न थी; और वे कोई विदेशी 'म्लेच्छ' न होकर हमारे ही पूर्वजों में से थे, जिससे उनके काले कारनामे हमें अपने ही पूर्वजों के काले कारनामे मानने पड़ेंगे। यदि वाम-मार्गी-संज्ञा-धारी हमारे इन पूर्वजों की आचार-भ्रष्टता देखनी हो तो रुद्र-यामल आदि तंत्र ग्रन्थ पढ़िए।

चाहे किसी भी पहलू से इस विषय पर विचार किया जाए, हिन्दुओं की आर्यमन्यता निराधार सिद्ध होती है। इस दल की कठ-दलीलों का मुँहतोड़ उत्तर पुस्तक में ही पढ़िए जहाँ इसका सुविस्तृत खंडन किया गया है।

अच्छा अब प्राचीन काल को छोड़कर अर्वाचीन काल में आइए और हिन्दू जाति की सभ्यता (?) की वानगी लीजिए। अभी कल तक हम अपनी अनाथ विधवाओं को, उनका धन निगल जाने के लिए, उनके मृतक पतियों के धधकते हुये चितानल में जबर्दस्ती झोंक देते थे; अपने दुधमुहें बच्चों को नक्र झषादि कराल जल-जन्तुओं के जबड़ों में गङ्गा सागर ले जाकर किसी मूर्खतापूर्ण मनौती की पूर्ति में फेंक आते थे; अपनी सद्योजात कन्याओं को भविष्य में केवल साला-ससुर कहलाने की लाज से प्रशूतिका-गृह में ही, उनका गला घोंटकर वा किसी अन्य क्रूर उपाय से मार डालते थे; काशी करवट, हरिबोल, चरक पूजा आदि अनेक बर्बरता-पूर्ण प्रथाओं को धर्म के नाम पर चलाकर हम अपने न मालूम कितने अभागे स्वदेश भाइयों की जान के साथ उनका माल भी लूट लिया करते थे। पर कृतज्ञतावश हमें धन्यवाद देना चाहिए इस ब्रिटिश सरकार को जिसने कानून के द्वारा उक्त पैशाचिक कृत्यों को बन्द किया नहीं तो न मालूम हम अब तक अधोगति के किस निम्नतम स्तर पर जा गिरे रहते। लानत है हमारी सभ्यमन्यता पर जिसका सुधार एक विदेशी सरकार करे !

पर हमारी जैसी एक गिरी जाति भी स्वराज्य प्राप्ति के लिए आकाश-पाताल के कुलावे एक कर रही है। मैं मानता हूँ कि स्वतंत्रता मनुष्य-मात्र का जन्म-सिद्ध अधिकार है। पर इस जाति ने क्या कभी भी इस बात पर विचार करने का कुछ भी कष्ट उठाया है कि इसे दासता के दुश्छेद्य शिकंजे में किसने जकड़ा तथा उससे नजात पाने का कौनसा ठीक उपाय है ? कभी नहीं। उसे जान लेना

चाहिए कि उसे दास बनाने वाले कोई दूसरे नहीं; बल्कि तथा-कथित प्रभु की वाणी (?) वेद भगवान् हैं, जिन्होंने 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' आदि जैसे राष्ट्रीयता-ध्वंसक मंत्रों का प्रचारकर इन्दू जाति में वर्ण-व्यवस्था जैसे फूट का वह बीज बो दिया जिससे वह सदा के लिए निकम्मी हो गई। वर्ण-भेद तथा उसका अवश्यम्भावी परिणाम जाति भेद ने हिन्दू जाति का कमर इस प्रकार तोड़ दिया कि वह विदेशियों का संगठित-रूप से मुकाबला न कर सकी और पहले ही मुठ-भेड़ में अंटाचित्त हो गई। जिस कारण से हम दूसरों के गुलाम बने, उसके रहते हुए हम कभी भी स्वतंत्र नहीं हो सकते। जब तक कारण विद्यमान है तब तक कार्य का विद्यमान रहना अनिवार्य है। अतः यदि हमें अपनी दासता दूर करनी हो तो स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न के पूर्व अपनी दासता का कारण वर्ण-व्यवस्था को मार भगाना होगा। रोग के कीटाणुओं के रहते निरोग शरीर की आशा करना वन्ध्या-पुत्र, अथवा शशक-शृङ्ग, अथवा आकाश-पुष्प की आशा की तरह बिल्कुल फ़जूल है।

अब यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न उठता है। वह यह है कि जाति-भेद के रहते हुए भी विदेशियों के आने के पूर्व भारत स्वतंत्र कैसे था ? इस प्रश्न का उत्तर उस प्रश्न में ही मिल जाता है कि, चूँकि विदेशी भारत में नहीं आये थे, इसीलिए वह स्वतंत्र था। उनके आते ही वह गुलाम बन गया। गुलामी की मशीन सभी पुर्जों के साथ पहले से ही बनाकर रखी हुई थी; केवल उसे चला देना था। वा स्पष्ट भाषा में यों समझिये कि भारत की तथा-कथित स्वतंत्रता एक भ्रम-मात्र थी; वह असली स्वतंत्रता न होकर उसका केवल आभास-मात्र था, जो वस्तुतः प्रकृति की देन थी। चारों ओर पर्वत-समुद्रादि प्राकृतिक दुर्गों से घिरे रहने के कारण भारत विदेशियों के लिए अगम्य था। पर ज्यों ही वे मार्ग ढूँढ़कर यहाँ आ पहुँचे, त्यों ही

हमारी नकली स्वतंत्रता का पोल खुल गया और हम दास बन गये। वर्ण-व्यवस्था ने ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों को, अथवा यों कहिये कि हिन्दू जनता के कम से कम तीन-चौथाई हिस्से को सैनिक-शिक्षा से बिल्कुल कोरा रखा। केवल क्षत्रियों से, जिनमें भी परस्पर नीचोच्च का भाव बने रहने के कारण संगठन का अभाव था, इस देश की रक्षा न हो सकी और विदेशियों के पहले ही धक्के में उन्हें मुँह की खानी पड़ी। अतः जब तक वर्ण-व्यवस्था के प्रवर्त्तक हमारे सभी तथा-कथित धर्म-ग्रन्थों को बाँधकर उन्हें किसी अजायब-घर की आलमारियों में सदा के लिए नहीं रख दिया जाता; जब तक ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्यादि जाति-नामों से परिचय देना क़ानून से दण्डनीय नहीं करार दिया जाता; तथा जब तक हम अपने गिरे हुए भाइयों में शिक्षा का प्रकाश फैलाकर एवं उनकी दयनीय आर्थिक स्थिति सुधारकर उन्हें योग्य नागरिक नहीं बना देते, तब तक स्वतंत्रता देवी के दिव्य-दर्शन हमें नसीब नहीं होंगे।

अन्त में मैं अपने पाठकों की सेवा में यह नम्र-निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मैंने इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है उसे मैंने अपने मन से गढ़कर नहीं लिखा है; बल्कि उसकी प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रमाण्य ग्रन्थों से प्रमाण भी उद्धृत कर दिये और उनके पते भी बता दिये हैं। जो चाहें वे उन्हें मूल ग्रन्थों को लेकर स्वयं भी देख सकते हैं। अतः पाठकगण इस पुस्तक को शान्त-चित्त तथा निष्पक्ष होकर पढ़ने तथा मनन करने की कृपा करें। इति किमधिकं बुद्धिमद्वर्येषु।

बक्सर (शाहाबाद)
विजया दशमी, संवत् २००१
(बुधवार)
तारीख २७-६-१६४४ (ई० सन्)

विनीत
श्री रजनीकान्त शास्त्री
ग्रन्थकार

विस्तृत विषयानुक्रमणिका

हिन्दू जाति का उत्थान और पतन

—::❀::—

अथ प्रथम परिच्छेद

'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति

पहला मत—हिन्दू जाति के उत्थान और पतन पर कुछ लिखने के पूर्व इस विषय पर एक विवेचनापूर्ण प्रकाश डालना परमावश्यक जान पड़ता है कि भारत के किस जन-समुदाय की संज्ञा हिन्दू है तथा हिन्दू शब्द का निकास किस भाषा से हुआ है; कारण कि ये दोनों बातें, इस शब्द के किसी भी प्राचीन संस्कृत व असंस्कृत (जैसे पाली, प्राकृत आदि) भारतीय ग्रन्थ में नहीं मिलने के कारण विवादग्रस्त हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि हिन्द शब्द जो विदेशियों और विशेषतः पारसवालों के द्वारा इस देश का नाम रखा गया है, सिन्धु शब्द से, जो पंजाब की एक नदी का नाम है, निकला है; फिर इसी हिन्द शब्द से हिन्दू और हिन्दी इन दोनों शब्दों का निकास हुआ है। हिन्द शब्द से पारसवालों का अभिप्राय सिन्धु नदी के पारवर्त्ती देश से, हिन्दू शब्द से हिन्द के निवासियों से और हिन्दी शब्द से हिन्द वासियों की भाषा से वा हिन्द-सम्बन्धी से था। पारस निवासी, जहाँ हम 'स' बोलते हैं, वहाँ प्रायः 'ह' का उच्चारण करते हैं; जैसे—सप्त (हफ़्त), असुर (अहुर), सरस्वती (हरह्वती), सप्त सिन्धु (हफ़्त हिन्दू) इत्यादि। इस तर्क शैली का अनुसरण करते

हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सिन्धु से हिन्द हुआ और हिन्द से हिन्दू और हिन्दी ये दो शब्द उत्पन्न हुए। और चूँकि अपने प्राचीन ग्रन्थों में, देश में एकता-विरोधी वर्णाश्रम धर्म्म का प्रचार रहने के कारण अपना कोई जातीय नाम (national name) न था, हम भारतवासियों ने अपनी जाति के लिए हिन्दू तथा अपनी भाषा के लिए हिन्दी नाम अपना लिया।

दूसरा मत—यह तो हुआ हिन्दू शब्द की उत्पत्ति-विषयक एक मत। दूसरा मत यह है कि कुछ पारसवालों ने हमें सिन्धु से हिन्दू नहीं बनाया; बल्कि हमीं अपने को शुद्ध संस्कृत में सिन्धु कहते-कहते प्राकृत भाषा में हिन्दू कहने लगे; क्योंकि संस्कृत का 'स' प्राकृत में 'ह' हो जाता है। पर यह बिल्कुल ग़लत है। संस्कृत का 'स' प्राकृत में 'ह' कभी भी नहीं होता। वह ज्यों का त्यों बना रहता है; जैसे—सर्पः (सप्पो), सप्तम् (सत्तं), सूत्रेण (सूत्तेण), सत्यम् (सच्चं), समीपे (समीवे), सुखम् (सुहं) इत्यादि। वररुचि, हेमचन्द्र, चण्डादि प्राकृत भाषा के व्याकरण-कार हैं। उनके अनुसार केवल 'ख, घ, थ, ध' और 'भ' के ही स्थान में 'ह' होता है; 'स' अथवा किसी अन्य अक्षर के स्थान में नहीं। सूत्र यह है—'ख घ थ ध भां हः', यथा—मुखम् (मुँह), मेखला (मेहला), मेघः (मेहो), जघनः (जहणो), गाथा (गाहा), शपथः (सवहो), राधा (राहा), वधिरः (वहिरो), सभा (सहा), रासभः (रासहो) इत्यादि। अतः यह कहना कि संस्कृत का सिन्धु शब्द बिगड़ कर प्राकृत में हिन्दू बन गया, प्राकृत भाषा के व्याकरण से अपना पूरा कोरापन प्रकट करता है। यथार्थ बात तो यह है कि जिस प्रकार प्राचीन यूनानी (Greeks) सिन्धु नदी को Indus (इंडस्), सिन्धु के पारवर्त्ती देश को India (इंडिया) और वहाँ के रहने वालों को Indians (इंडियन्स) कहते थे और हमने भी इन नामों

को उनके संसर्ग में आकर अपना लिया था और आज भी हम यूरोपियनों के साथ बातचीत करते हुए अपना परिचय Indian कह कर ही देते हैं; ठीक उसी प्रकार हमने पारसवालों के हिन्द, हिन्दू और हिन्दी शब्दों को उनके साथ प्राचीन काल में अपनी घनिष्ठता के कारण अपना लिया था और तब से आज तक अपने सम्बन्ध में उनका प्रयोग बराबर करते चले आए। हिन्दू शब्द को अपनाने का एक और भी कारण मालूम पड़ता है कि भारतवर्ष में आर्य्य, अनार्य्य, द्रविड़ आदि कई प्रकार की जातियाँ रहती थीं और उनको एकता के सूत्र में बाँधनेवाला हमारे साहित्य में कोई समान (common) जातीय नाम न था।

तीसरा मत—कुछ लोगों का तीसरा मत भी है कि फ़ारसी (न कि पारसी) भाषा में हिन्दू शब्द का अर्थ काला, चोर, ठग, डाकू, गुलाम आदि है और मुसलमानों ने घृणा-वश हमारा यह नाम रख दिया और अपने पक्ष की पुष्टि में इस मत के माननेवाले ग़यासुल्लोग़ात का निम्नलिखित उद्धरण पेश करते हैं—

"हिन्दू दर महाविरे फ़ारसियां बमानी दुज़्द व रहजान मी आयद।"। अर्थ—फ़ारसी भाषा के मुहाविरे में हिन्दू शब्द चोर और डाकू के अर्थ में आता है। आज से कोई ५५० वर्ष हुए कि हाफ़िज़ शीराज़ी नाम के एक प्रसिद्ध कवि फ़ारस में हो गए हैं। उन्होंने अपने निम्नोद्धृत शेर में हिन्दू शब्द को काला अर्थ में प्रयुक्त किया है—

"अगर आँ तुर्क शीराज़ी बदस्त आरद दिले मारा।
बखाले हिन्दुवश बखशम समरकन्दो बुखारारा॥"

अर्थ—अगर शीराज़ का रहनेवाला मेरा माशूक़ मेरे दिल को अपने हाथों में कर ले तो मैं उसके काले तिल पर समरकन्द और बुखारा के बादशाहत भी न्यौछावर कर दूँ।

उच्चारण-सादृश्य के कारण एक से दीखनेवाले शब्दों का भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ रखना कोई असम्भव तथा आश्चर्यजनक वस्तु नहीं है पर इससे यह कभी न मान लेना चाहिये कि इन एक से दीखने वाले शब्दों में वस्तुतः कोई मौलिक एकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित शब्दों पर दृष्टिपात कीजिए।

देव (संस्कृत)=देवता; देव (फ़ारसी)=दानव, दैत्य आदि। ये दोनों अर्थ पूर्णतः एक दूसरे के उल्टे हैं। दस्त (फ़ारसी)=हाथ; दस्त (हिन्दुस्तानी)=मल, पाखाना। मार (संस्कृत)=कामदेव; मार (फ़ारसी)=साँप। राम (संस्कृत)=हिन्दुओं के भगवान् रामचन्द्र; राम (फ़ारसी)=ताबेदार गुलाम। कुली (संस्कृत) उत्तम कुल का; कुली (तुर्की)=मज़दूर। साम (संस्कृत)=नीति-विशेष, एक वेद का नाम; साम (अरबी)=विषैला इत्यादि। खोजने पर और भी कितने ऐसे शब्द मिलेंगे जो भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि फ़ारसी भाषा के हिन्दू शब्द के साथ, जिसके अर्थ काला, चोर डाकू आदि हैं, हमारे जातीय नाम हिन्दू शब्द का कुछ भी मौलिक सम्बन्ध नहीं है। दोनों में उच्चारण-सादृश्य चाहे भले ही हो; पर हैं वे एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र तथा मूलतः भिन्न।

यह दिखा कर कि फ़ारसी भाषा के हिन्दू शब्द के साथ हमारे जातीय नाम हिन्दू शब्द की कुछ भी छुआ-छूत नहीं है, अब यह दिखाना है कि हमारा यह जातीय नाम मुसल्मानों का रखा हुआ कभी भी नहीं है। इस्लाम-धर्म्म के प्रवर्त्तक हज़रत मुहम्मद साहब ने ईसा की सातवीं शताब्दी में अपने इस नवीन धर्म्म का प्रचार किया था, जिससे सिद्ध है कि मुसल्मानों का प्रादुर्भाव-काल आज इस बीसवीं शताब्दी में केवल १३०० वर्षों के ही निकट है। इन १३०० वर्षों के पहले मुसल्मानों का भूमंडल में कहीं भी अस्तित्व न था।

अतः यदि हमारा हिन्दू नाम मुसल्मानों का घृणा-वश दिया हुआ होता और हम उनके अत्याचारों के कारण इसे ग्रहण किए होते तो उनके प्रादुर्भाव से हज़ारों वर्ष पहले की लिखी हुई पारसियों की शातीर नामक धर्म्म-पुस्तक में हमारे देश को हिन्द और हमें हिन्दी कह कर कैसे पुकारा गया होता ? उक्त शातीर नामक ग्रन्थ में लिखा है :—

"अकनूं बिरहमने व्यास नाम अज़ हिन्द आमद वस दाना कि अकल चुना नस्त।" अर्थ—व्यास नामक एक ब्राह्मण हिन्द (भारत) से आया, जिसके बराबर कोई दूसरा अक्लमन्द न था। अवश्य ही ये व्यास महाभारत तथा अट्ठारह पुराणों के रचयिता महर्षि कृष्णद्वै-पायन वेदव्यास ही होंगे; क्योंकि तभी तो उनकी बुद्धिमत्ता को अद्वितीय कहा गया है। इसी पुस्तक शातीर में आगे चल कर हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द वाले के अर्थ में हुआ है—

"चूं व्यास हिन्दी बलख आमद, गश्ताशप ज़रदश्त राव ख्वान्द।"। अर्थ—जब हिन्दवाला व्यास बलख में आया तो ईरान के बादशाह गश्तासप ने ज़रदश्त को बुलाया। यह ज़रदश्त वा ज़रथुश्त पारसी धर्म्म का प्रवर्त्तक था। संभव है कि गश्तासप ने इसे व्यास के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये बुलाया हो। शातीर में आगे लिखा है—"मन मरदे अम हिन्द निजाद" अर्थात् मैं हिन्द में पैदा हुआ एक पुरुष हूँ। पुनश्च—"व हिन्द वाज गश्त" अर्थात् फिर वह हिन्द को लौट गया।

शातीर के उक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि हिन्द, हिन्दी आदि शब्द मुसल्मानों की उत्पत्ति से हज़ारों वर्ष पूर्व ही इस देश तथा इसके निवासियों के लिए पारस में प्रचलित थे; अतः ये शब्द मुसल्मानों के गढ़े हुए नहीं हैं।

हिन्दू शब्द हिन्द (भारत) के मुसल्मानों के लिए भी प्रयुक्त हुआ

है। मौलाना रूम अपनी मसनवी में लिखते हैं—"चार हिन्दू दर इके मसजिद शुदन्द, बहिरे ता अत एके ओ मसजिद शुदन्द"। अर्थ—चार हिन्दू एक मसजिद में गए और इतायत के लिए सिजदा करने लगे। यहाँ पर यह शंका होती है कि हिन्दू मसजिद में क्यों गए? इस पर मसनवी के टीका-कार मौलवी बहरुल्ला साहब ने स्पष्ट लिखा है कि यहाँ हिन्दू से मतलब हिन्द के मुसल्मानों से है।

एक और भी कारण है जिससे हम इस मत को कदापि नहीं मान सकते कि हमारा यह हिन्दू नाम मुसल्मानों ने रखा है और हमने उनके अत्याचारों के कारण इसे मान लिया है। भारत में मुस्लिम-राज्य की नीव डालनेवाला शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी था। पर अभी मुसल्मानों के अत्याचार तो दूर थे; उनके पैर भी अभी तक भारत-भूमि पर नहीं जमने पाए थे; स्वयं गोरी भी पृथ्वीराज की मार से कराह रहा था, तभी पृथ्वीराज के दरबार का सुप्रसिद्ध कवि चंदवरदाई तथा उसके पिता वेनने अपनी-अपनी कविताओं में इस जाति को हिन्दु और इस देश को हिन्दव-अस्थान (हिन्दुस्तान) कह कर पुकारा है; वेनने पृथ्वीराज के पिता को, जो अजमेर का राजा था, सम्बोधन करके लिखा है—

अटल ठाट महिपाट, अटल तारागढ़ थानं।
अटल नग्र अजमेर, अटल हिन्दव अस्थानं॥

चन्दवरदाई ने भी अपने काव्य 'पृथ्वीराज रासो' में हिन्दू, हिन्दवान और हिन्द शब्दों का वारबार प्रयोग किया है—

(क) किए सलाम तिनवार जाहु अपने सुथानह।
मति हिन्दू पर साहि सज्जि आवौ स्वस्थानह॥
(ख) आज भाग चहुआन चमू, आज भाग हिन्द वान।
इन जीवित दिल्लीश्वर, गंज न सक्कै आन॥
(ग) निर्लज्ज म्लेच्छ लाबै नहीं, सम हिन्दू लजवान।

अतः यह कब मानने की बात है अपने देश तथा अपनी जाति की आन पर मर मिटनेवाली राजपूत जैसी वीर और शानदार जाति के आश्रित कविगण तथा इस विशाल देश की विपुल जनता ने उन मुसल्मानों के घृणा-वश दिए हुए हिन्दू नाम को, जिनके साथ हिन्दुओं की कट्टर शत्रुता चल रही थी और जिनका देश में अभी कुछ भी प्रभाव न था, बिना चीं-चपड़ किए ही कबूल कर लिया ? तत्कालीन महात्मा समर्थदास जी ने भी एक कविता में अपनी भविष्यवाणी कहते हुए हिन्दतां और हिन्दुस्थान शब्दों का प्रयोग किया है—

(क) स्वप्नीं जे देखिलें रात्रीं, तें नें तौ सेंचि होत से ।
हिन्दतां फिरतां गेलों, आनन्द वन भूवनीं ॥
(ख) वडाले सर्व ही पापी, हिन्दुस्थान बला वलें ।
अभक्तां च त्यी भाला, आनन्द वन भूवनीं ॥

शिवाजी मुसल्मानों के और विशेष कर मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब के जानी दुश्मन थे। पर उनके आश्रित भूषण कवि ने भी अपने स्वामी का यशोगान करते हुए अपनी कविता में हिन्दुवानी, हिन्दुवान आदि शब्दों का व्यवहार किया है—

"राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान के तिलक राख्यो,
स्मृति पुराण राख्यो वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजनकी,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुण गुनी मैं।
भूषण सुकवि जीति हद्द मरहठ्ठन की,
देस देस कीरति बखानि तब सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिके दिवाल राखी दुनी मैं।

सुजानसिंह, जो बुन्देलखंड का एक शक्तिशाली राजा हो गया है, अपने मित्र छत्रसाल से कहता है—

पातसाह लागे करन, हिन्दु धर्म कौ नासु।
सुधिकरि चंपतराय की, लई बुन्देला साँस ॥

अतः इन सब सुदृढ़ प्रमाणों से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि हमारा यह हिन्दू नाम मुसल्मानों का रक्खा हुआ नहीं है ? बल्कि उनकी उत्पत्ति से हज़ारों वर्ष पूर्व से ही यह व्यवहृत होता चला आ रहा है। यदि यह नाम मुसल्मानों का दिया हुआ रहता, तो जिस समय उनके साथ हमारा कट्टर विरोध चल रहा था और उनका हमारे देश में न कुछ अभी अत्याचार था और न कुछ प्रभाव ही था, उस समय हम अपना परिचय चोर, डाकू आदि जैसे घृणित अर्थ रखने वाले हिन्दू शब्द से देकर अपने दुश्मनों की बात शिरोधार्य्य कभी नहीं करते।

'हिन्दू' शब्द की संस्कृत व्युत्पत्ति—ये तो हुए सिन्धु शब्द के पारसी (न कि फ़ारसी) अपभ्रंश हिन्दू शब्द के विदेशी होने के प्रमाण। पर कितने ऐसे भी स्वजात्याभिमानी पर दुराग्रही हिन्दू विद्वान् हैं जिन्हें इस शब्द का विदेशी होना असह्य है। वे संस्कृत व्याकरण के सूत्रों की खाल खींच कर इसे शुद्ध संस्कृत शब्द का बाना पहनाने का प्रयत्न करते हैं और अपने मत की पुष्टि में रामकोष, शब्द कल्पद्रुम, अद्‌भुत कोष, मेदिनी कोष आदि कोषग्रन्थों तथा मेरुतंत्र, पारिजात हरण नाटक, कालिका पुराण, शार्ङ्गधरपद्धति आदि अन्य ग्रन्थों की दुहाई देते हैं। अब इन विद्वानों की की हुई हिन्दू शब्द की विविध व्युत्पत्तियों तथा अर्थों का अवलोकन कीजिये—

(१) हीनं (वर्णाश्रम धर्म्म रहितं) दूषयतीति हिन्दुः पृषोदरादित्वात् साधुः। जाति-विशेषः। जो वर्णाश्रमधर्म्महीन मनुष्यों को दोषयुक्त बतावे वह हिन्दू है। यह शब्द पृषोदरादिगण में सिद्ध होता है और जाति-विशेष का नाम है। पृषोदरादिगण आकृतिगण माना गया है।

(२) हिंसां दवयतीति हिन्दुः अर्थात् जो हिंसा को दूर करे वह हिन्दू है।

(३) हिंसन्ति धर्म्मानिति हिंसाः तान् दुनोतिद्यतीति हिन्दुः संयोगन्तलोपे सिद्धिः। अर्थ—जो धर्म्मों की हिंसा करें वे हिंस हैं। और जो इन (हिंसों) को दुःख दे वा खंड खंड कर दे वह हिन्दू है।

(४) हिडि (गत्यनादरयोः)। इस धातु से औणादिक ऊ प्रत्य होकर पृषोदरादित्वात् डकार का दकार और "इदितोनुम्" इस सूत्र से नुमागम होने पर भी हिन्दू शब्द सिद्ध होता है।

(५) हिनस्ति दुष्टानिति हिन्दुः अर्थात् जो दुष्टों का हनन करे वह हिन्दू है।

नोट—संस्कृत के सूत्रों द्वारा एक वचन में ह्रस्व उकारान्त हिन्दुः और दीर्घ ऊकारान्त हिन्दूः ये दोनों शब्द सिद्ध होते हैं।

यह सब कुछ तो ठीक है। अष्टाध्यायी जैसे कामधेनु के बल पर हम अंगरेज़ी, फ़ारसी, अरबी आदि के शब्दों को भी शुद्ध संस्कृत रूप देकर आकाश और पाताल का कुलावा एक कर सकते हैं। कहावत भी प्रसिद्ध है—उणादि से प्रत्यय आये डालिक, डीआ, डोलना; मा धातु से सिद्ध किया मालिक, मीआ मोलना। पर यह केवल बातों का बनाना है। इससे केवल हमारी बुद्धि की कुशाग्रता तथा हमारे संस्कृत व्याकरण की कामधेनुता सिद्ध होती हैं। इसके सिवा और कुछ नहीं! जिन-जिन संस्कृत ग्रंथों में हिन्दू शब्द आया हो उन्हें अनार्ष तथा आधुनिक समझना चाहिये। यदि यह शब्द संस्कृत रहता तो वेदों में न सही, पर कम से कम स्मृतियों, पुराणों, एवं रामायण तथा महाभारतादि आर्ष ग्रन्थों तथा प्राचीन कोषों में अवश्य पाया जाता। और तो और; हमारा प्राचीन कोष-ग्रन्थ अमर कोष भी इस हिन्दू शब्द से पूर्णतः अनभिज्ञ है।

हिन्दू संज्ञा किसकी है—अब यहाँ पर यह विचार करना है

कि आजकल इस राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता के युग में हिन्दू शब्द से किस जन-समुदाय का ग्रहण किया जाए; कारण कि वर्त्तमान काल में इस देश में क्रिस्तान, मुसल्मान, पारसी, बौद्ध आदि अनेक जातियों और धर्म्मों के लोग रहते हैं। अतः आधुनिक विद्वानों ने समयानुकूल इस विषय में निम्नलिखित व्यवस्था दी है—

आसिन्धु सिन्धुपर्य्यन्ता, यस्य भारत भूमिका।
पितृभूर्धर्म्मभूश्चैव, सवैं हिन्दुरितिस्मृतः॥

अर्थ—सिन्धु नदी से लेकर सिन्धु पर्य्यन्त यह भारत भूमि जिनके पूर्वजों और धर्म्म की भूमि अर्थात् उत्पत्ति-स्थान हैं उन्हीं को हिन्दू कहना चाहिये। कोई कोई 'धर्म्मभूः' की जगह 'पुण्य भूः' पाठ पढ़ते हैं, जिसका अर्थ है जो भारत को अपनी पवित्र भूमि मानते हैं वे ही हिन्दू हैं। दोनों पाठों का एक ही अभिप्राय है।

हिन्दू शब्द की उक्त परिभाषा के अनुसार हिन्दू कहलाने के लिए दो शर्तों को पूरा करना चाहिये—(१) भारतवर्ष को अपने पूर्वजों की मातृभूमि मानना और (२) किसी भी भारतीय धर्म्म का अनुयायी होना। इस दृष्टि से भारत में बसने वाले सभी इसाई, मुसल्मान और पारसी चाहे वे भारतीय हों या अभारतीय, छुँट गये; कारण कि भारत को वे अपनी धर्म्म-भूमि वा पुण्य-भूमि नहीं मानते; और सनातनी हिन्दुओं के साथ-साथ आर्य्य-समाजी, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि विविध साम्प्रदायिक, एवं द्रविड़, संथाल, कोल, भील, गोंड़ प्रभृति सभी आदि वासी जातियाँ भी, हिन्दू* शब्द के दायरे के अन्दर आ गईं, क्योंकि ये उक्त दोनों शर्तों को पूरा करती हैं।

*पर प्रसंग आने पर, जहाँ किसी अन्य जाति वा सम्प्रदाय की विवक्षा न हो, वहाँ हिन्दू शब्द से केवल ब्राह्मण धर्म्म के अनुयायियों का ग्रहण करना चाहिये।

अथ द्वितीय परिच्छेद

हिन्दू जाति की उत्पत्ति

आर्य्य और अनार्य्य—पूर्वोक्त हिन्दू जाति का उत्थान और पतन इस ग्रंथ का विषय है। पर इसके पहले हमें यह जान लेना ज़रूरी है कि वर्त्तमान हिन्दू जाति की उत्पत्ति कैसे हुई, और इस जाति का भारत के प्राचीन आर्य्यों तथा अनार्य्यों के साथ कौन सा सम्बन्ध है। भारतीय आर्य्य भारत में कहीं बाहर से आए, या वे यहीं के रहने वाले थे, इसका विवेचन इस पुस्तक का ध्येय नहीं है; पर बहुमत उनके बाहर से आने के ही पक्ष में है और इतना तो निर्विवाद है कि आर्य्य किसी शीतप्रधान देश के रहने वाले थे जिससे उनका लम्बा क़द, गौरवर्ण, नाक की हड्डी पतली और ऊँची तथा आँखें और केश भूरे रंग के थे। इसके विपरीत भारत जैसे उष्णप्रधान देश में चिरकाल से रहने के कारण अनार्य्यों का रंग श्याम, क़द छोटा, नाक की हड्डी कुछ चौड़ी और नीची तथा आँखें और केश काले हुआ करते थे। इन दोनों जातियों में एक और भी भेद था! आर्य्यों की खोपड़ी लम्बी और अनार्य्यों की गोल होती थी। पर इतना आकृतिक भेद होने के कारण ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि ये दोनों जातियाँ सदा एक दूसरे से पृथक् रहीं। हमें अपने धर्म्म-ग्रन्थों तथा इतिहास से पता चलता है कि पहले वैदिक काल में इन दोनों जातियों के बीच घोर संघर्ष चला;—पर धीरे-धीरे दोनों का मनोमालिन्य दूर होता गया और वे एक दूसरे के समीप आती गईं; यहाँ तक कि दोनों में वैध किंवा अवैध सभी प्रकार से यौन-सम्बन्ध

भी जारी हो गये जो अब तक जारी हैं। इसका फल यह हुआ कि कुछ जंगली तथा असभ्य कहलाने वाली जातियों को छोड़ कर, ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्य्यन्त सभी जातियों का रक्त मिश्रित हो गया और इनमें कोई भी जाति ऐसी नहीं रह गई जो अभिमान के साथ ताल ठोक कर इस बात का दावा कर सके कि वह प्राचीन आर्य्य जाति की शुद्ध सन्तान है। जिन्हें अपनी जाति की शुद्धता तथा उच्चता का अभिमान हो वे कृपा कर वज्रसूच्युपनिषद् के निम्नलिखित जातिमान-मर्द्दन उद्धरण की ओर अपनी आँखें फेरें। जिज्ञासु शिष्य अपने गुरु ऋषि से पूछता है—'किं जात्या ब्राह्मणः ?' क्या जाति से ब्राह्मण होता है ? इस पर ऋषिवर ने हमारे पूज्य वशिष्ठादि ऋषिपुङ्गवों की जाति की पोल खोलते हुए जो उत्तर दिया है वह देखने और मनन करने योग्य है :—

रक्त-सम्मिश्रण

(क) ब्राह्मण

"जाति ब्रह्मण इति चेत् तर्हि अन्य जातौ समुद्भवा बहवो महर्षयः सन्ति। ऋष्य शृंगो मृग्यां जातः कौशिकः कुशस्तंवात् गौतमः, शशपृष्ठे वाल्मीकिः वल्मीक्यां व्यासः कैवर्त्त कन्यायां पराशर-श्चाण्डालीगर्भोत्पन्नः वशिष्ठो वेश्यायां विश्वामित्रः क्षत्रियायां अगस्त्यः कलशाज्जातः मांडव्यो मांडुकि गर्भोत्पन्नः मातंगो मातंगीपुत्रः अनुचरो हस्तिनी गर्भोत्पन्नः भरद्वाजः शूद्रीगर्भोत्पन्नः नारदो दासीपुत्रः इति श्रूयते पुराणे। तेषां जातिं विनापि सम्यग् ज्ञानविशेषाद् ब्राह्मणत्वं स्वीक्रियते; तस्माज्जात्या ब्राह्मणो न भवत्येव।"

अर्थ—यदि जाति से ब्राह्मण होता है तो बहुत से महर्षि दूसरी दूसरी जातियों में उत्पन्न हुए हैं। ऋष्यशृंग जिन्होंने राजा दशरथ से पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था हरिणी से, कौशिक कुश के गुच्छे से, गौतम शशक की पीठ से, वाल्मीकि दीमकों की मिट्टी की ढेर से, व्यास

केवट (मल्लाह) की कन्या से, पराशर चांडाली से, वशिष्ठ वेश्या से, विश्वामित्र क्षत्रिया से, अगस्त्य घड़े से, मांडव्य मांडूकी से, मातंग मातंगी से, अनुचर हथिनी से, भरद्वाज शूद्री से, तथा नारद दासी से, उत्पन्न हुए हैं। ऐसा पुराणों में सुना जाता है। इन महर्षियों का ब्राह्मणत्व, जाति के बिना भी, उत्तम ज्ञानविशेष के कारण अच्छी तरह स्वीकृत हो गया है। अतः जाति से ब्राह्मण नहीं होता।

वज्रसूची का उक्त अंश केवल वशिष्ठादि ऋषियों की जाति सिद्ध करने के उद्देश्य से ही उद्धृत किया गया है; नाकि इस बात को निर्णय करने के लिये कि वर्ण जन्मानुसार मानना चाहिए या कर्म्मानुसार। यह विषय ही दूसरा है।

उक्त उद्धरण में हरिणी, हस्तिनी आदि शब्दों से तन्नामधारिणी अनार्य्य तथा असभ्य जाति की स्त्रियाँ अभिप्रेत हैं, न कि उक्त नाम-धारी पशुविशेष; क्योंकि पशुओं से मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती। आजकल भी ऐसी जाति की स्त्रियों में पशु-पक्षी की तरह बिलैया, सुगिया, कबूतरी आदि नाम पाए जाते हैं। और शशक-पृष्ठ और कुशस्तव आदि शब्दों से यह अनुमान करना चाहिए कि इनसे उत्पन्न कहे जाने वाले ऋषियों के माता-पिता ने इन्हें जन्माकर अपना कुकर्म्म छिपाने के लिए इन्हें किसी जंगल में शशक के माँद में या कुश की झाड़ी में फेंक दिया था। तथा घड़े से तो आज भी बच्चे उत्पन्न होते हैं। हम प्रायः सुना करते हैं कि अमुक स्त्री ने अवैध बच्चा जन्माकर अपना पाप-कर्म्म छिपाने के लिए उसे हाँड़ी या घड़े में बन्द कर अमुक रेलवे लाइन के पास वा अमुक तालाब वा नदी के किनारे फेंक दिया था और बाद में उस पर मुक़दमा चला और वह सज़ा पा गई। उक्त ऋषियों के उत्पत्ति की विषय में यही समझ लेना चाहिए। यह कभी न मानना चाहिए कि किसी प्राणी की उत्पत्ति प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हो सकती है।

जब ऐसे-ऐसे महर्षियों का ही यह हाल है तो अपने को ऋषि सन्तान कहने और मानने वाले हिन्दुओं की कौन सी गति होगी! उक्त ऋषियों में वशिष्ठ, पराशर, विश्वामित्र, कौशिक, भरद्वाज, गौतम आदिकों के नाम विशेष महत्त्व रखते हैं, कारण कि ये ऋषिगण बड़े-बड़े ब्राह्मण-वंशों के प्रवर्त्तक थे और इनके नाम के गोत्र ब्राह्मणों में अभी तक प्रचलित हैं जो आज भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं तथा गर्गादि अन्य गोत्रीय ब्राह्मण भी इनसे खान-पान विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करने में अपना परम गौरव समझते हैं।

जितने ब्राह्मण-गोत्र-प्रवर्त्तक महर्षि हो गए हैं उनमें महर्षि वशिष्ठ एक विशेष स्थान रखते हैं। ये सूर्यवंशीय क्षत्रिय नरेशों के परमपूज्य कुलगुरु थे जिनके पुनीत चरण-रज को शिरोधार्य कर स्वयं श्रीरामचन्द्र जी भी अपने को परम भाग्यवान् और पुण्यवान् मानते थे। इन महर्षि वशिष्ठ का अब गोत्रोच्चार सुनिए। जैसा कि ऊपर कह आए हैं, वशिष्ठ स्वयं वेश्या-पुत्र थे। इन्होंने अक्षमाला नामक एक नीच जाति की स्त्री को अपनी अर्द्धाङ्गिनी बना लिया। मनुस्मृति बतलाती है—

अक्षमाला वशिष्ठेन संयुक्ताधम योनिजा।
सारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥ मनु० ९।२३॥

अर्थ—नीच जाति में उत्पन्न अक्षमाला ने वशिष्ठ के साथ तथा सारङ्गी ने मन्दपाल के साथ संयुक्त हो जाने से पूज्यता प्राप्त कर ली। सम्भवतः यही अक्षमाला बाद में अरुन्धती नाम से प्रख्यात हुई; क्योंकि महर्षि वशिष्ठ की दो स्त्रियों का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इसी अक्षमाला के गर्भ से वशिष्ठ के पुत्र शक्ति हुए। ऋषि शक्ति ने किसी श्वपाकी (कुत्ते का मांस राँधकर भक्षण करने वाली चांडाली) के गर्भ से महर्षि पराशर को पैदा किया। फिर इन्हीं पराशर जी ने धीवर (केवट) कन्या सत्यवती से वेदों के विभाग

करने वाले जगद्विख्यात महर्षि व्यास जी को उत्पन्न कर अपना जीवन सार्थक किया। महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों पर ध्यान दीजिए और वज्रसूची के पूर्वोक्त उद्धरण से इनका अर्थैक्य देखिए—

(क) गणिकगर्भसंभूतो वशिष्ठश्च महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम् ॥

(ख) जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्यास्तु पराशर :।
वहवोऽन्येऽपि विप्रत्वं प्रासाये पूर्वमद्विजाः ॥

अर्थ—(क) महामुनि वशिष्ठ वेष्या के गर्भ से उत्पन्न हुए थे; पर वे तपस्या के कारण ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए। वहाँ पर संस्कार ही कारण था। (ख) व्यास कैवर्त्ती (केवट-कन्या) से और पराशर चांडाली से उत्पन्न हुए थे। इनकी तरह बहुत से दूसरे भी, जो पहले अब्राह्मण थे, अपने शुभ कर्म्मों के द्वारा ही ब्राह्मणत्व को पा गए।

व्यासदेव आबाल ब्रह्मचारी थे। इन्होंने किसी स्त्री का शास्त्रोक्त-रीति से कभी पाणिग्रहण नहीं किया। पर इन्होंने भी कुसुमायुध काम-देव के फेर में पड़कर शुकी नाम की किसी अनार्य्य जाति की स्त्री से राजा परीक्षित को सप्ताह भागवत सुनाने वाले ब्रह्मज्ञानी जगद्वन्द्य श्री शुकदेव जी को जन्म देकर अपने पुत्र का अभाव पूरा किया। और अधिक क्या लिखें! पाठकगण इतने से ही समझ लें कि इस जगत्प्रसिद्ध वशिष्ठ-वंश में किन-किन रक्तों का संमिश्रण हुआ है।

कोई-कोई यह कठदलील करते हैं कि नीच जाति में उत्पन्न वशिष्ठ आदि ऋषियों ने अपने उग्र तपोबल के प्रभाव से अपने शरीर से ब्राह्मणेतर जातियों के रक्ताणुओं को निकाल कर उनके स्थान पर ब्राह्मण जाति के रक्ताणुओं को उपत्न कर लिया था, जिससे वे जाति से भी शुद्ध ब्राह्मण हो गए थे। यहाँ दो बातों पर विचार करना नितांत आवश्यक है—पहली बात तो यह है कि ऐसे लोगों का तप करने का अधिकार ही क्या था जिसके बल पर इन लोगों ने तप

किया ? तप करने के कारण इन्हें तत्कालीन राजा के द्वारा वही दंड मिलना चाहिए था जो राजा रामचन्द्र के हाथ से शम्बूक शूद्र को मिला था। दूसरी बात यह है कि यदि किसी प्रकार ये दण्ड से बच गए, तो इसका प्रमाण कहाँ है कि तपोबल से इनके रक्ताणुओं में परिवर्त्तन हो गया था। महर्षि व्यास जन्म के काले थे और उनके शरीर से दुर्गन्ध निकला करती थी। उनसे बढ़कर कठोर तपस्वी कोई दूसरा न था, न है और न होगा। पर उनकी सारी कठोर तपस्याएँ उनके काले रंग तथा उनकी दुर्गन्ध को दूर कर उनके स्थान पर ब्राह्मणोचित गौरवपूर्ण और सुगन्धित शरीर कर देने में कारगर न हो सकी। महाभारत, आदिपर्व पढ़िए। सत्यवती भीष्म से कहती है—

यो व्यस्य वेदांश्चतुर-स्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्व मापेदे काष्र्ण्यात् कृष्णत्व मेवच ॥१०५।१४॥

अर्थ—वे भगवान् ऋषि तप के प्रभाव से चारों वेदों का व्यास अर्थात् विभाग करके व्यास नाम से, और काले होने से कृष्ण नाम से भी प्रसिद्ध हुए हैं। पुनश्च स्वयं व्यास सत्यवती से कहते हैं—

यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः।
विरूपतां मे सहतां तयो रेतत् परंव्रतम् ॥१०५।४१॥
यदि मे सहते गन्धं रूपं वेशं तथा वपुः।
अद्यैव गर्भं कौशल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥१०५।४२॥

अर्थ—सत्यवती ने व्यास को अपनी विधवा पुत्रवधू अम्बिका और अम्बालिका में नियोग-रीति से पुत्रोत्पादन के लिए बुलाया था। व्यास ने कहा कि दोनों विधवाएँ एक वर्ष तक व्रत करें तो वे पवित्र होंगी। पर सत्यवती चाहती थी कि उन्हें पुत्र शीघ्र उत्पन्न हो, उस पर व्यास ने कहा—यदि विलम्ब न करके अकाल में ही भाई विचित्र-वीर्य के लिये मुझे पुत्र देना है, तो रानियाँ मेरे कुत्सित रूप को सहें; यही उनका परम व्रत होगा। यदि कौशल्या (अम्बिका) मेरी गंध,

रूप, वेश और शरीर को सह सके, तो आज ही वह गर्भ धारण कर ले। फिर आगे चलकर लिखा है—

ऋतु काले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मैन्ययोजयत्।
सातु रूपंच गन्धंच महर्षेः प्रविचिन्त्य तम् ॥ १०६।२३॥
नाकरोद्वचनं देव्या भयात्सुरसुतोपमा।
ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम् ॥ १०६।२४॥
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता।
सातं ऋषि मनु प्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्यच ॥ १०६।२५॥
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह।
कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ॥ १०६।२६॥

अर्थ—फिर सत्यवती ने व्यास को ऋतुस्नाता बड़ी बहू (अम्बिका) के लिये दुबारा नियुक्त किया। परन्तु उसने महर्षि के शरीर की दुर्गन्ध और कुरूपता का स्मरण कर भय से देवी (सत्यवती) का कहना नहीं माना और देव कन्या के समान उस काशिराज पुत्री ने अप्सरा-समान एक दासी को अपने भूषणों से अलंकृत कर कृष्ण द्वैपायन के पास भेज दिया। ऋषि के आने पर दासी ने उठकर उनको नमस्कार किया और उनकी आज्ञा पाकर शयनागार में एक साथ प्रवेश किया। दासी ने ऋषि का आदर-सत्कार किया और वे उस दासी के साथ एकान्त में कामोपभोग करके प्रसन्न हुए।

क्या इन प्रमाणों से यह नहीं सिद्ध होता कि व्यास काले-कलूटे और एक दम कुरूप थे और उनके शरीर से दुर्गन्ध निकला करती थी। इन दोषों को दूर करने में उनकी सारी तपस्या विफल सिद्ध हुई ? तब यह कहना कि यह वशिष्ठादि ऋषि अपनी उग्र तपस्या के प्रभाव से अपने शरीर के कलुषित रक्ताणुओं को निकाल कर जाति से भी शुद्ध ब्राह्मण बन गए थे, केवल भोली भाली तथा अशिक्षित जनता की आँखों में धूल झोंकना नहीं है तो क्या है ?

यह तो हुआ उन ब्राह्मणों का हाल जो नीच जाति में उत्पन्न वशिष्ठादि गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषियों के वंशधर हैं। अब उन ब्राह्मणों की कथा सुनिए जो पितृपक्ष के तथा कथित ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रियादि अन्य जातियों की माताओं में उत्पन्न हुए हैं। जमदग्नि की स्त्री रेणुका, च्यवन की स्त्री सुकन्या और ऋष्यशृंग की स्त्री शान्ता क्षत्रिय राजकन्याएँ थीं। पुराणों में ऐसे ऐसे कितने उदाहरण पड़े हैं (जिनका उल्लेख आगे होगा), जिनसे यह पता चलेगा कि ब्राह्मणों ने क्षत्रिय जाति की कन्याओं का पाणिग्रहण किया था। और तो और स्वयं शिव और पार्वती का विवाह भी ऐसे ही ब्राह्मण-क्षत्रियों के अन्तर्जातीय विवाह का एक ज्वलन्त नमूना था। महाकवि कालिदासकृत कुमारसंभव महाकाव्य, सप्तमसर्ग, श्लोक ७वाँ और उस पर मल्लीनाथ की टीका पढ़ें—

सा गौरसिद्धार्थ निवेशवद्भि र्दूर्वा-प्रवालैः प्रतिभिन्न शोभम्।
निर्नाभिकौशेयमुपात्तवाण-मभ्यङ्गनेपथ्यमलंचकार ॥

अर्थ—उस गिरिनन्दिनी उमा ने, जिसने (अपने बाएँ हाथ के ऊपर) श्वैद सरसों के दानों से युक्त दूब के अंकुरों को धारण किया था, और जो नाभि के ऊपर रेशमी साड़ी पहने थी और (अपने दाहने हाथ में) बाण लिये थी, न केवल स्वयं ही अलंकृत हुई बल्कि अपने आभूषणों को भी, जिन्हें वह अपने अंगों में पहने हुई थी, अलंकृत कर दिया।

मल्लीनाथ जी 'उपात्तवाणम्' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"उपात्तवाणं ग्रहीतशरम्। 'शरः क्षत्रियया ग्राह्यः' इति मनुस्मरणात्"; अर्थात् मनुस्मृति में लिखा है कि वर्ण में अपने से ऊँचे वर के साथ विवाह होने में क्षत्रिया वाण को पकड़े। मनुस्मृति का पूरा श्लोक यह है—

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्य कन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ मनु ३। ४४ ॥

अर्थ—अपने से ऊँचे वर्ण वाले वर के साथ विवाह होने में क्षत्रिय-कन्या बाण को, वैश्य कन्या चाबुक को और शूद्र कन्या कपड़े की बत्ती को पकड़े।

इससे सिद्ध है कि शिव को ब्राह्मण और पार्वती को क्षत्रिया माना गया है; क्योंकि तभी तो पार्व्वती को बाण पकड़ना पड़ा था।

यह तो हुआ उन ब्राह्मणों का हाल जो अति ही प्राचीन काल से वशिष्ठ आदि गोत्र-प्रवर्तक ऋषियों की सन्तान माने जाते हैं और जिन्हें हम खास ब्राह्मण (Brahmins Proper) कह सकते हैं। पर कुछ ऐसी भी जातियों के लोग हो गये हैं जो मूलतः ब्राह्मण न होते हुए भी उक्त ब्राह्मण जाति में घुल-मिल गए हैं। पाठकों ने सवालाखे ब्राह्मणों का नाम सुना होगा। माधोगढ़ के राम नामक राजा ने जिन अनेक जातियों के सवालाख-संख्यक लोगों को जनेऊ पहना कर अपने यज्ञ में ब्राह्मणों के साथ भोजन करा दिया, वे ही सवालाखे ब्राह्मण कहलाए, ये कन्नौजियों की एक शाखा हैं और इनका शरीर संबन्ध कन्नौजियों के साथ होता है। ये लोग द्रव्य खर्च करके सरयूपारीयों के यहाँ भी विवाह सम्बन्ध करने लगे हैं। इसी जाति के दूसरे लोग कहीं गंगापुत्र, कहीं गयावाल कहे जाते हैं। प्रयागवाल भी इन्हीं के उपभेद हैं, जिन्हें इस जाति का विशेष विवरण देखना हो वे कृपा कर "ब्राह्मण-निर्णय" ग्रन्थ का पृष्ठ ५३४ पढ़ें।

सवालाखे ब्राह्मण

भोजपुर (शाहाबाद-बिहार) में एक कहावत* प्रसिद्ध है कि

*पूरी कहावत यह है—'अगर बेलौटी रामासाँढ़ ये सब तो हर गहैं अपार' अर्थात् अगसौली, बेलौटी और रामासाँढ़, यहाँ के ब्राह्मण खूब हल पकड़ते हैं (चलाते हैं)।

"अगर, बेलौंटी, रामासाँढ़", अर्थात् अगरौली (बलिया यू० पी०) बेलौटी (शाहाबाद-बिहार) और रामासाँढ़ (शाहाबाद-बिहार) नामक गाँवों में कुछ ऐसे भी ब्राह्मण बसते हैं जिनका निकास अहीरों से हुआ माना जाता है। "ब्राह्मणोत्पत्ति मार्त्तण्ड" नामक वृहद्ग्रन्थ में कुछ ऐसे भी ब्राह्मणों की उत्पत्ति लिखी है जो मूलतः भील थे (ब्राह्मणोत्पत्ति मार्त्तण्ड पृ० ३४७ देखिए)। ये लोग अभिल्ल व आभीर ब्राह्मण कहलाते हैं।

ब्राह्मण जाति के विषय में और कुछ न लिखकर केवल यही लिखकर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ कि पूर्व्वोक्त नाना विधि अखंडनीय प्रमाणों के रहते हुए भी जिनकी यह धारणा है कि निःशेष ब्राह्मण जाति आर्य्यवंशीय है अथवा कम से कम उनकी नसों में जो मूलतः आर्य्यवंशीय थे, आर्य्य रक्त की धारा अक्षुण्ण, अप्रतिहत तथा स्वच्छ रूप से बिना किसी बाहरी मिलावट के अद्यावधि प्रवाहित हो रही हैं, उनके विषय में केवल इतना ही कह देना पर्य्याप्त है कि वे संस्कृत साहित्य तथा हिन्दू-समाज का यथार्थ ज्ञान न रखकर एक भीषण भ्रान्ति के अति अथाह अन्धकूप में जा गिरे हैं।

(ख) क्षत्रिय
प्राचीन क्षत्रिय

ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का नम्बर आता है। क्षत्रिय जाति में जितना रक्त संमिश्रण हुआ है उतना किसी अन्य जाति में शायद ही हुआ है। क्षत्रियों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्राचीन (Ancient or Classical) क्षत्रिय और (२) आधुनिक (Modern) क्षत्रिय जिन्हें हम 'राजपूत' कहते हैं। पहले प्राचीन क्षत्रियों का विवरण लिखकर बाद में मैं राजपूतों का विवरण लिखूँगा। प्राचीन काल में चन्द्रवंश और सूर्यवंश ये दो विख्यात क्षत्रिय कुल हो गए हैं।

इन दोनों में चन्द्रवंश ही अधिक प्रतापी तथा तेजस्वी हुआ है। अतः उसका वर्णन पहले किया जाएगा। इस वंश के प्रवर्त्तक चन्द्र थे। यह ब्रह्मर्षि अत्रि के पुत्र होने के कारण जाति के ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के साथ जबर्दस्ती कुकर्म कर बुध नामक पुत्र को उत्पन्न किया। अब बुध का कौन-सा वर्ण हुआ, यह पाठक ही बतलावें। बुध ने इला के गर्भ में, जो सूर्यवंशीय राजकुमारी थी, पुरूरवा को पैदा किया। इस पुरूरवाकी उर्व्वशी अप्सरा (देव जाति की एक वेश्या) से प्रेम हो गया, जिसके गर्भ से अयु आदि कई पुत्रों ने जन्म लिया। अयु के पौत्र राजा ययाति हुए जिनकी दो रानियाँ थी—देवयानी (ब्राह्मणी) और शर्म्मिष्ठा (दानवी)। देवयानी के गर्भ से यदु हुए जिन्हें शास्त्र की दृष्टि से प्रति-लोमज सन्तान कहना चाहिए। उन्हीं यदु के कुल रत्न श्रीकृष्ण और बलराम हुए, जिन्हें सनातनी हिन्दू ईश्वरावतार मानते हैं। श्रीकृष्ण जी की आठ पटरानियों में से एक ऋक्ष (अनार्य कन्या) जाम्बवती थी। श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध का विवाह असुर-कन्या ऊषा से हुआ। यह तो हुआ देवयानी के पुत्र यदु के वंश का संक्षिप्त वर्णन। अब शर्म्मिष्ठा से उत्पन्न पुरु-वंश का वर्णन सुनिए। राजा ययाति की शर्मिष्ठा नामक दूसरी रानी के गर्भ से पुरु उत्पन्न हुए जिनके वंशधर राजा शान्तनु हुए। राजा शान्तनु की दो स्त्रियाँ थी—गंगा और सत्यवती। गंगा के गर्भ से देवव्रत हुए, जिन्हें भीष्म भी कहते हैं; और सत्यवती के गर्भ से चित्रांगद और विचित्रवीर्य्य, ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। पाठकों को यहाँ जान लेना चाहिए कि यह सत्यवती वही केवट कन्यारत्न थी, जिसने अपने कौमारावस्था में ही महर्षि पराशर के साथ प्रसंग कर व्यास जी की जन्म-दात्री बनने का सौभाग्य प्राप्त किया था और तत्पश्चात् राजा शान्तनु ने उसके रूप लावण्य पर

(१) चन्द्र वंश

मुग्ध होकर उसे अपने रनिवास में लाकर रख लिया। इस जन्म-विवरण से स्पष्ट है कि भीष्म, व्यास, चित्रांगद और विचित्रवीर्य, ये चारों चाहे मातृ-पक्ष से हों या पितृ-पक्ष से, परस्पर भाई हुए और अपने-अपने जन्म के पौर्वापर्य्यानुसार भीष्म और व्यास दोनों ही चित्रांगद और विचित्रवीर्य्य से जेठे हुए। चित्रांगद गन्धर्व-राज के साथ लड़ते-लड़ते युद्ध में मारा गया। विचित्रवीर्य्य की अम्बिका और अम्बालिका, ये दो रानियाँ थी जो काशिराज की पुत्रियाँ थीं। विचित्रवीर्य्य युवावस्था में ही निःसन्तान काल-कवलित हुआ जिससे सत्यवती को कुरुवंश के उच्छेद का महाभय हुआ। उसने भीष्म को बुलाकर कहा कि तुम विचित्रवीर्य्य की विधवा रानियों को अपनी स्त्रियाँ बनाकर वंशवृद्धि करो; नहीं तो कुरु-वंश का अंत उपस्थित है। महाभारत आदि पर्व—

इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते, काशिराजसुते शुभे।
रूपयौवनसम्पन्ने, पुत्रकामे च भारत ॥ १०३ । ६ ॥
तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्म्मं कर्तुमिहार्हसि ॥ १३०। १० ॥
राज्ये चैवाभिषिच्यस्व, भारताननुशाधि च।
दारांश्च कुरु धर्म्मेण, मा निमज्जीः पिता महान् ॥१०३। ११ ॥

अर्थ—सत्यवती भीष्म से कहती है कि हे भारत! तुम्हारे भाई की ये रानियाँ, जो सब लक्षणों से युक्त और रूप यौवन संपन्न काशिराज की कन्याएँ हैं, पुत्र की कामना करती हैं। हे महाबाहु! हमारे वंश की वृद्धि के लिये मेरे कहने से इनसे पुत्र उत्पन्न करके धर्म्म की रक्षा करो। धर्म्मपूर्वक उन्हें अपनी स्त्रियाँ बनाकर अपना राज्याभिषेक करो और भारतराज्य पर शासन करो। अपने पितरों को न डुबाओ। भाव यह कि यदि तुम पुत्रोत्पादन नहीं करते हो, तो तुम्हारे पितर लुप्तपिण्डोदक होकर असद्गति को प्राप्त हो जाएँगे।

पाठकगण ! अब कुछ यहाँ पर विचार कीजिये । एक माता अपने बड़े पुत्र को अपने छोटे पुत्र की विधवाओं के साथ विवाह कर उनसे पुत्र उत्पन्न करने को कह रही है और दोनों ही इस कुत्सित कर्म्म को धर्म्म-सम्मत मान रहे हैं। आजकल, सवर्ण कही जाने वाली जातियाँ तो दूर रहें; चमार और भंगी भी अपने छोटे भाई की विधवा के साथ विवाह करने के लिये कहे जाने पर पाप-भय से काँप उठेंगे। वर्त्तमान काल में दोनों में स्पर्श तक का भी परहेज़ किया जाता है। पर महाभारत-काल में यह घृणित प्रथा क्षत्रियों में प्रचलित मालूम पड़ती है और इसे वे लोग धर्म्मानुकूल मानते थे।

पर भीष्म सत्यवती के पिता के सन्मुख पुत्रोत्पादन नहीं करने की प्रतिज्ञा कर लेने के कारण इस कार्य्य के लिये असमर्थ थे। अतः दोनों ने परस्पर सलाह कर व्यास को बुलाया। व्यास ने नियोग-रीति से अम्बिका में धृतराष्ट्र को और अम्बालिका में पाण्डु को उत्पन्न किया। धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे; अतः पाण्डु उमर में छोटे होने पर भी राजगद्दी पर बैठे। पाण्डु की दो रानियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। पाण्डु मृग-रूपधारी ऋषि के शाप के कारण अपनी रानियों के साथ प्रसंग कर उनमें पुत्रोत्पादन करने से डरते थे। अतः उन्होंने अपनी रानियों को नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने को कहा। यहाँ कुछ कुन्ती का हाल सुनिए। कुन्ती की कौमारावस्था में ही सूर्य देव ने उसके साथ प्रसंग कर उसमें कर्ण को उत्पन्न किया था और सत्यवती की तरह यह भी उस युग के आचारादर्श (Moral Standard) के अनुसार कुमारी की कुमारी ही बनी रही। तत्पश्चात् कुन्ती का विवाह पाण्डु से हुआ। पाण्डु की आज्ञा से कुन्ती ने धर्म्मराज को बुलाकर युधिष्ठिर को, वायु को बुलाकर भीम को और इन्द्र को बुलाकर अर्जुन-को नियोग-द्वारा उत्पन्न किया। इसी प्रकार माद्री ने अश्विनी कुमारों को बुलाकर नकुल और सहदेव को पैदा किया। कितने ही मन्दबुद्धि

भोली-भाली हिन्दू जनता को बहकाने के लिये यह कहा करते हैं कि व्यासादिकों ने अम्बिका आदि नियुक्ता स्त्रियों के साथ कुछ साधारण मनुष्यों की तरह प्रसंग कर नहीं, बल्कि केवल अपने आशीर्वाद से ही उन्हें पुत्र-प्रदान किया था, जो सरासर झूठ है। मैं आगे चलकर नियोग-विषय पर लिखते हुए यह निर्विवाद-रूप से सिद्ध कर दूँगा कि इन स्त्रियों के साथ प्रसंग किया गया था। चन्द्रवंशीय क्षत्रियों के विषय में इतना ही लिखना पर्य्याप्त है। इतने मे ही पाठकों को भली भाँति मालूम हो गया होगा कि इनमें कितने प्रकार के रक्तों का घोर संमिश्रण हुआ है।

(२) सूर्य वंश

अब सूर्य-वंश का हाल सुनिए। यद्यपि यह वंश चन्द्रवंश की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध है; तिस पर भी इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि यह वंश रक्तसंमिश्रण दोष से बिल्कुल बचा रहा। इस वंश के प्रवर्त्तक विवस्वान् थे जिन्हें सूर्य भी कहते हैं। सूर्य के पुत्र श्राद्धदेव मनु हुए जिनके पुत्र दिष्ट के कुल में एक राजा तृणविन्दु हुए। तृणविन्दु को अलम्वुषा नामक एक देव जाति की वेश्या से प्रेम हो गया जिसके गर्भ से उन्हें विशाल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी विशाल ने वैशाली नामक जगत्प्रसिद्ध नगरी बसाई। सभी इतिहासवेत्ताओं को विदित है कि यह वैशाली चिरकाल तक विविध बौद्धकालीन ऐतिहासिक घटनाओं की रङ्गभूमि बनी रही। पाठकों ने दुर्व्वासा-ऋषि के मान मर्दन करने वाले राजा अम्बरीष के विषय में सुना होगा। ये श्राद्धदेव के पुत्र नभग के कुल में हुए थे। अम्बरीष के प्रपौत्र रथीतर हुए, जिनकी स्त्री से अंगिरा ऋषि ने कई पुत्र उत्पन्न किए, जो अन्य वंश वाले क्षत्रियों से श्रेष्ठ माने गए। श्राद्धदेव के सब पुत्रों में इक्ष्वाकु अधिक प्रसिद्ध हो गए हैं। इन्हीं इक्ष्वाकु के कुल में सनातनी हिन्दू विश्वासानुसार ईश्वरावतार रामचन्द्र हुए हैं। इक्ष्वाकु की बीसवीं

पीढ़ी में राजा पुरुकुत्स हुए, जिन्होंने नाग कन्या नर्म्मदा से विवाह कर अपना वंश चलाया। पुनः इसी इक्ष्वाकु कुल की ४८ वीं पीढ़ी में राजा सौदास हुए, जिनकी स्त्री मदयन्ती से महर्षि वशिष्ठ ने अश्मक नामक पुत्र पैदा किया। इसी अश्मक से १२ वीं पीढ़ी में रामचन्द्र हुए। रामचन्द्र के पिता राजा दशरथ की तीन रानियाँ थीं—कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या और कैकेयी तो क्षत्रिय कुमारियाँ थीं; पर मेरे कितने पाठक यह सुनकर चौंक उठेंगे और उनको सहसा विश्वास न होगा कि लक्ष्मण की माता सुमित्रा वर्ण-संकरी थीं और वे दशरथ की विवाहिता स्त्री न होकर केवल उनकी एक उपपत्नी और कौशल्या और कैकेयी की परिचारिका-मात्र थीं। जिन्हें इस विषय में किसी प्रकार की शंका हो वे कृपा कर भट्टि काव्य, प्रथम सर्ग श्लोक १३ तथा उसकी जयमंगला टीका पढ़ें—

निष्ठांगते दत्रिमसभ्यतोषे, विहित्रिमे कर्म्मणि राजपत्न्यः।
प्राशुर्हुतोच्छिष्ट मुदारवंश्या-स्तिस्रः प्रसोतुं चतुरः सुपुत्रान्॥

अर्थ—जब राजा दशरथ का पुत्रेष्ठि यज्ञ विधिपूर्वक समाप्त हुआ और उन्होंने सब लोगों को दान-दक्षिणा देकर सन्तुष्ट किया तो उनकी तीनों स्त्रियों ने, जो उच्चकुल में उत्पन्न हुई थीं, चार सुन्दर पुत्रों को उत्पन्न करने के लिये यज्ञ के बचे हुए चरु का भक्षण किया।

इस श्लोक में 'उदार वंश्याः' शब्द की व्याख्या करते हुए भट्टि-काव्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री जयमङ्गल जी अपनी जयमङ्गला टीका में लिखते हैं।

"उदारवंश्या महावंशोद्भवा। शेषेयत्। कौसल्या कैकेयी च क्षत्रिये। सुमित्रा तु वर्णसंकरजा। किमर्थं प्राशुः। प्रसोतुं सुपुत्रान् विनीतान् प्रसवितुम्। तत्र कौसल्या कैकयी चैकैकं पिण्डं प्राशितवत्यौ।

ताभ्यां चावयोः परिचारिकेति पिण्डभाग द्वयं दत्तं सुमित्रा प्राशितवती ततश्च पुत्रद्वयं जनयिष्यति" ।

अर्थ—उदात्तवंश्या का अर्थ है उच्चकुल में उत्पन्न । यहाँ पर शैषिक यत् प्रत्यय किया गया है । कौशल्या और कैकेई क्षत्रिय कुमारियाँ थीं किन्तु सुमित्रा वर्णसंकरी थी । किसलिये भक्षण किया ? विनीत पुत्र उत्पन्न करने के लिये । वहाँ कौशल्या और कैकेई ने एक-एक पिंड भक्षण किया । उन दोनों ने यह समझ कर कि सुमित्रा हम लोगों की परिचारिका (दासी) है, पिण्ड के दो टुकड़े उसको दिये, जिन्हें वह खा गई । इसलिये वह दो पुत्रों को उत्पन्न करेगी ।

महाकाव्य रघुवंश, दशम सर्ग, श्लोक ५५ पढ़िये—

अर्च्चिता तस्य कौशल्या प्रिया केकयवंशजा ।
अतः संभावितां ताभ्यां सुमित्रामैच्छीश्वरः

अर्थ—कौशल्या राजा दशरथ की पूजिता थी अर्थात् वे उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे और कैकेयी उनकी प्रियतमा थी इसलिये उनकी यह इच्छा हुई ये ही दोनों सुमित्रा को सम्मानित करें । अभिप्राय यह कि राजा दशरथ को साहस न हुआ कि पिंड-विभाग करते समय वे सुमित्रा के लिये भी एक भाग स्वयं कर दें; क्योंकि वह जानते थे कि सुमित्रा उनकी उपपत्नी तथा कौशल्या और कैकेयी की परिचारिका होने के कारण पिंड की अधिकारिणी नहीं है; अतः उन्होंने उस पर कृपा करने का भार उक्त दोनों रानियों पर ही छोड़ा ।

अतः इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि लक्ष्मण की माता सुमित्रा क्षत्रिया न होकर वर्णसंकरी थी, तिसपर भी लक्ष्मण का विवाह क्षत्रिय-श्रेष्ठ मिथिलेश के परिवार में ही हुआ ।

प्राचीन क्षत्रिय जाति पर अब इससे अधिक न लिखकर केवल

इतना ही कहकर इस विषय को समाप्त कर देना चाहता हूँ कि ब्राह्मण महावीर परशुराम ने पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय कर क्षत्रिय जाति का मूलोच्छेद कर दिया था। केवल उनकी विधवाएँ बच गई थीं। इन क्षत्रिय विधवाओं ने ब्राह्मणों के साथ नियोग कर फिर से क्षत्रिय-कुल को उत्पन्न किया था। महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १०४ देखिये—

एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महात्मना।
उत्पादितान्यनपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥५॥
पाणिग्राहस्यतनय इति वेदेषु निश्चितम्।
धर्म्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समभ्ययुः ॥६॥
लोके प्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः।
ततः पुनः समुदितं क्षत्रं समभवत्तदा ॥७॥

अर्थ—उन महात्मा परशुराम के इस प्रकार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर देने पर वेदज्ञाता ब्राह्मणों ने फिर से क्षत्रिय बच्चों को उत्पन्न किया (५) वेदों में यह निश्चित है कि जो मनुष्य पाणिग्रहण करता है उसके क्षेत्र में उत्पन्न हुई सन्तान उसीकी होती है। क्षत्रिय विधवाओं ने इस धर्म को मन में स्थिर कर ब्राह्मणों से संसर्ग किया (६)। लोक में क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई और क्षत्रिय-कुल चल निकला।

प्राचीन क्षत्रियों का विषय समाप्त कर अब राजपूत-संज्ञाधारी आधुनिक क्षत्रियों का हाल देखिये। प्राचीन ग्रन्थों में राजपूत नामक किसी क्षत्रिय जाति का नाम-निशान तक नहीं **आधुनिक क्षत्रिय** है। श्रुति, स्मृति रामायण तथा महाभारत में कहीं **राजपूत** भी इस जाति का पता नहीं है। हाँ, राजपुत्र शब्द अवश्य आया है पर किसी क्षत्रिय जाति विशेष के अर्थ में नहीं; बल्कि 'राजकुमार' के अर्थ में। प्राचीन कोष-कारों

ने भी क्षत्रिय शब्द के विविध पर्य्यायों में राजपुत्र शब्द को सम्मिलित नहीं किया। अमरकोष देखिए—

मूर्द्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजो क्षत्रियो विराट्।
राजा राट् पार्थिवक्ष्मा भृन्नृपभूपमहीक्षितः॥

अर्थ—मूर्द्धाभिषिक्त, राजन्य, बाहुज, क्षत्रिय, विराट्, राजा, राट्, पार्थिव, क्ष्माभृत्, नृप, भूप और महीक्षित्, ये क्षत्रिय शब्द के पर्य्याय हैं। इसमें कहीं भी 'राजपुत्र' शब्द वा तदर्थक कोई अन्य शब्द नहीं आया है।

जाति भास्कर ग्रन्थ के पृष्ठ १९७ में राजपूत जाति की उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से लिखी है। मूलश्लोक तथा उसका हिन्दी अर्थ वहीं से उद्धृत करता हूँ। यह श्लोक ब्रह्मवैवर्त पुराण का है—

"क्षत्रात्करणकन्यायां राजपुत्रो बभूव ह।
राजपुत्र्यान्तु करणादागरीति प्रकीर्त्तितः॥

अर्थ—क्षत्रिय से करण-कन्या में राजपूत हुआ और राजपुत्री में करण से आगरी कहा गया"। स्कंदपुराण, सह्याद्रिखंड, अ० २६ में 'रजपूत' नामक एक जाति की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—

शूद्रायां क्षत्रियादुग्रः क्रूरकर्म्मा प्रजायते।
शस्त्रविद्यासु कुशलः संग्राम कुशलो भवेत्॥
तया वृत्या सजीवेद्यः शूद्र धर्म्मा प्रजायते।
रजपूत इति ख्यातो युद्ध कर्म्म विशारदः॥

अर्थ—क्षत्रिय से शूद्र जाति की स्त्री में रजपूत उत्पन्न होता है। यह भयानक, निर्दय, शस्त्र विद्या और रण में चतुर तथा शूद्र धर्म्म वाला होता है और शस्त्रवृत्ति से अपनी जीविका चलाता है।*

*'रजपूत' और 'राजपूत' दोनों ही राजपुत्र शब्द के अपभ्रंश हैं।

यह तो हुआ पुराणों के अनुसार राजपूत जाति की उत्पत्ति-वर्णन। इसे छोड़ अब हम लोग अपने इतिहास की ओर चलें और देखें कि राजपूतों का निकास कहाँ से हुआ। इसमें कोई भी शक नहीं कि यह राजपूत जाति एक अति ही दुर्दम्य पराक्रमशालिनी तथा वीरप्रसू जाति हो गई है जो अपनी वीरता के कारण सर्वथा क्षत्रिय कहलाने योग्य है। इस जाति ने प्राचीन भारतीय राजवंशों के पतन तथा भारत में मुसल्मानों के उत्थान के मध्यवर्त्ती काल में, जिसे हम राजपूत-काल कहते हैं और जिसका मान लगभग ५०० वर्षों का है, अपने विजय-शंख-नाद से भारतवर्ष को एक छोर से दूसरे छोर तक मुखरित कर दिया था। इसी जाति की पवित्र गोद में दिल्लीश्वर पृथ्वीराज, राना संग्रामसिंह तथा वीरकेशरी राणाप्रताप सिंह पले थे, जिनके लोहे की चोट मुहम्मदगोरी आदि जैसे दुर्दान्त विदेशी आक्रमणकारी भी सहने में असमर्थ थे। भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने इस ऐतिहासिक तथ्य का पूर्णतः पता लगा लिया है कि जिस काल में इस जाति का भारत के राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण हुआ था, उस काल में यह एक नवागन्तुक जाति समझी जाती थी। बंगाल के अद्वितीय विद्वान् स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्र दत्त महोदय अपने Civilization in Ancient India नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखते हैं—

The Rajputs were scarcely reckoned among Aryan Hindus before the eighth century. We find no mention of their name in the literature of the country or in the records of foreign travellers, and no traces of their previous culture.................. Dr. H. H. Wilson has held that they were

the descendants of the Sakas and other invaders who swarmed into India for centuries before the time of Vikrmaditya. (Vol. II, Page 164)

अर्थ—आठवीं शताब्दी के पूर्व राजपूत जाति आर्य हिन्दू नहीं समझी जाती थी। देश के साहित्य तथा विदेशी पर्यटकों के भ्रमण-वृत्तान्तों में उनके नाम का उल्लेख हम लोगों को नहीं मिलता और न उनकी किसी पूर्व संस्कृति के चिह्न देखने ही में आते हैं। डाक्टर एच० एच० विल्सन् ने यह निर्णय किया है कि ये (राजपूत) उन शक आदि विदेशीय आक्रमणकारियों के वंशधर हैं जो विक्रमादित्य से पहले, सदियों तक, भारत में झुंड के झुंड आए थे।

इतिहास-विशारद स्मिथ साहब अपने (a) Early History of India including Alexander's Campaigns, Second Edition, pp. 303 and 304 तथा (b) The Oxford Student's History of India, Eighth Edition, pp. 91 and 92 में लिखते हैं—

(a) The foreigners..........rapidly became Hinduised. Clans or families which succeeded in winning chieftainship were admitted readily into the frame of Hindu policy as Kshatriyas............There is no doubt that the Parihars and many other Rajput clans of the North were developed out of the barbarian hordes which poured into India during the fifth and sixth centuries.............. Further to the South, various indigenous

or aboriginal tribes and clans underwent the same process of Hinduised social promotion, in virtue of which Gonds, Bhars and Kharwars and so forth emerged as Chandels, Rathors and Gaharwars and other well-known Rajput clans, duly equipped with pedigrees reaching back to the sun and moon.

अर्थ—(शक, हूण, गुर्जर आदि) विदेशी जातियाँ शीघ्र ही हिन्दू बन गईं। वे जातियाँ अथवा कुटुम्ब जो शासक-पद को प्राप्त करने में सफल हुए हिन्दुओं की राज्यशासन पद्धति में क्षत्रिय बनकर तुरन्त प्रवेश कर गए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तर के परिहार तथा अनेक अन्य राजपूत जातियों का विकास उन बर्बर विदेशियों से हुआ है, जिनकी बाढ़ पाँचवीं तथा छठी शताब्दियों में भारत में आई थी। आगे दक्षिण की ओर बहुत-सी आदिम अनार्य्य जातियों ने भी हिन्दू बनकर यही सामाजिक उन्नति प्राप्त कर ली, जिसके प्रभाव से सूर्य और चन्द्र के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाली वंशावलियों से सुसज्जित होकर गोंड़, भर, खरवार आदि क्रमशः चन्देल, राठौर, गहरवार तथा अन्य प्रसिद्ध राजपूत जातियाँ बनकर निकल पड़े।

(b) For instance, the famous Bais clan of Oudh is closely connected with and seems to be descended from the Bhars who are now represented by a numerous caste of very low rank.

अर्थ—उदाहरण के लिये अवध की प्रसिद्ध राजपूत जाति बैसों को लीजिए। ये भरों के समीपी सम्बन्धी अथवा इन्हीं की औलाद हैं।

आजकल इन भरों की प्रतिनिधि, अति ही नीची श्रेणी की एक बहुसंख्यक जाति है।

क्षत्रिय जाति का पूर्व्वोक्त विवरण देखने से अब पाठकों को भली भाँति विदित हो गया होगा कि इस जाति की सृष्टि विविध आर्य्य किम्वा अनार्य्य रक्तों के संमिश्रण से हुई है।

जब ब्राह्मण और क्षत्रिय कही जाने वाली जातियों की ही यह दशा है तो बेचारे वैश्य और शूद्र किस खेत की मूली हैं? इन्हें तो

(ग) वैश्य

परम ज्ञानी तथा समदर्शी कहे जाने वाले सनातनी हिन्दुओं के परमात्मा श्रीकृष्ण ने अपनी ज्ञानमयी गीता में 'पाप-योनि' की उपाधि प्रदान-कर सदा के लिए कृतार्थ कर दिया है, चाहे इनका रक्त शुद्ध हो वा अशुद्ध! भगवद्‌गीता, अध्याय ६, श्लोक ३२ पढ़िये—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपिस्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्॥

अर्थ—हे अर्जुन! मेरी शरण में आकर स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी, जिनकी उत्पत्ति पाप से हुई है, परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।

'पापयोनि' शब्द पर शङ्कर-भाष्य पढ़िए—'पापयोनयः पापानि योनिः येषां ते पापयोनयः पापजन्मानः' अर्थात् पाप से जिनका जन्म हुआ है। मिसेज् एनीबेसेंट ने 'पापयोनयः' शब्द का अंगरेज़ी अनुवाद 'of the womb of sin' किया है, जिसका हिन्दी अर्थ है—'पाप के गर्भ के।' आश्चर्य है कि श्रीकृष्ण की दृष्टि में निःशेष वैश्य और शूद्र 'पापयोनि' हैं, पर अर्जुन, जिसकी माता पृथा (कुन्ती) अपनी कौमारा-वस्था में ही कर्ण को उत्पन्नकर अपना सतीत्व खो चुकी थी और स्वयं उसको ही अपने पति पाण्डु से न जन्माकर परपुरुष (इन्द्र) से जन्माया था और जिससे उक्त बात कही गई है, संभवतः 'पापयोनि'

न था ! क्योंकि यदि वे उसे पापयोनि मानते होते तो उसे अपनी बहन सुभद्रा को भगा ले जाने की नेक सलाह कदापि न देते !!

यहाँ पर प्रसंग-प्राप्त वैश्यों और फिर शूद्रों का भी विवरण देना उचित ही है—

ओसवाल—ओसवालों के विषय में, जो अपने को वैश्य मानते हैं विद्वानों की यह सम्मति है कि श्री रत्नप्रभु सूरि ने ओसिया नामक गाँव के, जो राजपुताना प्रान्तस्थ मारवाड़ राज्यान्तर्गत जोधपुर से १६ कोस की दूरी पर है, राजा उपलदे पंवार को उसकी प्रजा समेत जिन-जिन जातियों को, सम्वत् २२२ में, अपने जैन धर्म्म में दीक्षित किया था वे ही काल पाकर ओसवाल कहलाए। मूलतः 'ओसवाल' शब्द जैन धर्म्म के एक सम्प्रदाय का नाम था, जिसमें विविध जातियों के लोग सम्मिलित हुए थे, पर पीछे यह सम्प्रदाय एक पृथक् जाति ही बन गया। इस जाति में कुछ ऐसे कुल-नाम हैं—जैसे छाजिया (छाज अर्थात् सूप बनाने वाले), चुरोलिया (चोरी करने वाले), सोनी (सोने का काम करने वाले यानी सोनार), कूकरा (कुत्ते पालने वाले), सिल (सिल बेचने वाले), सिंगी (सींग की चीजें तैयार करने वाले), तेलिया (तेली), चंडालिया (चांडाल), दास (शूद्र) आदि, जिनसे तत्सम्बन्धित कुलों की मूल जातियों का पता लगता है। यदि उक्त कुल नामों के किए हुए अर्थ ठीक हैं तो समझ में नहीं आता ओसवालों को किस वर्ण में रखा जाए; क्योंकि यह जाति अनेक जातियों के सम्मिश्रण से बनी मालूम होती है। "जातिभास्कर" और 'जातिअन्वेषण' (प्रथम भाग) पढ़िए।

अग्रवाल—अपने को वैश्य मानने वाली एक दूसरी जाति अग्रवाल है। यह जाति अपने को अग्रोहा के किसी अग्रसेन नामक राजा की सन्तान मानती है। इस जाति की आदि माता माधवी, जो अग्रसेन की स्त्री थी, नागजाति की थी। इसी नाते अग्रवाल बनिए

साँपों (नागों) को अभी तक 'मामा' कहते हैं। इससे सिद्ध है कि अग्रवालों में नाग-रक्त मिला हुआ है। महाभारत मीमांसाकार* के मत से ऋग्वेदोक्त 'दस्यु' वा 'दास' ही नाग होंगे। कतिपय विद्वानों ने इनके वैश्यत्व में ही सन्देह किया है। एक प्रतिष्ठित अंगरेज़ विद्वान् ने चमारों को 'अग्रवालों से निकले' लिखा है; अतएव अग्रवालों और चमारों के बीच कोई भ्रातृ-सम्बन्ध है या नहीं, इसका निर्णय होना चाहिए। विवाह के अवसर पर इस जाति में चमार और गधे की पूजा होती है और स्वमातृ गोत्र में भी विवाह हो सकता है जो धर्म्मशास्त्र के नियमों से सर्व्वथा विरुद्ध है। 'जाति-भास्कर' 'जाति-अन्वेषण' (प्रथम भाग) पढ़िए। ये जैनी और सनातनी दोनों होते हैं, जिनमें परस्पर रोटी-बेटी का सम्बन्ध होता है जो भारी विडम्बना है।

खंडेलवाल—इस जाति कानिकास जयपुर राज्यान्तर्गत खंडेला नगर से हुआ है। इसी से इन्हें खंडेलवाल कहते हैं। वहाँ का राजा खंडेलगिरि था जो चौहान राजपूत था। संवत् १ में जिन शैनाचार्य्य ने राजा समेत जिन ८२ कुलों के क्षत्रियों और २ गाँवों के सुनारों को श्रावक धर्म्म में दीक्षित किया था उन्हीं के संमिश्रण से इस जाति की सृष्टि हुई है। इसीलिए इस बिरादरी में कुल मिलाकर ८२+२ =८४ गोत्र हैं। "जाति-भास्कर" पढ़िए।

वियाहुत वंश—यह व्यापार तथा महाजनी करनेवाली एक वैश्य जाति है जो युक्तप्रान्त के बलिया और गोरखपुर तथा बिहार के प्रायः सभी ज़िलों में पाई जाती है। व्यापार करते-करते इस जाति के कितने सदस्य बंगाल तथा आसाम तक फैल गए हैं।

---

*हिन्दी महाभारत मीमांसा (इंडियन प्रेस लिमिटेड), पृ० १५१-१५२ में लिखित नागाजाति-विषयक विवरण पढ़िए।

इस बिरादरी में कितने अच्छे-अच्छे ज़मींदार भी हैं। यह जाति अपने को द्वारका-निवासी बलराम (बलभद्र), श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य प्राचीन यदुवंशीय क्षत्रियों की सन्तान मानती है। इस जाति में विवाह के अवसर पर वर और कन्या दोनों के घर विवाह सम्पन्न होने के पूर्व्व, बलभद्र की पूजा होती है जिसे 'बलभद्र मनावन' कहते हैं। बलभद्र की मृण्मयी प्रतिमा को दाल-भात आदि कच्ची रसोई का भोग लगाया जाता है। यह बलभद्र मनावन उस प्राचीन घटना का स्मारक बतलाया जाता है जब बलराम की इच्छा के विरुद्ध सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ हो जाने के कारण वे रूठ गये थे और श्रीकृष्ण को अनुनय-विनयकर उनका क्रोध शान्त करना पड़ा था। यदुवंश चन्द्रवंश की एक शाखा थी, जिसके विषय में अधिक लिखा जा चुका है। इस जाति में ३६० कुल वा गोत्र हैं जो वान (बान) कहलाते हैं। शायद इतने गोत्र किसी भी वैश्य जाति में नहीं हैं। 'वियाहुत-वंश का इतिहास' पढ़िये।

माहेश्वरी—खंडेला नगर में चौहान जाति का खड्गलसेन नामक राजा राज्य करता था। उसके पुत्र सुजान कुँवर को १४ वर्ष की उमर में किसी जैनी ने अपनी शिक्षा से शंकर मत के विरुद्ध कर दिया। वह ब्राह्मणों के यज्ञ विध्वंस करते और उनके यज्ञोपवीत तोड़ते उत्तर दिशा में सूर्यकुंड पर पहुँचा। वहाँ पराशर, गौतम ऋषियों ने उसके उपद्रवों को न सहकर उसको घोर शाप दिया जिसके फलस्वरूप वह तथा उसके साथी जड़बुद्धि पाषाण हो गये। उनकी स्त्रियों ने शंकर को तपस्या करके प्रसन्न किया। शंकर ने उनका शाप-विमोचन करते हुए उन्हें क्षत्रियत्व से गिराकर वैश्य-पद का अधिकारी बनाया। इस जाति में ७२ खाँपें (कुल) होती हैं जिनके अध्ययन से पता चलता है कि इसका निकास चौहान, सोलंकी, कछवाहा, पँवार, गहलोत, परिहार आदि राजपूत जातियों से हुआ है। पर राजपूतों

के विषय में सब कुछ लिख दिया गया है। जब मूल स्रोत का ही जल गन्दा है तो उससे निकले हुए इस नाले का जल क्यों कर शुद्ध हो सकता है? जो माहेश्वरी खंडेला छोड़कर डीडवाना आ गये वे ही डीडू माहेश्वरी कहलाए। 'जातिभास्कर' पढ़िए।

नोट :—जब मुख्य-मुख्य वैश्य कही जाने वाली जातियों की तो यह दशा है, तो कसवानी, कसौंधन, रौनियार, रस्तोगी, अग्रहरी, उमर, माहुरी, कमलापुरी, जौनपुरी आदि अप्रसिद्ध वणिक् जातियों के पक्ष में कहना ही क्या है!

शूद्रसंज्ञाधारी जनसमुदाय किसी वंश-विशेष अथवा किसी जाति-

(घ) शूद्र

विशेष के सदस्यों का समुदाय न था। अपितु निम्नलिखित अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था को प्राप्त होने पर कोई भी हो, आर्य किम्वा अनार्य, वह दासयोनि (शूद्र जाति) में ढकेल दिया जाता था। मनुस्मृति कहती है—

ध्वजाहृतो भक्त-दासो गृहजः क्रीत-दत्रिमौ।
पैत्रिको दंड-दासश्च सप्तैते दासयोनयः।।मनु ८।४१५।।

अर्थ—(१) युद्ध में कैद किया हुआ, (२) उदरपूर्ति के निमित्त दासत्व स्वीकार करने वाला, (३) घर की दासी का पुत्र, (४) खरीदा हुआ मनुष्य, (५) दान में मिला हुआ, (६) जिसके पिता आदि भी दास हों और (७) राजदंड से बचने के लिये दास बना हुआ, ये सात प्रकार के मनुष्य दास (शूद्र) योनि हैं। यहाँ आर्य्य-अनार्य, द्विज-अद्विज, की कोई पावन्दी नहीं। सर्वसाधारण की चिरबद्धमूल यह धारणा कि विजयी आर्य जिन अनार्यों को युद्ध में पराजितकर बन्दी बनाते उन्हें ही शूद्र संज्ञा प्रदानकर उनसे दास कर्म करवाते थे, बिल्कुल भ्रान्ति-मूलक है; क्योंकि यह कोई ज़रूरी न था कि युद्ध केवल आर्य्यों-अनार्य्यों के

ही बीच हुआ करे; वह तो आर्य्यों में भी परस्पर हुआ करता था, जैसा कि ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र से मालूम होता है—

या नो दास आर्य्यों वा पुरुष्टुताऽदेव इन्द्र युधिये चिकेतति।
अस्मा भिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान् वनुयाम संगमे॥
ऋ० १०।३८।३

अर्थ—हे बहुत लोगों की स्तुति के पात्र इन्द्र! जो देव हीन मनुष्य, चाहे वे आर्य्य हों व दस्यु, हमारे साथ युद्ध करने की इच्छा रखते हैं, वे सब शत्रुगण हमारे सम्मुख अनायास ही पराजित हो जाएँ और आपकी कृपा से हम उन शत्रुओं को युद्ध में नाश कर दें।

ऐसी दशा में युद्ध-पराजित आर्य्य दल का भी बन्दी होकर दास योनि में ढकेला जाना कोई असम्भव नहीं था।

पूर्वोक्त दासत्व-विधायक सप्तविध अवस्थाओं के अतिरिक्त एक आठवीं अवस्था भी है जिसको प्राप्त होने पर द्विज का द्विजत्व नष्ट हो जाता और वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। वह है द्विजोचित संस्कारों का लोप हो जाना। मनुस्मृति में लिखा है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रका श्चौड्रद्रविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किरातादरदाः खशाः॥मनु १०।४३

अर्थ—यज्ञ कराने, पढ़ाने, प्रायश्चित्तादि के कराने के निमित्त ब्राह्मणों का दर्शन न होने से पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, और खश, ये क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे उपनयनादि संस्कारों से भ्रष्ट होकर शूद्रत्व को प्राप्त हो गईं।

इन जातियों के विषय में केवल दो ही पक्ष उपस्थित हो सकते हैं—
(१) यदि ये मूलतः अनार्य थीं, तो इनका द्विजाति (क्षत्रिय) होना

कैसे लिखा गया ? और (२) यदि ये मूलतः आर्य (द्विजाति) थीं तो ये शूद्र (अनार्य) कैसे हो गई ? किसी भी पक्ष को ग्रहण करने से यही फल निकलता है कि द्विजत्व को आर्यत्व से किम्वा शूद्रत्व का अनार्यत्व से कोई योनि (जाति) परक सम्बन्ध नहीं था। दशा विशेष को प्राप्त होने पर आर्य भी दास अथवा शूद्र हो सकते थे। शूद्र-समुदाय विषयक इन विवरणों से स्पष्ट विदित होता है कि इस समुदाय में विविध जातियाँ आकर सम्मिलित हो गई थीं। वर्त्तमान काल में जिन अनेक जातियों को अधिकतर हिन्दू शूद्र समझते हैं उनकी उत्पत्ति जाति-निर्णय-ग्रन्थों में प्रायः संकर लिखी गई है।

यहाँ तक तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र, इन चारों वर्णों पर सामूहिक रूप से विचारकर विविध प्रमाणों से यह दिखलाया गया कि सभी वर्णों में घोर रक्त-संमिश्रण हुआ है।

विवादग्रस्त वर्ण की जातियाँ

अभी इस बीसवीं शताब्दी में भी कितनी ऐसी भी जातियाँ हैं, जैसे भूमिहार, कायस्थ, खत्री आदि, जिनका वर्ण-निश्चय हिन्दू समाज के मान लेने योग्य रूप में आज तक नहीं हुआ। इन जातियों के विषय में कुछ लिखने के पूर्व मैं तो इनसे यह निवेदन करूँगा कि जिस वर्ण व्यवस्था ने भारत को गारत कर दिया जैसा कि इस पुस्तक में आगे चलकर दिखाया जाएगा उस पाखंडपूर्ण तथा हानिकारक व्यवस्था को ब्राह्मण और क्षत्रिय बनकर जीवित रखने का प्रयत्न करना आप लोगों की सरासर भूल है। यदि आप लोग इस जातीयता-संहारिणी व्यवस्था की जड़ को सींच-सींचकर इसे जीवित रखने के बजाय इसका समूल उत्पाटन करते तो देश का उद्धार होने में देर न लगती। इसके अतिरिक्त मैं किसी द्वेष-भाव से नहीं; बल्कि एक सद्भावना से प्रेरित होकर यह भी कह देना चाहता हूँ कि आप लोग जिन प्रमाणों के बल

पर अपना-अपना इष्ट वर्ण सिद्ध किया चाहते हैं, वे इतने निःसार तथा निर्बल हैं कि तर्क बुद्धि के एक हल्के ठोकर से भी चकना-चूर हो सकते हैं।

सर्वप्रथम ब्राह्मण बनने के लिए आकाश-पाताल के कुलाबे एक करनेवाली भूमिहार जाति पर विचार किया जाता है। अतः इस जाति पर विचार करने के पूर्व इस बात का निर्णय हो जाना बहुत ही ज़रूरी है कि सर्वसाधारण, और विशेषतः सनातनी हिन्दू समाज, किस जाति को ब्राह्मण जानता और मानता है; अथवा यों कहिए कि उक्त समाज, गुण, कर्म्म और स्वभाव की दृष्टि से नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टि से, किन लोगों को ब्राह्मण स्वीकार करता है; क्योंकि यदि गुण, कर्म्म और स्वभाव की दृष्टि से ब्राह्मण-निर्णय किया जाए तो, "शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणो याति शूद्रताम्" के न्याय से शूद्र भी ब्राह्मण और ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता है, जो यहाँ अभिप्रेत नहीं है; अतः यहाँ केवल सामाजिक दृष्टि से ही ब्राह्मण-निर्णय करना है। परम्परा से हिन्दू जनता उन्हीं लोगों को ब्राह्मण मानती चली आ रही है जो उसके यहाँ जन्म से मरण तक विवाहादि विविध गृह-कृत्यों को उसके पुरोहित बनकर कराते चले आ रहे हैं; तथा जिनके यहाँ वेदादि धर्म्म-ग्रन्थों के पठन-पाठन, यजन-याजन आदि को प्रथा प्राचीन काल से लेकर आज तक बराबर चालू है; अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए कि हिन्दू जनता जिन लोगों से अपने यहाँ पौरोहित्य-कर्म्म बिना किसी आपत्ति तथा संकोच के करा सकती है, केवल वे ही उसकी दृष्टि में ब्राह्मण हैं, दूसरे नहीं। सभी धर्मों में पुरोहितों का प्रभाव सम्बन्धित जनता पर कितना गहरा है, यह किसी से छिपा नहीं। जिस सम्मान की दृष्टि से मुस्लिम जगत् मुल्ला-मौलवियों को, ईसाई जगत् पादरियों को और बौद्ध जगत् अपने भिक्षुओं को देखता है, उससे कहीं अधिक

भूमिहार

सम्मान की दृष्टि से हिन्दू जगत् ब्राह्मणों को देखता है। वह अपने ऐहिक तथा पारत्रिक कल्याण के लिये ब्राह्मणों के विधान पर नाचा करता है। वह उनकी सेवा तन-मन-धन से करने में ही अपना जीवन सफल मानता है। ब्राह्मण उसके विचार में मनुष्य नहीं, बल्कि देवता है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दुओं के हृदय में जो स्थान ब्राह्मण जाति का है, वह भूमिहार जाति का नहीं है। सच पूछिये तो हिन्दू समाज का ब्राह्मण जाति के साथ एक घनिष्ठ धार्म्मिक सम्बन्ध है जो भूमिहार किम्वा किसी अन्य जाति के साथ नहीं है।

ऊपर कह आए हैं कि हिन्दुओं की दृष्टि में केवल वे ही ब्राह्मण हैं जिनसे वे अपने यहाँ पौरोहित्य-कर्म्म बिना किसी संकोच के करा सकते हैं। पौरोहित्य-कर्म्म में ही ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देना, ब्राह्मण-भोजन करना आदि कर्म्म सन्निहित हैं। यह बात दूसरी है कि कोई ब्राह्मण-परिवार-विशेष धन-धान्य से सम्पन्न होने के कारण पुरोहिताई का परित्याग कर दे। पर यह निश्चय है कि यदि उक्त परिवार पुरोहिताई करने पर राज़ी हो जाए, तो हिन्दू जाति उक्त परिवार के सदस्यों के द्वारा अपने यहाँ पुरोहिताई कराने में तनिक भी आगा-पीछा न करेगी। ब्राह्मण-निर्णय सदा यजमान की दृष्टि से होना चाहिये; क्योंकि वही समाज का प्रतीक तथा प्रतिनिधि है। पुरोहित की दृष्टि से निर्णय करने में धोखे की संभावना है; क्योंकि ब्राह्मण बनने की उत्कट अभिलाषा-वश कतिपय अब्राह्मण जातियाँ भी काल के प्रभाव से पुरोहिताई करने के लिये लालायित हैं; पर हिन्दू समाज को उनकी पुरोहिताई अमान्य है। अतः इस कसौटी पर यदि मैं भूमिहार जाति के ब्राह्मणत्व को कसता हूँ तो वह आभा-हीन निकलता है; क्योंकि कोई भी हिन्दू भूमिहारों से अपने यहाँ पुरोहिताई कराने पर सहमत नहीं देख पड़ता। यदि भारत के किसी पिछड़े प्रान्त में कुछ भूमिहार शूद्रों के घर पुरोहिताई करते भी हों तो वह किसी गणना के

योग्य नहीं। मिथिला प्रान्त में तेलिया ब्राह्मण तथा सुँढ़िया ब्राह्मण होते हैं जो तेलियों तथा सूँढ़ियों की पुरोहिताई करते हैं; पर उच्च हिन्दू समाज इन ब्राह्मणों को किस हेय दृष्टि से देखता है, इसकी चर्चा करना व्यर्थ है। यदि ऐसे ही हेय ब्राह्मणत्व से भूमिहार भाई सन्तोष कर लेना चाहते हों तो भले ही करें; मैं इस पर कुछ भी आपत्ति नहीं करता; पर उच्च हिन्दू समाज ऐसे ब्राह्मणत्व से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। यह बात तो मैं भी अच्छी तरह जानता हूँ कि कितने मूर्ख ब्राह्मण अपनी निरक्षरता के कारण पुरोहिताई न कर बाबुओं के घर भनसिये का कामकर अपना पेट पालते हैं; पर खूबी तो यह है कि ऐसे गिरे ब्राह्मण भी केवल अपनी जाति के कारण हिन्दू समाज की दृष्टि में उत्तम और पवित्र माने जाते हैं। इसी को कहते हैं जाति का महत्त्व! याद रहे कि प्रस्तावित प्रश्न पर सामाजिक पहलू से विचार हो रहा है। यदि भूमिहार भाइयों के तरफ़ से यह दलील पेश की जाये कि पुरोहिताई एक निन्दित कर्म्म है; अतः उन्होंने इसे छोड़ दिया, तो मैं उनसे नम्रतापूर्वक पूछता हूँ कि कौन-सा ब्राह्मणोचित उत्तम कर्म्म उनकी बिरादरी में परम्परा से होता चला आया, जिसके भरोसे वे ब्राह्मण बनने चले हैं। किसी ने भी आज तक न कहीं देखा, न तो कहीं सुना और न तो किसी ग्रन्थ में लिखा पाया कि भूमिहारों के यहाँ भी, प्रकृत ब्राह्मणों की तरह परम्परा से वेदादि धर्म्मग्रन्थों का अध्ययनाध्यापन तथा यजनादि वैदिक कर्म्मों का अनुष्ठान होता आया है। उनके यहाँ तो स्मरणातीत काल से मुख्यतः हलचालन, बीजवपन, शस्यच्छेदन आदि कृषि-सम्बन्धी कार्य्य होते चले आए, जैसा कि 'भूमिहाल' शब्द से, जिसका ही अपभ्रंश 'भूमिहार' शब्द है, स्पष्टतः बोधित होता है। 'भूमिहाल' शब्द की, व्युत्पत्ति तथा अर्थ देखिए—'भूमिं पृथिवीं लक्षणया क्षेत्रं हलति हलयंत्रेण कर्षति इति भूमिहालः, भूमि+हल् (कर्षणे)+अण्, कर्म्मण्यण् ३।२।१ इति पाणिनि-सूत्रस्य

प्रवृत्तिरूपपदसमासः;', अर्थात् पृथ्वी को जो हल से जोते वह भूमिहाल (भूमिहार) है। कृषि इस जाति की मुख्य जीविका है जिससे शास्त्रों के पठन-पाठन का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। कितने भूमिहार भाइयों को मैंने गाड़ीवानी तथा रोज़दारी पर मज़दूरी एवं कुली का काम करते देखा है। क्या पौरोहित्य-कर्म्म उक्त कर्म्मों से भी निन्द्य है जो भूमिहार भाई उसे नहीं करना चाहते? असल बात तो यह है कि कोई भी हिन्दू भूमिहारों से पुरोहिताई कराना ही नहीं चाहता। अतः भूमिहारों की पौरोहित्य से विरक्ति केवल ढोंग है जो "अंगूर खट्टे हैं" की कहावत चरितार्थ करता है।

पर यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच पौरोहित्य एक गर्हित कर्म है? शास्त्रों के अध्ययन से इसका उत्तर नकार में मिलता है। वहाँ तो हम लोग बड़े-बड़े महर्षि कुंजरों को, जिन्हें हिन्दू जनता प्रातः स्मरणीय मानती तथा बड़े आदर की दृष्टि से देखती है, पुरोहिताई करते पाते हैं। महर्षि वशिष्ठ सूर्यवंशीय राजाओं का, महर्षि गौतम तथा उनके पुत्र शतानन्द मिथिलाधिपतियों का, महर्षि गर्ग यदुवंशियों का, महर्षि धौम्य पाण्डवों का, शुक्राचार्य दैत्यों का तथा बृहस्पति और विश्वरूप देवताओं की पुरोहिताई करने में तनिक भी नहीं हिचके। जब ऐसे-ऐसे महानुभावों ने पुरोहिताई का तिरस्कार नहीं किया, तो क्या कारण है कि हमारे भूमिहार भाइयों ने इसे छोड़ दिया। यदि यह कहा जाए कि ज़मींदारी और बंबुआई से मदान्ध होकर भूमिहारों ने पुरोहिताई पर लात मारी, तो यह हो नहीं सकता; कारण कि सभी भूमिहार राजा-बाबू न थे। इनमें कितने ही महादरिद्र भी होंगे, जैसा कि आजकल भी हैं। इन दरिद्रों ने पुरोहिताई क्यों छोड़ी? सच्ची बात तो यह है कि भूमिहारों को पुरोहिताई के कर्म के लिये किसी ने कभी पूछा तक नहीं। यह तो ठीक है कि शास्त्रों में कहीं-कहीं पर पुरोहिताई की निन्दा की गई है; पर यह निन्दा विचार करने पर निर्मूल

मालूम होती है। इस निन्दा में कुछ भी वास्तविक तत्त्व नहीं देख पड़ता। महर्षि वशिष्ठ ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कहा—"उपरोहिती कर्म्म अति मन्दा"; पुनः अध्यात्मरामायण, २।२।२८, में भी उन्होंने ऐसा ही कहा है—"पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्य दूष्य जीवनम्"। पर यदि पौरोहित्य सचमुच एक विगर्हित कर्म्म है, तो उन्होंने सूर्यवंश तथा राजा निमि की पुरोहिताई क्यों की? सूर्यवंश की पुरोहिताई के पक्ष में यदि यह कहा जाए कि रामचन्द्र के गुरु होने के लोभ ने वशिष्ठ को पुरोहिताई क़बूल करने के लिये विवश किया, तो वैसी बात तो निमि की पुरोहिताई के सम्बन्ध में न थी। निमि की पुरोहिताई उन्होंने क्यों स्वीकार की? और पुरोहिताई यदि सचमुच एक बुरी चीज़ थी तो वे इसी के कारण अपने यजमान निमि से लड़ क्यों गए? और यह कलह इतना बढ़ गया कि अन्त में दोनों ने शाप द्वारा एक दूसरे की जान तक ले ली। वशिष्ठ को तो यह समझकर सन्तोष कर लेना चाहता था कि निमि की पुरोहिताई छूटी तो अच्छा ही हुआ। वेश्या रूठी, धर्म बचा। पर उन्होंने वैसा न किया; अतः वशिष्ठ का उक्त वचन माननीय नहीं है। वशिष्ठ-निमि का वृत्तान्त, श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९, अध्याय १३ में लिखा है। इसी प्रकार जब देवताओं ने बृहस्पति के रूठ जाने पर विश्वरूप को अपनी पुरोहिताई करने को कहा तो विश्वरूप ने भी पुरोहिताई की निन्दा की, पर यह निन्दा भी केवल बनावटी थी; कारण कि उन्होंने निन्दा करके भी देवताओं का पौरोहित्य स्वीकारकर उनका कार्य्य किया। श्रीमद्भागवत, षष्ठस्कन्ध, अध्याय ७ में लिखा है—

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः।
पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना॥ ३८॥

अर्थ—महातपस्वी विश्वरूप जी देवताओं से यों प्रतिज्ञा करके उनके पुरोहित हो गए और परम सावधानी के साथ पुरोहिती करने लगे।

इससे स्पष्ट है कि पौरोहित्य कोई निन्दित कर्म्म नहीं है। यदि वह निन्दित कर्म्म होता तो वह ब्राह्मणों की शास्त्रानुमोदित जीविका कभी न होती। यदि ब्राह्मण जाति पुरोहिताई करना छोड़ दे तो सारे कर्मकाण्ड का लोप हो जाय और प्रजा म्लेच्छभाव को प्राप्त हो जाए। यदि कहो कि ब्राह्मण पौरोहित्य-कर्म्म करना चाहे तो भले ही उसे करे; पर उसके लिए दक्षिणा न ले, और यदि ले भी तो उसे स्वार्थ में नहीं, बल्कि परोपकार में लगा दे। हाँ, ठीक है; यदि परोपकार में लगा दे तो अत्युत्तम; पर यदि परोपकार में न लगाकर स्वार्थ में ही लगा दे तो वह इसके लिए दोषी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह तो उसके पसीने की कमाई है। यदि दुर्जन-तोष-न्याय से यह मान भी लिया जाए कि पुरोहित-ब्राह्मण अपुरोहित-ब्राह्मण की अपेक्षा कुछ हीन है तो उसकी यह हीनता केवल अपुरोहित-ब्राह्मणों की ही तुलना में है; अन्य वर्णों की तुलना में नहीं। अन्य वर्णों की तुलना में वह तो सदा उत्तम है। अतः भूमिहार भाइयों को इस भ्रम में कभी नहीं पड़ना चाहिए कि वे पुरोहिताई करने वाली प्रकृत ब्राह्मण जाति से उत्तम हैं; क्योंकि उनका अभी ब्राह्मणत्व ही सन्दिग्ध है; उत्कृष्टता किम्वा अनुत्कृष्टता का प्रश्न तो पीछे है। भूमिहार-भूषण श्री सहजानन्द जी दण्डी ने अपनी जाति के ब्राह्मणी करण के लिए काफ़ी आन्दोलन मचा रखा है। आपने इस उद्देश्य से तीन पुस्तकें लिखी हैं, जिनके नाम हैं—(१) 'भूमिहार ब्राह्मण परिचय,' जिसका नाम बाद में बदलकर 'ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर' रखा गया; (२) 'ब्राह्मण समाज की स्थिति' और (३) 'झूठा भय और मिथ्याभिमान'। आपने पहले तो पुरोहिताई तथा पुरोहिताई करने वाले ब्राह्मणों की भरपेट निन्दा की; पर जब अन्त में आपको स्वजाति के ब्राह्मणीकरण के लिये कोई दूसरा उपाय न सूझा, तो आपने अपनी बिरादरी वालों को पुरोहिताई का काम उठा लेने की नेक सलाह दे

दी। उक्त तीसरी पुस्तक तो आपने अपनी बिरादरी में केवल पुरोहिताई के प्रचार के ही लिए लिखी है। एक ही मुँह से पुरोहिताई की घोर निन्दा करना और पुनः उसी को ग्रहण करने के लिये अपनी बिरादरी को ज़ोरदार शब्दों में उभाड़ना, ऐसे परस्पर-विरोधी वचन किसी विवेक-शील तथा सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति के नहीं होते; क्योंकि यदि सचमुच भूमिहार जाति ने किसी सुदूर पूर्वकाल में पुरोहिताई से, उसे नीच कर्म्म समझकर मुँह मोड़ लिया तो पुनः उसे करने की सलाह देना मानो थूककर चाटना है। पर स्वजाति भाइयों को उक्त सलाह देते हुए आप यह बात बिलकुल भूल जाते हैं कि किसी भी अन्य जाति का हिन्दू भूमिहारों से अपनी पुरोहिताई स्वप्न में भी नहीं करा सकता; चाहे भूमिहार भाई आपस में एक दूसरे की पुरोहिताई किम्वा गुरुआई भले ही कर-करा लें। यों तो आजकल बहुत से निम्न श्रेणी के लोग भी, जैसे नाई, बढ़ई, लोहार आदि, शिखा-सूत्र धारणकर एक दूसरे को 'पंडित जी', 'पंडित जी' कह-कहकर सम्बोधन करते हुये नमस्कार करते, अपने नाम के अन्त में 'शर्म्मा' की उपाधि लगाते तथा ब्राह्मण बनने की धुन में परस्पर एक दूसरे की गुरुआई-पुरोहिताई भी करते देखे जाते हैं; पर क्या हिन्दू समाज उनकी इस अनधिकार चेष्टा को कभी भी स्वीकार करेगा? कभी भी नहीं। वस्तुतः किसी भी अब्राह्मण जाति के द्वारा स्वब्राह्मणत्व-प्रतिपादनार्थ जितना ही अधिक प्रयास किया जाएगा उतनी ही अधिक यह शंका होगी कि दाल में अवश्य कुछ काला है; अन्यथा इस महाप्रयास की आवश्यकता ही क्या थी? ऐसे प्रयास से तो यही मालूम होता है कि हिन्दू जनता के गले के नीचे एक ऐसी कड़वी तथा जी मचलाने वाली घूँट उतारने का प्रयत्न हो रहा है जिसे वह अवश्य वमन कर देगी। इसके अतिरिक्त यह भी एक विचारने की बात है कि कनौजियों, सरयूपारियों आदि प्रकृत ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व स्वयं सिद्ध क्यों है? वह अपनी सिद्धि के लिए

किसी की वकालत की परवाह क्यों नहीं करता ? हिन्दू जनता बिना किसी भी शंका के परंपरा से उन्हें ब्राह्मण क्यों मानती चली आई ? उसने उनके ब्राह्मणत्व में आज तक किसी प्रकार की शंका क्यों नहीं की ? इत्यादि। इन सभी प्रश्नों का एकमात्र यही उत्तर है कि उक्त प्रकृत ब्राह्मण न मालूम कब से उसके गुरु और पुरोहित हैं; उसके ऐहिक और पारलौकिक मंगल के विधाता हैं और उनके साथ उसका एक घनिष्ठ धार्मिक सम्बन्ध है।

अब यहाँ प्रसंग-प्राप्त इस विषय पर विचार किया जाता है कि दण्डी सहजानन्दजी ने जो निःशेष ब्राह्मणों को 'याचक' और 'अयाचक' इन दो श्रेणियों में विभक्त किया है और जिसका उल्लेख आपने अपनी पूर्व्वोक्त तीनों पुस्तकों में बार-बार किया है, कहाँ तक तर्कपूर्ण, युक्ति-युक्त और शास्त्र-सम्मत है। आपके इस वर्गीकरण का आधार महाभारत, शान्तिपर्व्वान्तर्गत मोक्ष-धर्म्म-पर्व्व, अध्याय १९९ का निम्नलिखित श्लोक है, जिसमें पिप्पलाद के पुत्र किसी कौशिक गोत्री ब्राह्मण ने राजा इक्ष्वाकु से कहा है—

द्विविधा ब्राह्मणा राजन्, धर्म्मश्च द्विविधः स्मृतः।
प्रवृत्ताश्चनिवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥ ३९ ॥

इसका अर्थ आप यों करते हैं—'हे राजन्! प्रतिग्रह आदि लेने में प्रवृत्ति और उनसे निवृत्ति ये दो प्रकार के धर्म्म ब्राह्मणों के हैं; इसलिए ब्राह्मण भी तदनुसार ही दो प्रकार के होते हैं। एक प्रतिग्रहादि में प्रवृत्त और दूसरे उनसे निवृत्त। उनमें से मुझे प्रतिग्रहादि से निवृत्त जानिए'। 'ब्रह्मर्षिवंश-विस्तर', पृ० ८७; पुनः उसी पृष्ठ में आगे चलकर लिखते हैं—'इस सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि अयाचक और याचक ये दो प्रकार के ब्राह्मण सर्व्वदा से होते चले आए हैं इत्यादि'। दूसरे उद्धरण से स्पष्ट है कि आप 'प्रतिग्रह-प्रवृत्त' का अर्थ 'याचक' और 'प्रतिग्रह-निवृत्त' का अर्थ 'अयाचक' लगाते

हैं, जो एकदम ग़लत और पुरोहिताई करने वाले ब्राह्मणों के प्रति आपकी घृणा का द्योतक है, तथा जिसका समर्थन कोषों के द्वारा नहीं हो सकता। श्री आप्टे कृत संस्कृत-अंगरेज़ी कोष के अनुसार 'प्रवृत्त' का अर्थ—engaged in ; occupied with ; 'निवृत्त' का अर्थ refrained or abstained from ; desisted और 'प्रतिग्रह' का अर्थ the right of receiving gifts है; अतः 'प्रतिग्रह-प्रवृत्त' का अर्थ दान ग्रहण करने में लगा हुआ, अर्थात् दानग्राही, और 'प्रदिग्रह-निवृत्त' का अर्थ दान-ग्रहण करने से रुक गया हुआ, अर्थात् दानत्यागी है, न कि इन शब्दों के अर्थ क्रमशः 'याचक' और 'अयाचक' है, जैसा कि आपने किया है। मालूम होता है कि आपने जान-बूझकर ऐसा ग़लत अर्थ पुरोहित ब्राह्मणों के प्रति अपनी हार्दिक घृणा दिखलाने के लिए ही किया है; क्योंकि 'याचक' शब्द का अर्थ भीख माँगने वाला और 'अयाचक' शब्द का अर्थ भीख नहीं माँगने वाला है। शायद आपको मालूम नहीं कि दान (gift, present), दक्षिणा (fee remuneration) और भिक्षा (Alms), ये तीनों भिन्न-भिन्न तीन वस्तु हैं। जो हमारी श्रद्धा, भक्ति तथा प्रेम के पात्र हैं, उनको जो कुछ हम, बिना उनसे कुछ बदले में लिए हुए देते हैं, उसका नाम दान है; दूसरे से काम लेकर जो कुछ हम उसे पारिश्रमिक स्वरूप देते हैं, उसका नाम दक्षिणा है और असहायों की अथवा ऐसे लोगों की जो अपना भरण-पोषण स्वयं करने में असमर्थ हैं, जो कुछ हम सहायता करते हैं उसका नाम भिक्षा वा भीख है। पुरोहिताई भिक्षाकर्म नहीं है। भीख माँगने वाला ब्राह्मण तो शास्त्रीय विधानानुसार शूद्र तुल्य है। यदि आपके ही अर्थ को मान लिया जाए कि दानग्राही ब्राह्मण याचक हैं, तो इससे आपके पक्ष की कुछ भी पुष्टि नहीं होती, क्योंकि याचक ब्राह्मण तो आखिर ब्राह्मण ही है; पर भूमि-

हारों का तो ब्राह्मणत्व ही अभी साध्य कोटि में है। उनका याचक अथवा अयाचक होना तो बाद का प्रश्न है। उनके ब्राह्मणत्व का प्रश्न मुख्य; पर उनके अयाचकत्व का प्रश्न गौण है। भूमिहारों की देखा-देखी नाई, बढ़ई आदि जातियाँ भी, जिनसे कोई भी अपनी पुरोहिताई नहीं कराता, आपने को अयाचक ब्राह्मण कह सकते हैं। पर इस बात को मानेगा कौन ?

उक्त दण्डी जी ने पुरोहित-वर्ग को नीचा दिखलाने के लिये और भी कितनी उछलकूद मचाई है। अपने मन्वादि धर्म्मशास्त्रकारों की दुहाई देकर प्रतिग्रह की निन्दा की है—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सहतेनैव मज्जति ॥ मनु ४।१९० ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण वेदादि शास्त्रों का पढ़ने और तपस्या करने वाला नहीं है, वह यदि प्रतिग्रह करे तो प्रतिग्रह के साथ ही उसका नाश वैसे ही हो जाता है जैसे पत्थर की नाव अपने आरोही के साथ जल में डूब जाती है। पर भले ही ऐसा ब्राह्मण भाड़ में चला जाए; इससे भूमिहार-पक्ष की कुछ भी पुष्टि नहीं होती।

मनु के और भी कितने वचन प्रतिग्रह के विरुद्ध हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य, अत्रि आदिकों ने भी प्रतिग्रह की निन्दा की है। इन धर्म्मशास्त्रों के मत से प्रतिग्रहजन्य दोष बिना वेदाध्ययन, तपस्या, प्राणायामादि के नहीं छूटता। पर दण्ड जी महाराज ऋषियों के प्रतिग्रह-विरोधी वचनों का उद्धरण करते हुए मनु के उस वचन को भूल जाते हैं जिसके अनुसार संसार में जो कुछ पदार्थ हैं उन सब का स्वामी ब्राह्मण ही है, कोई अन्य वर्ण नहीं—

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगती गतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ मनु १।१००॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुंजतेहीतरे जनाः॥ मनु १। १०१॥

अर्थ—इस जगत् में जो कुछ सम्पत्ति है, वह ब्राह्मण की ही निजी सम्पत्ति है। अपने उत्तम जन्म के कारण ब्राह्मण सभी सम्पत्ति का अधिकारी है। ब्राह्मण यदि पराया अन्न भोजन करता है, पराया वस्त्र पहनता है और पराया धन लेकर दूसरों को देता है तो वे सब उसी के अन्नादि हैं; क्योंकि अन्य सब लोग ब्राह्मण की ही दया से भोजनादि पाते हैं।

इस दशा में हम जो कुछ ब्राह्मण को दान स्वरूप देते हैं वह सब तो वस्तुतः उसी का है।* अपनी चीज़ लेने में वह कभी भी दोष का भागी नहीं हो सकता। 'श्रैष्ठ्येनाभिजनेन', इस वचन से दान ग्रहण करना ब्राह्मण का जन्म-सिद्ध अधिकार है; अतः मनु के प्रतिग्रह-विरोधी वचन व्यर्थ मालूम पड़ते हैं। मनु प्रायः परस्पर-विरोधी वचन भी कह देते हैं, जैसे यहाँ पर दान ग्रहण के प्रसंग में। पुनः मांस-भक्षण, मद्यपान, मैथुन, नियोगादि के प्रसंग में भी मनु ने इसी प्रकार की दो-तरफ़ी बातें कही हैं, जिससे सत्यासत्य का निर्णय करना कठिन हो जाता है और खैंचातानी करके उनके परस्पर-विरोधी वचनों की संगति लगानी पड़ती है। और सौ बातों की एक बात तो यह है कि यदि भूमिहार भाइयों को दान रूपी मुफ़्त का माल मिलता रहता तो श्री सहजानन्दजी प्रतिग्रह के विरुद्ध इतना उबाल नहीं खाते और दानग्रहण यदि सचमुच एक महा नीच कर्म्म रहता तो आप अपनी बिरादरी वालों को पौरोहित्य-कर्म्म में ढकेल देने के लिए ऐसा भगीरथ प्रयत्न ही क्यों करते? यदि आप कहें कि पुरोहिताई को सुधारने के

*यहाँ पर "त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्प्यते" वाला न्याय समझना चाहिए।

लिये, तो याद रखिये कि बिना हिन्दू समाज का आद्योपान्त जीर्णोद्धार किए आप इसमें कोई भी सुधार नहीं कर सकते और ऐसे जीर्णोद्धार का अर्थ है सभी जातियों को सर्वाङ्गीण उन्नति का तुल्य अधिकार देना, जिस दशा में स्वयं ब्राह्मण जाति का ही कुछ भी जातीय महत्त्व न रह जाएगा, भूमिहार आदि अन्य जातियाँ किस खेत की मूली हैं ?

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि भूमिहार अयाचक ब्राह्मण हैं; पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि उनमें अयाचक ब्राह्मण के कौन-से कर्म्म हैं। अयाचक होने से भूमिहार भाई याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह से तो यों ही मुक्त हो गए;[1] रह गए शेष तीन कर्म्म—यजन, अध्ययन और दान। पर ये तो क्षत्रिय और वैश्य के भी कर्म्म हैं, अतः यहाँ पर यह देखना होगा कि शेष इन तीनों कर्म्मों में ब्राह्मण का कौन-सा खास कर्म्म है और वह भूमिहारों में है कि नहीं। मनुस्मृति कहती है—

> वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
> वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्म्मसु॥ मनु १० ।८०॥

अर्थ—अपने कर्म्मों में ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास, क्षत्रिय के लिए प्रजापालन और वैश्य के लिए वाणिज्य तथा पशुपालन विशेष धर्म्म है। ये उनके लिए अत्याज्य कर्म्म हैं जिन्हें छोड़ने पर वे ब्राह्मण आदि नहीं रह सकते।

श्री सहजानन्दजी मनु के उक्त कथन को मानते हैं। देखिए 'ब्रह्मर्षिवंशविस्तार' पृ० १०। अतः स्पष्ट है कि भूमिहार यदि अयाचक

---

[1] क्योंकि ये तीनों ब्राह्मण की जीविकाएँ हैं जिन्हें करने के लिये शास्त्र उन्हें बाध्य नहीं कर सकता। इन्हें कोई भी ब्राह्मण छोड़ सकता है और छोड़ने पर भी वह ब्राह्मण कहला सकता है।

भी ब्राह्मण होते तो उनमें कम से कम वेदाभ्यास का प्रचार अवश्य पाया जाता; पर खेद के साथ मुझे कहना पड़ता है कि वहाँ तो अविद्या का अखंड साम्राज्य है और वेदों की जगह फ़ाल, कुदाल और हल का ही प्रचार है, जिसे आप भी मानते हैं और भूमिहारों की इस अविद्या का कारण आप उनका राजपाट, ज़मींदारी तथा बबुआई में फँसे रहना और पुरोहितों का स्वार्थ-सिद्धि के लिए उनको बहकाना बतलाते हैं। पर यदि राजपाट में फँसे रहना ही भूमिहारों की अविद्या का कारण है तो धर्म्मारण्य में राज्य करने वाले वाड़व ब्राह्मण क्यों नहीं विद्या-विहीन हो गए? वे राज्य करते हुए भी वेदाभ्यास में क्यों तत्पर बने रहे? आप स्वयं अपनी उक्त पुस्तक के पृष्ठ १२९ में स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्म्मारण्यमाहात्म्य-वर्णन, अध्याय ३५ के आधार पर लिखते हैं—

> स्वस्थाने ब्राह्मणास्तत्र कानि कर्माणि चक्रिरे।
> इष्टापूर्त्तरता: शान्ताः प्रतिग्रह पराङ्मुखाः ॥३॥
> राज्यं चक्रुर्वनस्यास्य पुरोधा द्विजसत्तम।
> उवाच रामपुरतस्तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् ॥४॥

अर्थ—नारद ने ब्रह्मा से पूछा कि धर्म्मारण्य में रहने वाले वाड़व ब्राह्मण कौन काम करते थे? ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि वे लोग यज्ञदानादि करने और वापी, कूप, तड़ाग आदि बनवाने में दत्तचित्त थे और प्रतिग्रह से निवृत्त और शान्त होकर उस बन का राज्य करते थे। इसके अनन्तर रामचन्द्र के पुरोहित वशिष्ठजी ने उस तीर्थ का उत्तम माहात्म्य कह सुनाया।

इसके अतिरिक्त उक्त पुस्तक के पृष्ठ ५१ में, उक्त प्रमाण के ही आधार पर, वाड़व ब्राह्मणों को 'वेदपाठकाः' लिखा है। अतः आपके इस कथन में तनिक भी सार नहीं है कि राजपाट में फँसे रहने के कारण भूमिहार वेदाभ्यास से विहीन हो गए। पर जो इनमें राजा

बाबू नहीं हैं वे क्यों विद्या-विहीन हुए, इसका भी तो कोई कारण आपको बताना चाहिए था। कम से कम दरिद्र भूमिहारों को तो विद्योपार्ज्जन करना चाहता था। पर ये भी संस्कृत विद्या से विहीन होकर निरक्षर भट्टाचार्य रह गए। सच पूछिए तो भूमिहार बिरादरी में 'अयाचक' किम्वा 'याचक' किसी भी ब्राह्मण के विशिष्ट चिह्न नहीं हैं।

किसी-किसी प्रान्त में भूमिहारों को 'बाभन' भी कहते हैं और इस 'बाभन' शब्द को शुद्ध संस्कृत शब्द 'ब्राह्मण' का अपभ्रंश बनाकर श्री सहजानन्दजी ने इसी शब्द-सादृश्य के बल पर भूमिहार जाति को ब्राह्मण सिद्ध करने की चेष्टा की है। (देखिए, 'ब्र० वं० वि०' पृष्ठ १४१—१४३) यह तो ठीक है कि शुद्ध 'ब्राह्मण' शब्द का उच्चारण करने की आकांक्षा रखते हुए भी हम लोग प्रकृत ब्राह्मणों को भी सरलता तथा शीघ्रतावश 'बाभन' या 'बाम्हन' कह बैठते हैं; परन्तु जहाँ जाति-भेद-सम्बन्धी सूक्ष्म विचार करने का मौका आता है वहाँ 'काचः काचो मणि मणिः' की तरह उक्त प्रान्त वाले भी वहाँ के प्रकृत ब्राह्मणों को 'ब्राह्मण'; पर भूमिहारों को 'बाभन' कहते हैं। अतः स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि उक्त प्रान्तों की जनता वहाँ के सरयूपारी आदि ब्राह्मणों को 'बाभन' क्यों नहीं कहती ? केवल भूमिहारों ने ही कौन-सा अपराध किया था कि वे उसके कारण 'ब्राह्मण' से 'बाभन' बनाये गये ? यदि दाल में कुछ काला नहीं है तो भूमिहारों के प्रति जनता का यह भेद-भाव क्यों है ? कुछ और भी ऐसी जाति-संज्ञाएँ हैं जो अपभ्रष्ट होकर जात्यन्तर की सूचिकाएँ हो गई हैं; जैसे 'राजपूत' (क्षत्रिय) और 'राउत' (अहीर); पण्डित (ब्राह्मण) और पंड़ित (उत्तर विहार के कुम्हार) इत्यादि। अतः शब्द-सादृश्य के आधार पर सवर्णता की इमारत उठाना निरापद नहीं है। वह विवेचन को आँच नहीं सह

सकती। यदि दो जातियों के नामों के बीच कुछ सादृश्य पाकर दोनों को सजाति वा कम से कम सवर्ण मान लेने का नियम ठीक हो तो भुइँहार (भूमिहार) और भुइँया; खत्री और खाती; नौनियार और नोनिया, अम्बष्ठ और अम्बत्त; कुरुमार और कुरुवार; कोइरी और कोरी; कोल और कौल; खारवार और खारवाल; ग्वाला और गोला आदि जाति-युग्म परस्पर सजाति तथा सवर्ण हो जाएँगे जो स्वप्न में भी नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक युग्म के सदस्यों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है। कितने ऐसे भी जाति-युग्म हैं जिनमें दोनों जातियों के नाम तो एक ही हैं, पर वस्तुतः वे एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं; जैसे—ग्रासिया (राजपुताने की एक लूट, खसोट, चोरी आदि जुल्मी पेशा करने वाली जाति) और ग्रासिया (राजपुताने के ही पहाड़ों में रहने वाली एक आचार-भ्रष्ट राजपूत जाति); कोलटा (मध्य प्रदेश की एक खेतिहर जाति) और कोलटा (आसाम और छोटा नागपुर की एक विद्या-सम्पन्न जाति) इत्यादि। ('जाति-अन्वेषण' प्रथम भाग)।

श्री सहजानन्द जी महाराज भूमिहार जाति के विषय में न किसी भारतीय विद्वान् की सम्मति मानते हैं; न किसी अभारतीय (विदेशी) विद्वान् की। विचाराधीन उक्त पुस्तक 'ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर' में आप अपनी असावधान लेखनी से जो कुछ जी में आया, मनमाना लिखते गये हैं, और इस बात पर आपने तनिक भी ध्यान नहीं दिया है कि कहीं आपके वचन परस्पर विरोधी तो नहीं जा रहे हैं; कहीं आपने शैतान की दाढ़ी उखाड़ने के बदले अपनी ही दाढ़ी तो नहीं उखाड़ ली है; कहीं पर आपसे किसी सज्जन के प्रति अशिष्ट तथा असंयत भाषा का तो प्रयोग नहीं हो रहा है इत्यादि। आप स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पर इस कारण आगबबूला हो गए कि उन्होंने निरंजन मुखोपाध्याय रचित 'भारतवर्षीय 'राजदर्पण' के

आधार पर भूमिहारों को, 'मुद्राराक्षस' के अपने हिन्दी अनुवाद में उन नकली ब्राह्मणों की सन्तान बताया जिनको राजा जरासन्ध के यज्ञ में, असली ब्राह्मणों की इष्ट संख्या के अभाव में, उस राजा के कर्म्मचारियों ने निमंत्रितकर भोजन करा दिया था। भारतेन्दु जी के इस लेख का एक शिष्ट भाषा में वहीं पर खंडन करने के बदले उन्हें आपने इन शब्दों में याद किया है—"यदि हम भी 'शठे शाठ्यं कुर्यात्' के अनुसार ऐसा ही करने लग जावें तो जीतों को कौन कहे मरे हुओं के भी कलेजे फट जावें, और हाहाकार मच जावे"।* ('ब्र० वं० विस्तर', भूमिका—पृष्ठ १५) पाठकों का ध्यान 'शठे शाठ्यं कुर्यात्' इस वचन पर विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिये उसे आपने मोटे अक्षरों में छपवाया है। भारतेन्दु जी जैसे विद्वान् के प्रति 'शठ' शब्द का प्रयोग करना कहाँ तक उचित था, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। 'विशेन-वंश-वाटिका' के रचयिता पर आप इस कारण रुष्ट हो गये कि उन्होंने बगौछिया भूमिहारों को ब्राह्मण मयूर भट्ट की तीसरी स्त्री हयकुमारी की औलाद बताया जो एक चन्द्रवंशीय क्षत्रिय कन्या थी और एक व्यक्ति की इस धृष्टता पर, यदि सचमुच यह धृष्टता भी हो, आपने सारी विशेन-बिरादरी को चन्द्रगुप्त मौर्य की सन्तान बताकर, जिसे 'मुद्राराक्षस' में बराबर स्पष्ट शब्दों में 'वृषल' (शूद्र) लिखा है, अपने दिल की कसक निकाली। (ब्र० वं० वि० पृष्ठ २८२) इसी तरह जान लीजिये कि जिस भारतीय विद्वान् ने भूमिहार जाति के विषय में आपकी

---

*इसके पहले उसी पृष्ठ में बाबू हरिश्चन्द्र के विरुद्ध 'राक्षसी-मुद्रा' शब्द का भी प्रयोग किया गया है—"नहीं तो भला बताइये, मुद्राराक्षस की टीका करने में......राक्षसीमुद्रा दिखलाने की क्या आवश्यकता थी" इत्यादि।

रुचि के खिलाफ़ कुछ लिखा कि बस उसके सिर पर शामत सवार हो गई।

और विदेशी विद्वानों के प्रति आपकी यह धारणा है—"धिक्कार है हम लोगों की आर्य्यता-भारतीयता और हिन्दूपन को! हम इस प्रकार दूसरों के पाँव चलने वाले हो गए कि अन्त में जाति-पाँति और धर्म्म के विषय में उन्हीं के ग्रन्थों का प्रमाण देते हुए लज्जा भी नहीं करते" इत्यादि (ब्र० वं० वि० भूमिका, पृष्ठ १६)। पुनश्च उसी पृष्ठ में—"परन्तु हम लोग तो इतने बह गये कि इस (आचारों तथा विचारों के) विषय में भी उन्हीं (विदेशियों) का उच्छिष्ट स्वीकार करने लग गए हैं।"

यही आपका विदेशियों के प्रति सिद्धान्त है। पर मैं देखता हूँ कि आप अपने इस सिद्धान्त पर टिक नहीं सके हैं; वरन् यदा कदा विदेशियों का उच्छिष्ट बड़े चाव के साथ ग्रहण करते रहे हैं। विचाराधीन उक्त पुस्तक में मुझे इसके कई उदाहरण मिले हैं। युक्तप्रान्त के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने ईसवी सन् १६१२ में अपने अधीनस्थ स्कूलों के इन्सपेक्टरों के नाम यह आदेश निकाला कि उक्त विभाग के वार्षिक विवरणों में भूमिहारों को ब्राह्मणों की तरह दिखलाया जाय। (ब्र० वं० वि० पृष्ठ २३६)। ये डाइरेक्टर महोदय एक यूरोपीयन सज्जन थे। क्या मैं श्री सहजानन्दजी से नम्रतापूर्वक पूछ सकता हूँ कि उक्त साहब बहादुर क्या कोई मंत्र-द्रष्टा ऋषि थे जिनकी उक्त व्यवस्था को आपने भूमिहारों का ब्राह्मणत्व सिद्ध करने के लिए एक सनद की तरह पेश कर दी? 'आइन अकबरी' में जिसका रचयिता सम्राट् अकबर का दरबारी अबुलफजल था, इलाहाबाद के कतिपय परगनों के ब्राह्मण ज़मींदारों और उनकी ज़मींदारी आदि का विवरण दिया है। (ब्र० वं० वि० पृष्ठ २४६) इस 'आईन अकबरी' के आधार पर नेविल साहब द्वारा

तैयार कराए गए गाज़ीपुर के गजेटियर को वेदवाक्य मानकर मुहम्मदाबाद, ज़मानियाँ आदि महालों के ब्राह्मण ज़मींदारों को आपने स्वसिद्धान्त-विरुद्ध, क्योंकि नेविल साहब एक विदेशी सज्जन थे, निश्चित रूप से भूमिहार कैसे मान लिया ? (ब्र० वं० वि० पृष्ठ २४७), इत्यादि ।

लार्ड कार्नवालिस ने ई० स० १७६१ में दौवामी बन्दोबस्त (स्थायी प्रबन्ध permanent Settlement) की एक रिपोर्ट तैयार कराई थी जिसमें तत्कालीन ज़मींदारों तथा उनकी जमींदारियों का विवरण दिया है । कुछ लोगों का कथन है कि उक्त रिपोर्ट में भूमिहार जाति के ज़मींदारों को अन्य ब्राह्मणों की तरह केवल 'ब्राह्मण' लिखा है, जिससे इस जाति का ब्राह्मण होना सिद्ध होता है । इस विवरण को 'आईन अकबरी' के विवरण-सदृश समझना चाहिये । यहाँ पर कई बातें विचारणीय हैं—(१) लार्ड कार्नवालिस एक विदेशी थे, अतः श्री सहजानन्द जी के सिद्धान्तानुसार एक विदेशी के द्वारा तैयार कराया हुआ जातीय विवरण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । (२) जब तक अन्य स्वतंत्र प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उक्त तथाकथित भूमिहार ज़मींदार सचमुच भूमिहार ही थे जिन्हें केवल ब्राह्मण लिखा है तब तक हमें केवल 'ब्राह्मण' शब्द के दायरे के भीतर भूमिहारों को भी सम्मिलित कर लेने का कोई अधिकार नहीं है । (३) यदि कहो कि उक्त तथाकथित भूमिहार ज़मींदारों के वंशधर अब तक मौजूद हैं जिनके भूमिहार होने से उनके उक्त पूर्वजों का भूमिहार होना सिद्ध होता है तो यह सम्बन्ध-स्थापन वैसा ही अमान्य है जैसे राजपूतों का सूर्य वा चन्द्र के वंशज होना । सारांश यह कि उक्त रिपोर्ट में 'ब्राह्मण' शब्द से भूमिहार का अर्थ निकालना एक ऐसी बेसिर-पैर की बात है जिसे कोई भी विचारवान् मनुष्य नहीं

मान सकता। और शिक्षा-विभाग के दफ्तरों में सर्वत्र व्यापी कोई ऐसा नियम नहीं है कि भूमिहारों को ब्राह्मणों के अन्तर्गत लिखा जाए; क्योंकि विहार में भूमिहार छात्रों की संख्या को 'ब्राह्मण' शीर्षक वाले स्तम्भ में न दर्जकर 'राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, और वैद्य' शीर्षक वाले स्तम्भ में दर्ज किया जाता है।

श्री सहजानन्द जी ने भूमिहारों के ब्राह्मणीकरण के प्रयास में अपने विचार से सबसे प्रबल प्रमाण वह पेश किया है कि उनका विवाह सम्बन्ध मैथिलों, कान्यकुब्जों, सरयूपारियों और गौड़ों के साथ बराबर होता चला आया है। पर साथ-साथ उनकी यह भी धारणा है कि भूमिहार भी, सरयूपारी आदि अन्य ब्राह्मणों की ही तरह, उत्तम और कट्टर ब्राह्मण हैं। (ब्र० वं० वि० पृष्ठ ५१)। यदि ऐसी बात है तो भूमिहारों को भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में सरयूपारी आदि ब्राह्मणों की ही तरह अपनी कट्टरता भी दिखानी चाहिये। यह सभी को मालूम है कि ब्राह्मण जाति के सभी वर्गोपवर्ग एक दूसरे से भोजन और विवाह के मामले में पूर्णतः स्वतंत्र हैं; अर्थात् प्रत्येक वर्ग वा उपवर्ग अपने में ही भोजन और विवाह किया करता है; किसी दूसरे वर्ग वा उपवर्ग में नहीं। उदाहरणतः सरयूपारी सरयूपारी के यहाँ ही रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित करता है; किसी कन्नौजिए वा मैथिल के यहाँ नहीं, यहीं तक नहीं; बल्कि इस विषय में वे इतने कट्टर हैं कि एक सरयूपारी दूसरे सरयूपारी के हाथ की कच्ची रसोई तब तक नहीं ग्रहण करता, जब तक उसे यह नहीं मालूम हो जाता कि दोनों के, वा दोनों के किन्हीं सम्बन्धियों के बीच विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। ब्राह्मण जाति के कट्टर वर्गोपवर्गों में सर्वत्र यही नियम प्रचलित है। अतः भूमिहार जाति में भी यदि वह एक कट्टर ब्राह्मण जाति है, तो इस नियम का पालन होना चाहिये था; पर यदि वे सचमुच वर्गान्तरों में भी ब्याह-शादी

किया करते हैं तो उनकी ब्राह्मणोचित कट्टरता कहाँ रही ? उक्त दण्डी जी के ये परस्पर विरोधी वचन कि भूमिहार कट्टर ब्राह्मण भी हैं और वे सरयूपारी आदि के यहाँ ब्याह-शादी भी करते हैं, समझ में नहीं आते; क्योंकि वे एक दूसरे की सत्यता का स्वयं उच्छेद कर देते हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण जाति वा किसी भी कट्टर हिन्दू जाति में ऐसे अन्तर्वर्गीय विवाह-सम्बन्ध वर और कन्या उभय-पक्ष के सम्बन्धित परिवारों की रक्त-शुद्धता में सन्देह उत्पन्न कर देते हैं।

पर दण्डी जी के उक्त परस्पर विरोधी वचनों की संगति लगाना भी तो ज़रूरी है। मैंने इस विषय में बहुत कुछ छान-बीन की है और भूमिहारों के उक्त अन्तर्वर्गीय विवाहों की सत्यता किम्वा असत्यता के विषय में पूछ-ताछ भी की है जिससे पता चला है कि जिन सरयूपारी आदि ब्राह्मणों के यहाँ भूमिहारों का विवाह-सम्बन्ध हुआ दण्डी जी बतलाते हैं वे एक प्रकार के भूमिहार ही हैं। उनकी रहन-सहन बिलकुल भूमिहार की-सी ही है; अन्यथा यह असंभव बात कैसे हो सकती है कि कोई कट्टर सरयूपारी, कन्नौजिया आदि ब्राह्मण किसी भूमिहार के यहाँ विवाह करे ? इस बात की पुष्टि, सीधी तरह से नहीं, बल्कि घुमा-फिराकर आपके इस कथन से होती है—"परन्तु जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं और आगे भी विदित होगा कि याचक दल में भी बहुत से अयाचक हैं और इन अयाचकों का साक्षात् सम्बन्ध उन्हीं से होता है। क्योंकि दरिद्रों के साथ लोग कब करने वाले हैं। और उन अयाचकों का भी अपने दल के अयाचकों के ही साथ होता है, इस प्रकार से तीन, चार या पाँच सम्बन्ध के बाद सम्भवतः याचक भी जुट जाते हैं।" (ब्र० वं० वि० पृष्ठ १६३)। इसी को कहते हैं 'जादू वह जो सिर चढ़कर बोले।' आपके इस कथन का निष्कर्ष यह है कि भूमिहारों का सम्बन्ध प्रथमतः सरयूपारी आदिकों में जो भूमिहारों सरीखे जीव हैं उन्हीं के साथ होता है

और सम्भवतः ये भूमिहार सरीखे जीव कुछ सम्बन्धों के बाद अपने दल के याचकों के साथ मिले रहते हैं। उक्त उद्धरण के 'सम्भवतः' शब्द से जान पड़ता है कि आपको इस बात का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है कि उक्त भूमिहार सरीखे जीव अपनी मूल जाति से मिले हुए हैं या उससे अलग कर दिये गये हैं। अतः आपके इस कथन पर, कि भूमिहारों का विवाह-सम्बन्ध सरयूपारी आदिकों के साथ बराबर होता चला आया है, उसके सन्देहात्मक होने से, विश्वास करना कठिन है। अथवा यही क्यों नहीं मान लिया जाये कि ये भूमिहार सरीखे जीव वस्तुतः भूमिहार ही हैं जो श्री सहजानन्दजी के आदेशानुसार (ब्र० वं० वि० पृष्ठ २५१) अपने को स्वस्वदेशानुसार सरयूपारी आदि कहा करते हैं ? अन्यथा क्या बात है कि कोई भी प्रकृत सरयूपारी आदि ब्राह्मण भूमिहारों के साथ विवाह-संबन्ध करना नहीं चाहता ? और यदि भूमिहार भी ब्राह्मणों का एक स्वतंत्र और कट्टर वर्ग है तो वह अन्तर्वर्गीय सम्बन्ध के लिए इतना लालायित क्यों हैं और परम्परया याचकों से मिलना अपना चरम लक्ष्य क्यों रखता है ? उक्त उद्धरण के अतिरिक्त पृष्ठ ८१ की ये पंक्तियां भी पढ़िये—"यद्यपि साक्षात् तो जो याचक दल में भी इस समय अयाचक हैं......." इत्यादि। आश्चर्य है कि जिसे हेय समझते हैं उसी में मिल जाना अपना अहोभाग्य मानते हैं !!

कुछ मनचले मैथिल ब्राह्मणों ने मिथिलाप्रान्त के भूमिहारों के साथ विवाह-सम्बन्ध अवश्य कर लिया था, जिस पर मैथिल महासभा ने अपने भागलपुर के अधिवेशन में, जो ई० सन् १६११ में हुआ था, आपत्ति प्रकट की और ऐसे विवाहों को तब से रोक देने का प्रबन्ध कर दिया। मैथिलों की विवाह-प्रणाली विचित्र है। उनके यहाँ बिना पंजीकारों की लिखित अनुमति के विवाह-सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जाता। पंजीकार मैथिल-समाजान्तर्गत उस

समुदाय-विशेष के सदस्य हैं जो मैथिल ब्राह्मण परिवारों की पंजियाँ यानी वंशावलियाँ विवाह-निर्णयार्थ तैयार किये रहते हैं; क्योंकि इन्हीं के द्वारा यह पता लगता है कि प्रस्तावित विवाह वर्जित पीढ़ियों के अन्तर्गत है वा बहिर्गत। यदि वह वर्जित पीढ़ियों के अन्तर्गत मालूम पड़ा, तो वह होने नहीं दिया जाता; और यदि वह उक्त पीढ़ियों के बहिर्गत देख पड़ा, तो उसे सम्पादन करने के लिए पंजीकार अपनी लिखित अनुमति दे देता है। यह प्रथा मिथिला में अभी तक जारी है। इसे मिथिला के राजा सिमराँव-वंशीय हरिसिंह देव ने मैथिल-ब्राह्मणों की रक्त-शुद्धता के रक्षणार्थ चलाई थी जब उनके किसी मंत्री ने भूल से अपना विवाह वर्जित पीढ़ियों के भीतर ही कर लिया था। पहला पंजीकार पंडित रघुदेव झा थे जिन्होंने उक्त राजा हरिसिंह देव की आज्ञानुसार शकाब्द १२१६ में 'पंजी प्रबन्ध' लिखा था (History of Tirhut by S. N. Singh, pp. 63, 159, 199 and 200) पढ़िये। जहाँ मैथिलों के यहाँ रक्त-शुद्धता के रक्षणार्थ ऐसे-ऐसे उपाय किए गए हैं और इतनी छान-बीन की जाती है वहाँ यह कब मानने की बात है कि किसी भूमिहार ने अपना विवाह-सम्बन्ध किसी मैथिल के यहाँ कर लिया है? यदि कहीं ऐसा नाजायज़ विवाह धोखे वा उद्दण्डता के वश हो भी गया हो तो मैथिल-समाज उसका अनुमोदन नहीं कर सकता। माना कि 'तिलकौआ विवाह' में धोखे की संभावना कम रहती है; पर क्या ऐसा विवाह भूमिहार और मैथिल (प्रकृत) के बीच कभी हुआ और मैथिल समाज ने मुक्तकंठ से उसको मान भी लिया?

इस प्रसंग में मैं अपने पाठकों का ध्यान श्री सहजानन्द जी के एक और विलक्षण कथन की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। आपने 'कान्यकुब्ज वंशावली' नामक पुस्तक के आधार पर निःशेष कान्य-

कुब्जों तथा साथ-साथ सरयूपारियों का भी, उन्हीं की एक शाखा-मात्र होने के कारण, मदारपुर के भूमिहारों के ही वंशज होना लिख मारा है। (ब्र० वं० वि० पृष्ठ ३७५)। पर यही दण्डी जी महाराज मुरादाबाद निवासी स्वर्गीय पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र (विद्यावारिधि) पर इस कारण रुष्ट होकर अपने जामे से बाहर हो गये कि उन्होंने 'वर्णविवेक-चन्द्रिका' के आधार पर भूमिहारों की उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से हुई बताई है। इस पुस्तक का संबन्धित श्लोक तथा विद्यावारिधि जी का किया हुआ उसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—"क्षत्रियस्य च वीर्य्येण, ब्राह्मणस्य योषिति। भूमिहार्य्य भवत्पुत्रो ब्रह्मक्षत्रस्य वेषभृत्"। अर्थ—क्षत्रिय के वीर्य्य से ब्राह्मणी में भूमिहार (भैंहार) पुत्र ब्राह्मण-क्षत्रिय का वेष धारण करने वाला हुआ। (विद्यावारिधि जी रचित 'जाति-निर्णय' पृष्ठ ८६ देखिये)। इस पर आप इस प्रकार व्यंग्य करते हैं—"क्या 'वर्णविवेक-चन्द्रिका' भी कोई आर्ष ग्रन्थ है जिससे वह भी स्वतंत्र प्रमाण मानी जावे? तो फिर कबीर साहब की साखी और दादूराम की बानी तथा गुलबकावली आदि को क्यों नहीं मानेंगे?" इत्यादि। (ब्र० वं० वि० भूमिका पृष्ठ ४)। यदि आपके इस व्यंग्य के उत्तर में कोई दूसरा यों व्यंग्य करे कि क्या 'कान्यकुब्ज-वंशावली' व्यासकृत महाभारत अथवा वाल्मीकि कृत रामायण है जो उसके सामने सिर झुका लिया जाए, तो आप इसका क्या उत्तर देंगे? यदि आप 'वंशावली' को मानते हैं तो 'चन्द्रिका' को नहीं मानने का आपका अधिकार ही क्या है? क्योंकि प्रामाणिकता किम्वा अप्रामाणिकता की दृष्टि से उक्त दोनों पुस्तकें एक-सी हैं।

यहाँ तक तो मैंने प्रकृत ब्राह्मणों के प्रति श्री सहजानन्द जी की मनोवृत्ति दिखाई। अब यहाँ से क्षत्रिय के प्रति आपकी मनोवृत्ति कैसी है, इसका भी थोड़ा दिग्दर्शन करा देना उचित जान पड़ता है। मैं

पहले लिख चुका हूँ कि आप 'विशेनवंश-वाटिका' के लेखक पर, यह लिख देने के कारण कि बगौछिया भूमिहार मयूर भट्ट की क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न हुए हैं, इतना बिगड़ गए कि विशेनों का वृषल चन्द्रगुप्त मौर्य्य की सन्तान होना लिख मारा। इसी प्रकार 'क्षत्रिय और कृत्रिम क्षत्रिय' के लेखक पर केवल यही लिख देने के दुःसाहस (?) के कारण कि 'आईन अकबरी' से भूमिहार और तेली या कहार और डोम में अन्तर नहीं प्रतीत हो सकता। आप इस कदर उबाल खा गए कि आपने क्षत्रियों के विषय में यही फतवा देकर अपने जले दिल की आग ठंडी की—"यदि हम भी 'शठे शाठ्यं कुर्य्यात्' इस न्याया-नुसार उलटकर यह कहने लग जावें कि तमाम इतिहास, पुराण और धर्म्मशास्त्र प्रभृति से भी क्षत्रियों, वर्ण-संकरों, जाटों, सीदियनों, अहीरों और कुर्मियों का भेद ब्रह्मा भी सिद्ध नहीं कर सकते तो हमारी समझ में पूर्व्वोक्त दुष्ट विचार वाले और प्रकृत दुष्टों की नानी मर जावे, सारी आई-वाई ही हजम हो जावे, हाहाकार मच जावे और जीतों को कौन कहे, मरे हुओं तक के कलेजे फट जावें। परन्तु हम ऐसी दुष्टता करना नहीं चाहते।" इत्यादि (ब्र० वं० वि० पृष्ठ २४२)। यह आपकी बड़ी कृपा है। पर आपने छोड़ा भी तो किसी को नहीं; अपने विरोधियों को मीठे और मनोहर वचनों से याद करने की विधि शायद आपने गोस्वामी तुलसीदास जी से सीखा है; क्योंकि आपकी ही तरह वे भी एक महात्मा थे जिन्होंने 'मानस' के समालो-चकों को क्रूर, कुविचारी, कुटिल, खल आदि की उपाधियों से विभूषित कर उनकी तुलना काक, बक, दादुर, बलाक आदि से की है! इतना ही नहीं; और भी आगे सुनिए। भूमिहारों की तरह क्षत्रियों में भी गौतम, किनवार, दोनवार आदि उपवर्ग होते हैं। इस समानता की व्याख्या आप यों करते हैं कि गौतम और किनवार तो भूमिहार पिताओं के द्वारा क्षत्रिया स्त्रियों में उत्पन्न हुए हैं; अतः मनु की

व्यवस्थानुसार उनकी संज्ञा 'मूर्द्धाभिषिक्त' हुई और 'मूर्द्धाभिषिक्त' कोषानुसार 'क्षत्रिय' शब्द के विविध पर्य्यायों में से है। इसी को कहते हैं थप्पड़ जमाकर आँसू पोंछना। पहले तो आपने गौतम और किनवार क्षत्रियों को संकर जाति बनाया; पुनः उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए उनके गले में क्षत्रियत्व का हार पहना दिया।* क्षत्रियों के भूमिहार सरीखे अन्य उपवर्गों के विषय में भी आपकी यही अटकलबाजी है—"इसी प्रकार अन्य भी भूमिहार ब्राह्मण के से नाम वाले क्षत्रियों को जानना चाहिये।" (ब्र० वं० वि० पृष्ठ ३०६ और ३०७)। पर इसके विरुद्ध कल्पना क्यों न की जाए कि दोनवार आदि भूमिहारों का निकास दोनवार आदि क्षत्रियों से हुआ है जैसा कि कतिपय विद्वान् मानते हैं ?

'ब्रह्मर्षिवंश-विस्तर' की मुख्य-मुख्य बातों की एक संक्षिप्त समालोचनाकर मैं श्री सहजानन्द जी की सेवा में अपना नम्र निवेदन किए देता हूँ कि ३६+४४०=४७६ पृष्ठों की यह पुस्तक लिखने में जो आपने महापरिश्रम किया है उसका सदुपयोग हुआ तब समझा जाता जब आप इसके बदले वर्णव्यवस्था तथा जाति-पाँति का मटियामेट कर देने वाला कोई ग्रन्थ लिखते; क्योंकि वर्ण और जाति के बखेड़े ने ही हिन्दुओं के बीच ऊँच-नीच का भाव पैदा कर दिया है जिसका कटु अनुभव आपको पग-पग पर हो रहा है।

अन्त में भूमिहार जाति की वर्त्तमान सामाजिक स्थिति बतलाकर अपने इस भूमिहार-विवरण का उपसंहार करता हूँ। महामहोपाध्याय

*यहाँ पर भी दण्डी जी ने फिर गड़बड़ मचाया है; कारण कि ब्राह्मण और क्षत्रिया की सन्तान 'मूर्द्धावषिक्त' न कि 'मूर्द्धाभिषिक्त' कहलाती है। पहली संकर और दूसरी क्षत्रिय है। पर आपको यह सूक्ष्म भेद मालूम न हुआ।

पं० हरिप्रसाद जी शास्त्री, एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल, भाग १ पृष्ठ ६१ में, जो ई० सन् १६०२ में छपा है, लिखते हैं—

"There are in Behar and in Benares a class of men known as Babhans or Bhumihars. Their position in Hindu Society is extremely anomalous. They claim to be Brahmans, but no good Brahmans such as the Kanojia and Sarayuparya. treat them on equal terms. They would neither intermarry with them nor eat with them etc."

अर्थ—बिहार और बनारस में एक जाति है जो बाभन या भूमिहार कहलाती है। हिन्दू समाज में उनका कौन-सा स्थान है, यह अति ही अव्यवस्थित है। ये ब्राह्मण होने का दावा करते हैं परन्तु कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण जैसे कन्नौजिए और सरयूपारी, इनके साथ समानता का व्यवहार नहीं करते, न वे इनके साथ विवाह-सम्बन्ध करते और न इनके साथ भोजन करते हैं।

उक्त शास्त्री जी ने सच्ची बात कह दी। कन्नौजिये और सरयूपारी भूमिहारों के यहाँ विवाह नहीं करते और न उनके यहाँ कच्ची रसोई भोजन करते हैं। बल्कि भूमिहार उक्त ब्राह्मणों के हाथ की कच्ची रसोई तक खा लेते हैं और भूमिहार के हाथ की कच्ची रसोई ब्राह्मण क्या, क्षत्रिय और वैश्य भी नहीं खाते; केवल शूद्र ही खाते हैं। भूमिहार, बिना किसी उमर के लेहाज से ब्राह्मणों को प्रणाम करते हैं; पर ब्राह्मण भूमिहारों को कभी नहीं प्रणाम करते। पर अब भूमिहारों का जातीय आन्दोलन इसके विरुद्ध हवा बहानी चाहती है।

भूमिहारों की तरह कायस्थ भी वर्णोन्नति के फेर में नाहक फँसे

हैं। नाहक इसलिये कहा कि प्रथम तो रूढ़िप्रिय हिन्दू जनता किसी भी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन देखना नहीं चाहती और द्वितीय कि वर्णव्यवस्था के देश-कल्याण की दृष्टि से घातक होने के कारण इसे किसी भी तरह कायम रखने के लिए हाय-हाय मचाना विवेक-संगत नहीं जान पड़ता। वर्तमान काल में कायस्थ जाति काफ़ी शिक्षित तथा सुसंकृत हो रही है और हिन्दू समाज में एक विशेष स्थान रखती है। पूर्वकाल में चाहे भले ही इस जाति में मद्य-मांसादि सेवन रूपी जो भी वीभत्स अवगुण भरे हों पर अब तो इसने अपने को काफी सुधार लिया है। पर इतने से इस जाति को सन्तोष नहीं; वह ब्राह्मण क्षत्रिय बनकर ही रहेगी। पर मैं कायस्थ भाइयों से कह देना चाहता हूँ कि उनके वर्णोन्नति-विषयक सभी प्रयास जब कि सुधार प्रेमियों की दृष्टि में वर्णव्यवस्था गिरी जा रही है, विफल होंगे और इष्टोन्नति विषयक उनके सारे प्रमाण निष्पक्ष आलोचना की एक हल्की-सी भी आँच के सामने मोम की तरह पिघल जाएँगे। मैं इसी सद्भावना से प्रेरित होकर कायस्थ जाति पर पहले शास्त्रीय और तत्पश्चात् ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करूँगा। प्रामाणिकता की दृष्टि से सबसे बलवती श्रुति है, तत्पश्चात् स्मृति और सबके अन्त में पुराण हैं। महर्षि व्यास अपनी स्मृति में लिखते हैं—

कायस्थ

श्रुति स्मृति पुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणंतु तयो द्वैधे स्मृतिर्वरा ॥ १०४ ॥

अर्थ—जहाँ पर श्रुति स्मृति और पुराण में विरोध देख पड़े, वहाँ श्रुति ही प्रमाण मानी जाएगी और जहाँ स्मृति और पुराण में मतभेद हो वहाँ स्मृति श्रेष्ठ मानी जाएगी। भाव यह कि किसी भी जाति की स्मृत्युक्त उत्पत्ति के सामने पुराणोक्त उत्पत्ति अप्रमाण है।

श्रुतियों में केवल ब्राह्मणादि चार वर्णों के अतिरिक्त किसी

जाति विशेष की उत्पत्ति नहीं मिलती; पर स्मृतियों और पुराणों में नानाविविध जातियों की उत्पत्ति तथा उनके कर्म हमको देखने को मिलते हैं। औशनस-स्मृति में कायस्थ नामक एक जाति की उत्पत्ति मिलती है, जिसे कुम्भकार (कुम्हार) तथा नापिता (नाई) की सजाति बताया गया है। शुक्राचार्य जी को उशना भी कहते हैं, अतः उनकी स्मृति को औशनस-स्मृति कहते हैं—

वैश्यायां विप्रतश्चौर्य्यात् कुम्भकारः प्रजायते।
कुलाल वृत्या जीवेत्तु नापिता वा भवन्त्यतः ॥ ३२ ॥
कायस्थ इति जीवेत्तु विचरेच्च इतस्ततः।
काकाल्लौल्यं यमात्क्रौर्य्यं स्थपते रथ कृन्तनम्।
आद्यक्षराणि संगृह्य कायस्थ इति कीर्त्तितः ॥ ३४ ॥

अर्थ—ब्राह्मण के द्वारा वैश्या स्त्री में चोरी से (अर्थात् जार कर्म द्वारा) कुम्हार उत्पन्न होता है। वह मिट्टी के बरतन आदि बनाकर अपनी जीविका करे। अथवा इस प्रकार क्षौरकर्म करने वाला नाई उत्पन्न होता है। वह अपने को कायस्थ कहकर कायस्थ की जीविका करता हुआ इधर-उधर भ्रमण करे। काग से चंचलता, यमराज से क्रूरता, थवई से काटना, इस प्रकार काक, यम और स्थापति इन तीन शब्दों के आद्य अक्षर लेकर कायस्थ शब्द की बनावट कही गई है, जो उक्त तीनों दोषों के द्योतक हैं। उक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि शुक्राचार्य कुम्हार, नाई तथा कायस्थ की उत्पत्ति एक की प्रकार से मानते हैं अथवा यों कहिए एक ही जाति के व्यक्तियों के ये जीविकानुसार तीन नाम हैं। व्यास-स्मृति, अध्याय १ श्लोक ११-१२ में कायस्थ नामक जाति को अन्त्यजों और गोमांस-भक्षियों में परिगणित किया है—

वणिक्-किरात-कायस्थ-मालाकार-कुटुम्बिनः।
बेरटो मेद-चाण्डाल-दास-श्वपच-कोलकाः ॥

एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः ।
एषां सम्भाषणात्स्नानं दर्शनादर्कवीक्षणम् ॥

अर्थ—बनिए, किरात, कायस्थ, माली, बँसफोड़, स्यारमार, कंजर, चांडाल, बारी, भंगी और कोल ये सब अन्त्यज कहे गये हैं। इनसे और दूसरे गोमांस-भक्षियों से बात करने पर स्नान करने से, और इनको देखने पर सूर्य का दर्शन करने से दोष दूर होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कायस्थों को चोर-डाकुओं से भी अधिक खतरनाक बताकर उनसे प्रजाओं की विशेष रक्षा करने का आदेश राजाओं को दिया है। याज्ञवल्क्य स्मृति, राजधर्मप्रकरण देखिए—

चाट-तस्कर-दुर्वृत्त-महासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजारक्षेत्कायस्थैश्चविशेषतः ॥ ३३६ ॥

अर्थ—राजा को उचित है कि उचक्के, चोर, दुराचारी, डाकू और विशेषकर कायस्थों से पीड़ा को प्राप्त हुई अपनी प्रजा की रक्षा करे।

ये कायस्थ तत्कालीन राजकीय कचहरियों में लेखकों (Clerks) तथा गणकों (Accountants) का काम किया करते थे, यही उनका जातीय पेशा था जैसा कि उक्त श्लोक की विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका से स्पष्ट मालूम होता है—

"कायस्था लेखका गणकाश्चतैः पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत्" ।

यह तो हुआ स्मृतियों के अनुसार कायस्थ जाति की उत्पत्ति तथा उसकी जीविका और सामाजिक स्थिति का वर्णन, जिससे मालूम होता है कि स्मृति-काल में यह जाति हेय दृष्टि से देखी जाती थी। स्मृतियों के मुकाबले में यद्यपि पुराण अप्रामाण्य हैं तथापि अपना कौतूहल निवारणार्थ हम लोग पुराणों की ओर भी चलें और देखें कि इस जाति के विषय में वे क्या कहते हैं। जातिविवेक नामक ग्रन्थ

में जो पुराणों के आधार पर लिखा गया है, लेखक और गणक का काम करने वाली कायस्थ नामक जाति की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—

माहिष्यवनितासूनुं वैदेहाद्यं प्रसूयते।
सकायस्थ इति प्रोक्त स्तस्य कर्म्म विधीयते॥
लिपीनां देश जातानां लेखनं स समभ्यसेत्।
गणकत्वं विचित्रं च वीजपाटी विभेदतः॥
वृत्यानयावर्त्तनं स्यात् कायस्थस्य विशेषतः।
अधमः शूद्रजातिभ्यः पंचसंस्कारवानसौ॥

अर्थ—माहिष्य की स्त्री में वैदेह से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह कायस्थ कहलाता है। उस का कर्म कहते हैं। वह देश की लिपियों (अक्षरों) को सीखकर लिखने का अभ्यास करे। इस जाति का गणकत्व, बीजगणित और पाटीगणित के विभेद से विचित्र है। कायस्थ लेखक और गणक का काम करके अपनी जीविका करे। वह शूद्रों से भी अधम है। वह पाँच संस्कारवाला है।

नोट—क्षत्रिय और वैश्या के संयोग से 'माहिष्य' तथा वैश्य और ब्राह्मणी के योग से 'वैदेह' उत्पन्न होता है। पुनश्च—

शिखां यज्ञोपवीतंच वस्त्रमारक्तमंभसा।
स्पर्शनं देवतानां च कायस्थः परिवर्ज्जयेत्॥

अर्थ—उक्त कायस्थ जाति के लिए शिखा रखना, जनेऊ पहनना, लाल वस्त्र धारण करना तथा देवताओं पर जल चढ़ाना ना है।

कितने महाशय मुझसे यह कहेंगे कि आपने अब तक जिन काय- ... का हाल लिखा वे संकर कायस्थ हैं; जिनसे चित्रगुप्तवंशीय आदि ... कायस्थ सर्वथा भिन्न हैं। वादी ने कहा तो ठीक; पर थोड़ी कसर गई; क्योंकि इतना तो उसको भी निर्विवाद रूप से मानना पड़ेगा

कि स्मृतियाँ प्रमाण की दृष्टि से पुराणों की अपेक्षा बलवती हैं और स्मृतियों के ही अनुसार कायस्थ नामक जाति संकर है और उसी का जातीय धन्धा लेखक और गणक का कर्म्म है। कोषकार भी कायस्थ नामक लेखक जाति के विषय में इसी मत को कि यह एक संकर जाति है, पुष्ट करते हैं। सुप्रसिद्ध कोषकार श्री आप्टे जी अपने संस्कृत अँगरेज़ी कोष में 'कायस्थः' शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं—2. The writer-caste (proceeding from a क्षत्रिय father and a शूद्र mother); अर्थात् लेखक-जाति जो क्षत्रिय पिता और शूद्रा माता से उत्पन्न होता है। अतः स्मृतियों के सामने पुराण अमान्य हैं।

अब प्रसंग-प्राप्त चित्रगुप्त-वंशीय कायस्थों पर विचार करता हूँ। यमद्वितीया के दिन इन कायस्थों के यहाँ चित्रगुप्त की पूजा तथा

चित्रगुप्त-वंशीय कायस्थ

कथा होती है जिसका आधार पद्मपुराण का उत्तर खंड है। इस कथा में कितनी अन्धा-धोपी खेली गई है, यह इन बेचारों को मालूम नहीं। मुझे तो इस कथा के व्यासकृत होने में ही सन्देह है। सम्भवतः ब्राह्मण पंडितों ने अपने इन कायस्थ यजमानों की रुचि रखने के लिये चित्रगुप्त विषय की एक कपोलकल्पित कथा गढ़कर पुराणों और तंत्रग्रन्थों में पीछे से घुसेड़ दिया जैसा कि आगे चलकर दिखाया जाएगा। पद्मपुराण, उत्तर खंड, सूत-शौनक सम्वाद में लिखा है कि समाधिस्थ ब्रह्मा जी के शरीर से एक सांवला मनुष्य अपने हाथों में कलम और दावात लिए हुए उत्पन्न हुआ और उसने उनसे अपना नाम, जाति तथा वर्ण के विषय में पूछा। ब्रह्मा ने कहा—

तं प्रहस्याब्रवीद् ब्रह्मा पुरुषं वै शरीरजम्।
चित्रगुप्तेतितेनाम, कायात्वं यद् विनिर्गतः॥२५॥

तस्मात्कायस्थ विख्यातो भव त्वं सर्वलेखकः।
धर्म्माधर्म्म विवेकार्थं धर्म्मराजपुरे सदा ॥२६॥

(चित्रगुप्तोत्पत्तिप्रकाशे)

अर्थ—ब्रह्मा ने अपने शरीर से उत्पन्न हुए पुरुष से हँसकर कहा कि तुम्हारा नाम चित्रगुप्त है और तुम मेरे काय (शरीर) से निकले हो; अतः तुम कायस्थ नाम से विख्यात होओ और धर्म्मराज की पुरी में सदा रहकर सभी मनुष्यों के शुभाशुभ कर्म्मों को धर्म्माधर्म्म के विचारार्थ लिखा करो। पुनश्च—

कायस्थः पंचमो वर्णो नतु शूद्रः कथंचन।
अतो भवेयुः संस्कारा गर्भाधानादयो दश ॥४॥

(कायस्थ-संस्कारप्रकाशे)

अर्थ—कायस्थ पाँचवाँ वर्ण है। कभी भी वह शूद्र नहीं है। अतः उसके गर्भाधानादि दश संस्कार होने चाहिए।

विद्वानों ने अपनी-अपनी अटकल से 'चित्रगुप्त' शब्द के नाना अर्थ करने में खूब खींचातानी की है जिससे कोई भी अर्थ समीचीन नहीं जान पड़ता; जैसे—(१) चित्रायते पापपुण्यविचारः, चित्रं करोति लिखतीत्यर्थः यमविशेषः (शब्द कल्पद्रुम), अर्थात् जो पापपुण्य विषयक विचारों का चित्रण करे, यमविशेष। यहाँ 'गुप्त' शब्द का अर्थ ही गायब। (२) चित्राणां पापपुण्यादिविचित्राणां गुप्तं रक्षणं यस्मात्; अर्थात् जिसके द्वारा पापपुण्यादि विचित्र पदार्थों की रक्षा होती हो (हिन्दी विश्वकोष)। (३) चतुर्गुप्तः स चित्रगुप्तः; अर्थात् जिनमें अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ये चारों ऋषि अन्तर्हित हों वे चित्रगुप्त हैं। (कायस्थ-मीमांसा)। (४) चित्तेगुप्तः स चित्रगुप्तः अर्थात् जो ब्रह्मा जी के चित्त में गुप्त (छिपा) हो वह चित्रगुप्त है। (५) चित्रं गुप्तं यस्य सः चित्रगुप्त; अर्थात्

'चित्रगुप्त' शब्द के विविध अर्थ

जिसकी तस्वीर छिपी हो वह चित्रगुप्त है। पर यथार्थ में ये सभी अर्थ बेसिर-पैर के हैं जो मानने योग्य नहीं हैं। अनुमानतः ब्रह्मशरीर-जात पुरुष का नाम केवल 'चित्र' था और 'गुप्त' उसकी उपाधि थी। पर ब्रह्मा ने उसका यह वैश्योचित नाम क्यों रक्खा ? यह एक पहेली है जिस पर अन्य विद्वानों को भी विचार करना चाहिए।

अब कुछ 'कायस्थ' शब्द पर भी विचार कीजिए। ब्रह्माजी ने अपने शरीर से उत्पन्न होने के कारण चित्रगुप्त को कायस्थ कहा। पर यदि ब्रह्माबाबा को 'स्था' धातु का ही प्रयोग करना मंजूर था तो उन्हें चित्रगुप्त को कायस्थ न कह कर 'कायोत्थ' कहना चाहता था। इसके दो कारण हैं—(१) 'स्था' धातु का अर्थ है गतिनिवृत्ति अर्थात् ठहर जाना, खड़ा होना इत्यादि; न कि उत्पन्न होना; पर 'उद्+स्था' का अर्थ है उठना, उत्पन्न होना; जैसे, कल्पद्रुमोत्थैरव-कीर्य्य पुष्पैः (रघुवंश); निषाद-विद्धांडज-दर्शनोत्थः (रघुवंश) इत्यादि। (२) चित्रगुप्त को 'कायस्थ' कहने में सबसे भारी आपत्ति तो यह थी कायस्थ नाम की एक संकर जाति स्मृति-काल में पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी। पर बड़े आश्चर्य की बात है कि बुढ़ऊ बाबा ने अपने सुयोग्य पुत्र मुंशी चित्रगुप्त जी के गले में एक संकर जाति का नाम तथा उसकी जीविका भी क्यों बाँध दी और मुंशी जी ने भी बिना कुछ चींचपड़ किए ही उन्हें शिरोधार्य्य क्यों कर लिया ? कहीं बुढ़ऊ बाबा को इस बुढ़ौती में मज़ाक तो नहीं सूझा था ! अथवा हिन्दू के वृद्ध होने के कारण उनकी अक्ल सठिया तो नहीं गई थी !! चित्रगुप्त के प्रसंग में पूज्य बाबा साहब ने आगे चल कर इससे भी गुरुतर ग़लतियाँ की हैं जिन्हें देखने से मेरा दूसरा ही अनुमान ठीक जँचता है कि बवजह ज़ईफ़ी उनकी अक्ल पर ज़रूरी पर्दा पड़ गया था ! अन्यथा अपने बच्चे के साथ वे मज़ाक क्यों करेंगे !!

चित्रगुप्त के स्ववर्ण-विषयक जिज्ञासा करने पर भी ब्रह्माजी ने उन्हें पञ्चम वर्ण बताया। यहाँ पर भी ब्रह्माजी ने भारी ग़लती की; क्योंकि मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने केवल चार ही वर्ण माने हैं। मनुस्मृति देखिए—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्तीति पञ्चमः॥ मनु १०।४॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, ये तीनों वर्ण द्विजाति कहलाते हैं, क्योंकि इनका उपनयन संस्कार होता है। चौथी एक जाति शूद्र है। पाँचवाँ वर्ण कोई नहीं है।

मनुस्मृति स्वायंभुव मनु की स्मृति है जो स्वयंभू (ब्रह्मा) के पुत्र थे। मालूम होता है कि वृद्ध पिता ने अपने पुत्र की उक्त व्यवस्था पर पानी फेर कर चित्रगुप्त की सुविधा के लिए एक पञ्चम वर्ण की भी सृष्टि कर दी; पर ग़फ़लत से उन्हें मालूम न हुआ कि उनकी इस नवीन व्यवस्था ने चित्रगुप्त को किस रसातल में पहुँचा दिया! क्योंकि वर्ण-परम्परा में उच्च-नीच की दृष्टि से यदि चौथा स्थान शूद्र का है तो पाँचवाँ वर्ण शूद्र से भी नीच होगा और जाति-विवेक का कायस्थ विषयक यह वचन कि 'अधमः शूद्र जातिभ्यः' पूर्ण रूप से चरितार्थ होगा। इसके अतिरिक्त ब्रह्माजी ने 'नतु शूद्रः कथंचन' अर्थात् कायस्थ कभी भी शूद्र नहीं है यह पेशगी कैफियत भी क्यों दे दिया और फिर तब भी कायस्थ के लिए उन्होंने केवल दस ही संस्कार क्यों बताये? यदि वे कायस्थ जाति को द्विजातियों के अन्तर्गत समझते होते तो वे इसके लिए पूरे सोलह संस्कारों की व्यवस्था देते। दस संस्कार तो शूद्र के होते हैं। व्यास-स्मृति का प्रथम अध्याय देखिए—

नवैता कर्णवेधान्ता मंत्रवर्जं क्रियः स्त्रियः।
विवाहो मंत्रतस्तस्याः शूद्रस्यामंत्रतोदशः॥१५॥

अर्थ—गर्भाधान से लेकर कर्णवेध तक जो ६ संस्कार हैं वे स्त्रियों के बिना मंत्र के होते हैं। पर (द्विजाति) स्त्री का विवाह समंत्र होता है और शूद्रों के ये ही दस संस्कार बिना मंत्र के होते हैं।

ब्रह्माजी की बिना माँगी हुई कायस्थ विषयक यह कैफ़ियत और फिर भी केवल दस संस्कारों की व्यवस्था से मालूम होता है कि दाल में अवश्य कुछ काला था। यदि पञ्चम वर्ण के विषय में कोई यह दलील पेश करे कि जैसे महाभारत को पञ्चम वेद कहते हैं और ऐसा कहने से उसका महत्त्व कुछ घट नहीं जाता, वैसा ही कायस्थ जाति का महत्त्व भी पञ्चम वर्ण होने से कुछ कम नहीं होता। पर यह उदाहरण लागू नहीं है, कारण कि वेदों में परस्पर उत्कृष्टता और निकृष्टता की भावना नहीं है जो वर्ण-व्यवस्था में विद्यमान है। सच पूछिए तो इसी भेद-भावना की नींव पर ही वर्ण-व्यवस्था की इमारत खड़ी है।

अब चित्रगुप्त के विवाह सम्बन्ध की वार्ता सुनिए। इनकी दो स्त्रियाँ थीं—(१) सुशर्मा ब्राह्मण की कन्या शुभावती (ब्राह्मणी) जिसके आठ पुत्र हुए और (२) श्राद्धदेव मनु की पुत्री नन्दिनी (क्षत्रिया) जिसके चार पुत्र हुए। दोनों कन्याओं का वर की अपेक्षा उत्कृष्ट वर्ण होने के कारण दोनों की ही सन्तानें प्रतिलोमज हुईं। इस पर तुर्रा यह कि इन आठ पुत्रों का विवाह स्वजातीय कन्याओं से अभाव के कारण नागजाति के १२ कन्याओं से हुआ। अब पाठकगण स्वयं विचार लें कि इन चित्रगुप्त वंशीय कायस्थों को वर्ण-परम्परा में किस स्थान पर बिठाया जाय और अब इनका रक्त शुद्ध है या संकर। चित्रगुप्त के इन १२ पुत्रों में कुछ के नाम एकदम आधुनिक ढंग के हैं; जैसे—भानुप्रकाश, रामदयालु, श्यामसुन्दर, दीनदयालु, राघवराम आदि, जिससे चित्रगुप्त कथा के काल्पनिक, प्रक्षिप्त और अव्यास कृति होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह

जाता। कायस्थकुल-भास्कर (चौथा संस्करण) पृष्ठ ४४ में उद्धृत पद्मपुराण उत्तर खण्ड, सूत-शौनक सम्वाद, श्लोक ३६-४२ पढ़िये। कोई-कोई चित्रगुप्त का विवाह एक ब्राह्मणी और दूसरी क्षत्रिया से हुआ देखकर उन्हें ब्राह्मण मानते हैं; पर यदि वे ब्राह्मण थे तो ब्रह्मा ने उन्हें पंचम वर्ण क्यों कहा ? वस्तुतः चित्रगुप्त की सारी कथा ही चंडूखाने की गप्प है।

चान्द्रसेनीय कायस्थ

चित्रगुप्तवंशीय कायस्थों की तरह कायस्थों का एक उपभेद चान्द्रसेनीय कायस्थ है जो अपने को राजा चन्द्रसेन की सन्तान होने के कारण क्षत्रिय कहते हैं। इस उपभेद की कथा स्कन्दपुराण, रेणुका महात्म्य, परशुराम-दालभ्य-सम्वाद में आई है। परशुराम के भय से राजा चन्द्रसेन की गर्भवती स्त्री ने दालभ्य ऋषि के आश्रम में भाग कर शरण ली। ऋषि ने गर्भस्थ बालक को परशुराम के क्रोध से इस शर्त पर बचाया कि वह क्षत्रियत्व* से गिराकर चित्रगुप्तवंशीय कायस्थ धर्मा बना दिया जाय। निदान ऐसा ही हुआ। गर्भोत्पन्न बालक ने परशुराम की आज्ञा से क्षात्र-धर्म्म से बहिष्कृत होकर कायस्थ-धर्म्म कबूल किया। पर इसने किसी जाति की स्त्री से विवाह कर अपना वंश चलाया, यह मालूम करने के लिये 'वर्ण-विवेक-चन्द्रिका', श्लोक ७६-८२ तक पढ़िये। कर्म्मकार के वीर्य्य से कायस्थ की स्त्री में सिन्दुरी नाम कायस्थ उत्पन्न होता है।

---

*वहाँ श्लोक है—"रामाज्ञया स दाल्भ्येन क्षात्रधर्म्माद्बहिष्कृतः। दत्तः कायस्थधर्म्मोऽस्मै चित्रगुप्तस्य यः स्मृतः॥ अर्थात् उस बालक को क्षात्र-धर्म्म से बहिष्कृत करके, कायस्थ धर्म्म दिया गया, जिससे साफ है कि क्षत्रिय से भिन्न और निकृष्ट कायस्थ हैं, अन्यथा क्षात्र-धर्म्म से बहिष्कार रूपी दंड का अर्थ ही क्या होता ?

राजा चंद्रसेन की रानी के उक्त बालक ने किसी सिन्दुरी कायस्थ की कन्या से विवाह किया जिससे चान्द्रसेनी नाम संकर कायस्थ उत्पन्न हुए। लिखा है—

"सोऽपि कायस्थतनयां सिन्दुरस्याप्तवानिह।
कायस्थाश्चान्द्रसेनीया वर्णसंकरजातयः" ॥८१॥

इस प्रसंग में हम लोगों को यह भी जान लेना है कि हमारे हाई कोर्ट शास्त्रीय दृष्टि से कायस्थ जाति को किस वर्ण में स्थान देते हैं। यदि भिन्न-भिन्न हाई कोर्टों के कायस्थ-विषयक निर्णय मिलाए जाएँ तो उनमें मत-भेद पाया जाता है। कलकत्ता हाई कोर्ट के निर्णयानुसार बिहार का कायस्थ समुदायमात्र शूद्र है (a)। इतना ही नहीं उक्त हाई कोर्ट ने तो यहाँ तक लिख मारा है कि किसी कायस्थ का विवाह ताँती जाति की स्त्री (b), अथवा डोम जाति की भी स्त्री (c) के साथ हो जाना शास्त्रीय दृष्टि से वैध है; क्योंकि ये सभी जातियाँ एक ही शूद्र जाति के केवल विविध उपजाति (Sub-castes) मात्र हैं। पर इलाहाबाद हाई कोर्ट ने पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के द्वादशविध चित्रगुप्तवंशीय कायस्थों को क्षत्रिय माना है (d)

(a) Raj Kumar Lal *vs.* Biseshwar Dayal, (1884) I. L. R. 10, Cal., 688. This has been followed in Asita *vs.* Nirode 20 C. W. N. 801=35 I. C. 127 (*see* P. C. Decision in 24 C. W. N. 794.)

(b) Biswanath *vs.* Sm. Shorasibala 48 C, 926=25 C. W. N. 639=66 I. C. 590.

(c) Bhola *vs.* King Emperor 51 C, 488=28 C. W. N. 323=25 Cr. L. J. 997=81 I. C. 709.

(d) Tulsi Ram *vs.* Behari Lall (1890) I. L. R. 12, All., 328, 334 F. B.

इसकी देखा-देखी पटना हाई कोर्ट ने बिहार के भी उक्त द्वादशविध कायस्थों के चित्रगुप्त के ही वंशज होने तथा उनकी पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध के उक्त कायस्थों के यहाँ रोटी-बेटी का सम्बन्ध होने के कारण, उन्हें भी क्षत्रिय वा कम से कम द्विज होने की व्यवस्था दी है (e)। पटना हाई कोर्ट के सम्बन्धित जजमेंट के लिखनेवाले हैं कायस्थकुलभास्कर स्वर्गीय जस्टिस् सर ज्वालाप्रसाद महोदय, जिस पर आपके साथ सम्बंधित मुकद्दमे की सुनवाई के समय बैठने वाले जस्टिस् सर बकनिल महोदय ने केवल '1 agree' (मैं सहमत हूँ), ये दो शब्द लिख कर स्वानुमति-सूचक अपना हस्ताक्षर कर दिया है। प्रायः ४८ पृष्ठों का यह लम्बा 'जजमेंट The Indian Law Reports, Patna Series, Volume VI, 1927, pp. 506-553 में प्रकाशित हुआ है। यह जजमेंट् एक सार्वजनिक लेख (Public Document) होने के कारण सर्वसाधारण की आलोचना-प्रत्यालोचना के लिए सर्वदा खुला है। इस मुकद्दमे के वादी तथा प्रतिवादी दोनों गया ज़िले के चित्रगुप्तवंशीय कायस्थ तथा परस्पर दायाद थे। वादी का दावा था कि उसके और प्रतिवादी के पूर्वज सगे भाई तथा पारिवारिक सम्पत्ति के तुल्य अधिकारी थे, अतः उसका विभाग करके उसका अर्द्ध भाग प्रतिवादी से दिला दिया जाय इत्यदि। प्रतिवादी का उत्तर था कि विवादाधीन सम्पत्ति को उसके पूर्वज ने अपने जेठे भाई से उसके दत्तक-पुत्र, तथा स्वयं जेठे भाई ने नाना से उसके दत्तक-पुत्र होने की हैसियत से पाया था; अतः उत्तराधिकार का साधारण नियम उक्त गोदों से ंडित हो जाने के कारण वादी के पूर्वज का उक्त सम्पत्ति पर कोई हक़ नहीं था, जो वादी के दावानुसार उसका विभाग किया जाए .इत्यादि। गया के

(e) Ishwari Prasad *vs.* Rai Hari Prasad La. 7. L. T.

सब-जज (Sub-Judge) महोदय ने कायस्थ जाति का वर्ण शूद्र निर्द्धारित कर नाना के द्वारा दौहित्र का गोद लेना वैध समझा और वादी के दावे को खारिज कर दिया, जिस पर उसने पटना हाई कोर्ट में अपील दायर की अपील में हाई कोर्ट के पूर्वोक्त दोनों माननीय जजों ने यह तजवीज की कि वादी उक्त सम्पत्ति पर अपना संयुक्त दखल बिना प्रमाणित किए एवं उक्त गोदों को बिना रद्द करवाए कोई दादरसी नहीं प्राप्त कर सकता; पर दखल और गोद, दोनों के सम्बन्ध में तमादी लग जाने के कारण उन पर अब विचार ही नहीं किया जा सकता। अंत में दोनों फ़रीकों ने सुलह कर ली और उसी सुलहनामे के आधार पर अपील फैसल कर दी गई। आलोचना-जजमेंट् का पृ० ५५० देखिए।

गोद-विषयक प्रश्न पर मुख्यतः कौन-सा विचार करना था, उसे पाठकों को भी जान लेना चाहिये। धर्मशास्त्रों के अनुसार कोई भी द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य) अपने दौहित्र को गोद नहीं ले सकता; अतः प्रतिवादी के कथनानुसार उसके पूर्वज जेठे भाई का अपने नाना द्वारा गोद लिए जाने का वैधत्व किम्वा अवैधत्व कायस्थ जाति के क्रमशः शूद्रत्व वा द्विजत्व सिद्ध होने पर निर्भर था। पर जब उक्त गोद का प्रश्न तमादी-मुशीर हो जाने के कारण उठा ही नहीं तो पटना हाई कोर्ट द्वारा कायस्थ जाति के वर्ण पर विचार करने तथा उसका क्षत्रियत्व (द्विजत्व) सिद्ध करने के लिए केवल दो-चार मुद्रित पृष्ठों के नहीं, बल्कि ४८ पृष्ठों के मुँह में स्याही पोतने का व्यर्थ प्रयास क्यों किया गया, यह समझ में नहीं आता। उक्त हाई कोर्ट तथा उसके जजों के प्रति पूर्ण सम्मान का भाव रखते हुए भी मुझे विवश होकर खेद के साथ लिखना पड़ता है कि महामान्य सर जस्टिस् ज्वाला प्रसाद जी जैसे कानून-शास्त्र के एक प्रकाण्ड विद्वान् का अपने जजमेंट में एक अनावश्यक वस्तु को इतना विस्तार देना शोभा नहीं

देता। यदि कहा जाय कि कायस्थ जाति का वर्ण चिरकाल से विवादग्रस्त था; अतः उस विवाद का निबटारा सदा के लिए कर देने की प्रबल इच्छा ही आपके इस लम्बे जजमेंट् की जन्म देनेवाली हुई। पर याद रहे कि जजमेंट् में केवल उन्हीं बातों को तर्क और प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जाता है जिस पर वह अन्त में ले जाकर आधारित किया जाता है। पर यदि जजमेंट् उन बातों पर आधारित नहीं हुआ तो वे केवल आकस्मिक विषयों की चर्चा-मात्र (Obiter Dictum) हुई। ठीक यही दशा सर ज्वालाप्रसाद के कायस्थ-द्विजत्व-निर्णय की है। उसके द्वारा वादी वा प्रतिवादी की स्थिति में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं हुआ। दखल और गोद के प्रश्न पर, तमादी के कारण, विचार नहीं होने से वे जहाँ के तहाँ ही रह गए और बेचारा वादी जिस प्रकार खाली हाथ आया था उसी प्रकार उसको खाली हाथ जाना पड़ता यदि उन फ़रीकों के क़ानूनी सलाहकारों की योग्य-सहायता तथा न्यायालय के सुझाव से उनमें सुलह नहीं होती।

कोई-कोई कहते हैं कि चूँकि गया के सब-जज ने कायस्थों को शूद्रत्व की व्यवस्था दे दी थी, अतः उसके खण्डन में जस्टिस् सर ज्वालाप्रसाद जी ने उन्हें द्विजत्व की व्यवस्था देते हुए इतना लम्बा जजमेंट् लिख मारा। यह जजमेंट् चाहे जिस अभिप्राय से लिखा गया हो, अथवा इसका देनेवाला चाहे कोई भी हो, इससे मेरा कुछ भी मतलब नहीं। मेरा मतलब तो उन तर्कों, युक्तियों तथा प्रमाणों पर स्वतंत्र रूप तथा निष्पक्ष भाव से विचार करना है, जिनके द्वारा सर ज्वालाप्रसाद जी ने कायस्थ जाति का द्विजत्व सिद्ध करने का महा-प्रयास किया है। यदि गया के सब-जज महोदय की व्यवस्था के निराकरणार्थ भी यह प्रयास किया गया हो तो हाई कोर्ट की तजवीज में इसका कुछ भी उपयोग नहीं होने से इसका मूल्य केवल एक Obiter Dictum से कुछ भी अधिक नहीं है।

आलोचनाधीन व्यवस्था पर विचार करने के पूर्व मैं पाठकों को सर्वप्रथम सर ज्वालाप्रसाद जी के मूल सिद्धान्तों को बतला देना चाहता हूँ जिनके आधार पर तर्क कर आपने कायस्थों के द्विज होने का ढिंढोरा पीटा है। आप श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणादि ग्रन्थों के चातुर्वर्ण्य के इस अलंकारिक उत्पत्ति-वर्णन को मानते हैं कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू (जंघा) से वैश्य तथा पैर से शूद्र उत्पन्न हुए। इसके अतिरिक्त आप यह भी मानते हैं कि प्रारंभ में किसी भी व्यक्ति का वर्ण उसके निजी गुण, कर्म्म और स्वभाव पर निर्भर था, किन्तु कालान्तर में यह पैत्रिक हो गया; अर्थात् यह माना जाने लगा कि पुत्र में गुण हो वा दोष, उसे अपने पिता का ही वर्ण प्राप्त हो जाता है। अभिप्राय यह कि जो वर्ण जन्मानुसार एक बार निश्चित हो चुका उसमें कर्मानुसार किसी प्रकार का परिवर्त्तन बाद में नहीं हो सकता। विचाराधीन जजमेंट् के पृष्ठ ५२०, ५२१ और ५१८ देखिए।

अब आपके ही मंतव्यानुसार सर्वप्रथम चित्रगुप्त का ही वर्ण निश्चय किया जाता है। मैं पहले पद्मपुराण (उत्तर खण्ड), ब्रह्मपुराण (पुलस्त्य-दत्तात्रेयसम्वाद), विज्ञानतंत्र (सप्तम पटल) आदि ग्रन्थों का प्रमाण देते हुए यह बता चुका हूँ कि जहाँ कहीं चित्रगुप्त की उत्पत्ति लिखी मिलती है वहाँ उन्हें ब्रह्मा के 'काय' अर्थात् शरीर से उत्पन्न हुआ लिखा मिलता है। पर यह कहीं भी नहीं स्पष्ट करके लिखा गया है कि वे ब्रह्मा के किस अंग से उत्पन्न हुए हैं, अतः उनका वर्ण अनिश्चित तथा संदिग्ध है। इसी भाव के द्योतनार्थ उन्हें चातुर्वर्ण्य में न रखकर उन्हें पञ्चम वर्ण माना गया है। पद्मपुराण में लिखा है—'अतः कायस्थ जातिस्ते चित्रगुप्तेति नाम ते। कायस्थः पंचमो वर्णो न तु शूद्रः कथंचन'। ब्रह्मपुराण में तो कायस्थ नामक एक वर्ण ही मान लिया गया है जो पञ्चम वर्ण का

ही अभिप्राय प्रकट करता है—'सहोवाच कायस्थ वर्णो नाम्ना चित्रगुप्तः' इत्यादि। विज्ञान-तंत्र कहता है—'कायस्थो पंचयो वर्णो न तु शूद्रः कथंचन'। सारांश यह कि चित्रगुप्त को स्पष्ट शब्दों में क्षत्रिय कहीं भी नहीं लिखा। उनके क्षत्रियत्व की पुष्टि में सर ज्वालाप्रसाद जी ने एक श्लोक भी नहीं उद्धृत किया है। अतः जब स्वयं चित्रगुप्त ही नहीं क्षत्रिय सिद्ध हुए तो उनके वंशधर द्वादशविध कायस्थ क्योंकर क्षत्रिय माने जा सकते हैं? वर्ण-विवेक चन्द्रिका में तो चित्रगुप्त तथा उनके पुत्रों को स्पष्ट शब्दों में शूद्र लिखा है—

'कायस्थ-संज्ञको वर्णश्चतुर्णां तदनन्तरम्।
समुद्भू तोयतस्त्वं हि शूद्रवर्णेप्रतिष्ठितः ॥५॥
वैश्यकन्याः शूद्रकन्याः प्राप्तास्ते चैत्रगौप्तिका।
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च सच्छूद्रेषु प्रकीर्तिताः ॥१३॥
ममस्वेदात्समूद्भूतः कायस्थो जातितुर्यगः* ।
चित्रगुप्तेति नाम्ना वै यमलोके व्रजाधुना ॥४६॥
कायस्थानां त्रयो भेदाः संप्रोक्ताः प्राणवल्लभे।
चित्रगुप्तात्मजाः सर्वे कायस्थाः शूद्रसंज्ञकाः' ॥८३॥

अर्थ—सरल है, अतः नहीं लिखा। विष्णु-रहस्य के २२वें अध्याय में जहाँ देवलोकनिवासियों का वर्णनिर्देश किया गया है, चित्रगुप्त का स्पष्टतः शूद्रवर्ण लिखा है—'चित्रश्च चित्रगुप्तश्च वंदिवेतालकिन्नाराः विद्याधरादयो येऽन्ये शूद्रवर्णाः समस्तशः'। इसी प्रसंग में यम को भी शूद्र, उनके दूसरे रूप धर्म को ब्राह्मण कहा गया है। चान्द्रसेनीय कायस्थों की उत्पत्ति से भी पता चलता है कि क्षत्रिय और कायस्थ, ये दोनों भिन्न जातियाँ हैं तथा जाति में कायस्थ क्षत्रिय से छोटा है। यदि ऐसी बात न होती तो चन्द्रसेन

---

*चतुर्थ जाति (शूद्र)।

की रानी के बालक क्षात्र-धर्म्म से निकाल बाहर करने तथा उसे कायस्थ-धर्म्म में नियोजित करने का अर्थ ही क्या होता? इसके अतिरिक्त यह भी जान लेना चाहिए कि परशुराम ने केवल क्षत्रियों का ही संहार किया था, कायस्थों का नहीं। अतः यदि कायस्थ भी क्षत्रिय थे, तो उनका भी संहार होना चाहता था; पर हुआ नहीं। लेखकों और गणकों की जान, उन्हें वैश्य-शूद्रों की तरह अक्षत्रिय समझ कर बख्श दी गई। यह कहीं भी लिखा नहीं मिलता कि शस्त्रधारी वीर सैनिकों की तरह ही कान में क़लम खोंसे और हाथ में दवात पकड़े हुए मुंशी जी (लेखक और गणक) लोग भी परशुराम के फरसे के घाट उतार दिए गए। उक्त रानी के गर्भजात बालक के विषय में सर ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि यद्यपि वह बालक फौजी पेशे से वंचित किया गया, तो भी उसे लिखने-पढ़ने का पेशा मिला जो क्षत्रियों का ही धन्धा है और क्षत्रिय जाति के तथाकथित इस धन्धे के सबूत में आप अमरकोष, क्षत्रिय वर्ग, श्लोक १६ और १७ की दुहाई देते हैं, जिनमें लिपिकार, लेखक आदि शब्द आए हैं। पर क्षत्रिय-वर्ग में पुरोधा, पुरोहित और कंचुकी शब्द भी आए हैं; पर इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि जिन लोगों के लिये पुरोधा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे सभी क्षत्रिय हैं; पुरोधा पुरोहित कंचुकी, आदि ब्राह्मण होते हैं। पुरोहित का ब्राह्मण होना तो सर्वविदित ही है और कंचुकी के ब्राह्मणत्व ज्ञान के लिये आप्टे जी का कोष देखिए—'अंतःपुरचरो वृद्धोविप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कंचुकीत्यभिधीयते'। अतः जैसे पुरोधा आदि क्षत्रिय-वर्ग में उल्लिखित हो जाने से कुछ क्षत्रिय न हो गए; वैसे ही उस वर्ग में उल्लखित हो जाने मात्र से ही लेखक आदि क्षत्रिय नहीं बन गए। क्षत्रिय-वर्ग में ये सब इस कारण परिगणित किए गए कि ये सब राजदरबार के अंग माने जाते थे। क्षत्रिय शब्द का अर्थ होता

है भय, विपद् और नाश से रक्षा करने वाला। इस शब्द की संस्कृत व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—क्षतात् त्रायते इति क्षत्रः। तस्यापत्यं जातिर्वा क्षत्रियः। अतः आश्चर्य है कि जिन कायस्थों को महर्षि याज्ञवल्क्य ने चोरों और डकैतों से भी बढ़कर खतरनाक मानकर राजाओं को उनसे अपनी प्रजाओं की सदा रक्षा करने में सावधान रहने की सख्त ताकीद की है, उन्हें भी सर ज्वालाप्रसाद जी न्यायाधीश ने, बिना किसी सन्तोषजनक प्रमाण के, क्षत्रिय लिख मारा। वस्तुतः 'क्षत्रिय' और 'कायस्थ' ये दोनों शब्द उत्तर और दक्षिण, दोनों ध्रुवों की तरह ठीक एक दूसरे के प्रतिकूल होकर दो विरुद्ध भावनाओं के द्योतक हैं। वह्निपुराण (पाशुपतदानध्याय) भी याज्ञवल्क्य की ही तरह कायस्थ जाति के विरुद्ध वैसी ही भावना को पुष्ट करता है—'चाट—चारण--चौरेभ्यो वध-बंध भयादिभिः। पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् कायस्थेभ्यो विशेषतः' ॥ अर्थ—राजा को उचित है कि वह ठगों, चापलूसों, और चोरों तथा विशेष करके कायस्थों से वध (हत्या) और बन्ध (कैद) के द्वारा सताई जाती हुई प्रजा की रक्षा करे।

जब सर ज्वालाप्रसाद जी का जी श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों से नहीं भरा तो आपने विज्ञान-तंत्र और व्योमसंहिता की शरण ली। इसी को कहते हैं, 'डूबते को तिनका सहारा'। जान पड़ता है कि आप को कहीं से वंगदेशीय पण्डित ताराचरण शर्म्मा-लिखित 'कायस्थानां क्षत्रियत्व-प्रतिपादक व्यवस्था-पत्रम्' हाथ लग गया था, जिसमें प्रामाण्य-ग्रन्थों के कतिपय श्लोकों का पाठ जान-बूझकर बदल दिया गया है। उदाहरण-स्वरूप आपको विज्ञान-तंत्र से सम्बन्धित श्लोक का यह जाली पाठ वहीं से प्राप्त हुआ मालूम होता है—'कायस्थः क्षत्रियो वर्णो न तु शूद्रः कदाचन'। ग्रन्थ के अधिक प्राचीन संस्करण में उक्त श्लोकार्द्ध का यह पाठ दिया है—'कायस्थः पंचमो वर्णो न तु

शूद्र कथंचन'। इसमें कायस्थों को पुराण-ग्रंथों की तरह पञ्चम वर्ण लिखा है। यदि थोड़ी देर के लिए आपके ही स्वीकृत पाठ को शुद्ध मान लें तो उस हालत में भी आपका ध्येय सिद्ध होते नहीं दीखता; क्योंकि यदि विज्ञान-तंत्र के मत से कायस्थ क्षत्रिय हैं तो जैसा मैं पहले कह आया हूँ, उनके सम्बन्ध में 'न तु शूद्रः कदाचन', यह बिना माँगी हुई कैफ़ियत देने का मतलब क्या? क्या इस कैफ़ियत से यह ध्वनि नहीं निकलती कि जनता इनके प्रति शूद्र भावना रखती थी जिसे दूर करने के प्रयत्न में यह कैफियत दे दी गई? इस कैफियत से तो यह सन्देह स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है कि दाल में अवश्य कुछ काला है और कायस्थों का क्षत्रियत्व संदिग्ध है। विज्ञान-तंत्र के रच-यिता ने पहले तो कायस्थों के गले में क्षत्रियत्व का हार पहना दिया; पर आगे के श्लोक में उक्त संदिग्ध व्यवस्था की कलई खुल गई। उसने कायस्थों के लिए केवल गर्भाधानादि दस ही संस्कार बताए जो वस्तुतः व्यासस्मृति के अनुसार शूद्रों के लिए विहित हैं और जिनका उल्लेख हो चुका है। इसके अतिरिक्त जहाँ मनु, याज्ञवल्क्य आदि धर्म्मशास्त्रकारों ने नाम-करण-संस्कार दसवें वा बारहवें दिन वा नहीं तो सूतक बीत जाने पर करने को लिखा है वहाँ विज्ञान-तंत्रकार ने कायस्थों के लिए 'शताह' अर्थात् १०० दिनों पर उक्त संस्कार करने की व्यवस्था दी है, जिससे उनका चातुर्वर्ण्यवाह्यत्व अर्थात् पंचम वर्णत्व ही, जो उक्त तंत्र-ग्रन्थ के शुद्ध पाठ के अनुसार है, सिद्ध होता है। विज्ञान-तंत्र के उक्त जाली पाठ के अनुसार परस्पर संगतिहीन इन व्यवस्थाओं पर अधिक लिखना व्यर्थ है।

अब व्योम-संहिता को लीजिए। उसमें 'कायस्थो ब्रह्संज्ञकः', 'कलौ हि क्षत्रियः' आदि वचन हैं। पर 'कायस्थो ब्रह्मसंज्ञक', सर ज्वालाप्रसाद जी द्वारा स्वीकृत इस पाठ की भी शुद्धता में सन्देह है, कारण कि इस पाठ की जगह 'कायस्थ वर्णसंज्ञकः', यह पाठ मिला

है, जिसका बहुव्रीहि समास इस प्रकार होता है—'कायस्थः एव वर्ण-संज्ञा यस्य सः' अर्थात् कायस्थ ही जिसकी वर्ण-संज्ञा है वह, जिससे पंचम-वर्ण का भाव प्रकट होता है। पर मैं इस पाठ के अनुसार तर्क न कर उक्त जस्टिस महोदय के पाठानुसार ही तर्क करूँगा। यदि कायस्थ ब्रह्मसंज्ञक अर्थात् ब्राह्मण हैं तो सर ज्वाला-प्रसाद जी को उन्हें ब्राह्मणत्व की ही सर्टिफ़िकेट प्रदान करना चाहता था। न मालूम आपने अपनी बिरादरी के अभ्युदय-साधक ऐसे सुवर्णमय अवसर को अपने हाथ से क्यों निकल जाने दिया! और यदि अन्य युगों में कायस्थ ब्राह्मण थे तो वे कलि में क्षत्रिय कैसे हो गए? यह वर्ण-परिवर्त्तन आपके सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने के कारण पुनः आपके ही द्वारा और अपने ही पक्ष की पुष्टि में प्रमाण-रूप से नहीं पेश किया जा सकता। आपके मन्तव्यानुसार वर्ण मूलतः पैतृक न होकर बल्कि योग्यता-विशेष पर निर्भर था; पर बाद में वह पैतृक हो गया और योग्यायोग्य का विचार जाता रहा। आप अपने जजमेंट् के पृष्ठ ५१८ में लिखते हैं—

'He says that the caste of a person did not originally depend on heredity, but on the occupation and possession of characteristic merits under the texts of Manu; but by lapse of time, it has become a matter of heredity and merit, or no merit, the son gets the caste of the father.'

अर्थ—वे, अर्थात् 'A Treatise on Hindu Law' नामक हिन्दू कानून-ग्रंथ के रचयिता श्री गोपालचन्द्र सरकार, कहते हैं कि मनु के शास्त्रानुसार किसी व्यक्ति का वर्ण मूलतः पैतृक न था; बल्कि वह पेशे तथा विशिष्ट योग्यताओं पर निर्भर था; पर समय

बीतते-बीतते वह एक पैतृक वस्तु हो गया है और योग्यायोग्य का विचार छोड़ कर पुत्र को पिता का वर्ण प्राप्त हो जाता है।

सरकार महोदय के इस वचन को आप मानते हैं ; अतः आपके मंतव्यानुसार कायस्थों का भी वर्ण नहीं बदल सकता और यदि वे अन्य युगों में ब्राह्मण थे तो आपको उन्हें कलि में भी ब्राह्मण ही मानना उचित था, न कि क्षत्रिय। यदि आप कहें कि व्योम-संहिता के अनुसार उन्हें कलि में क्षत्रिय मानना चाहिये, तो आपके सिद्धान्तों के प्रतिकूल जानेवाले ऐसे ग्रन्थ को आपको कूड़े की टोकरी में फेंक देना उचित था। इस प्रकार की स्वमत-विरोधिनी तर्कशैली को वदनो-व्याघात दोष कहते हैं जो आप पर लागू है।

विज्ञान-तंत्र तथा व्योम-संहिता जैसे प्रमाण की दृष्टि से रद्दी की टोकरी में फेंक देने योग्य ग्रन्थों का हवाला सर ज्वालाप्रसाद जी जैसे एक प्रकाण्ड विद्वान् द्वारा दिया जाना उतना आश्चर्यजनक नहीं है जितना कि आपस्तम्ब नामक एक वेद-शाखा का। वेदों की शाखाएँ क्या हैं, इसे पाठकों को भली भाँति बता देना जरूरी है जिससे उन्हें इस प्रमाण की अनर्गलता मालूम हो जाय। वेदों के सम्बन्ध में 'शाखा' शब्द का अर्थ है उनका संस्करण-विशेष (The traditional text or recension of a Veda) जिसे वेदज्ञ ब्राह्मणों की किसी मंडली-विशेष ने अपना लिया है ; जैसे शाकल-शाखा, आश्वलायनशाखा, वाष्कलशाखा, आपस्तम्बशाखा इत्यादि। उदाहरण-स्वरूप ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि २१ शाखाओं का समुदाय ऋग्वेद है ; बल्कि यह है कि प्रत्येक शाखा स्वतंत्र रूप से पूरा ऋग्वेद ही है। अथवा स्पष्ट शब्दों में यह कहिये कि ऋग्वेद की २१ शाखाएँ, परस्पर कुछ भिन्नता रखते हुए, उसके २१ संस्करण विशेष हैं। एक शाखा से दूसरी शाखा का भेद केवल यतस्ततः उच्चारण तथा किन्हीं मंत्रों के ग्रहण करने के विषय

में है। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त का प्रथम मंत्र 'सहस्र-शीर्षाः पुरुषः' आदि को लीजिए। जहाँ आश्वलायन शाखावाले गम्भीर शब्द से उसे ज्यों का त्यों, अर्थात् 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः' उच्चारण करेंगे, वहाँ माध्यन्दिनी वाले इसे 'सहस्र शीरेखा पुरुखः' उच्चारण करेंगे। ये लोग मूर्द्धन्य 'ष' की जगह कंठ्य 'ख' का उच्चारण करते हैं। शाखाओं के विषय में और भी कुछ बातें जान लेनी चाहिए*। प्रत्येक शाखा की संहिता (मंत्र-भाग) ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत-सूत्र तथा गृह्य-सूत्र विशेष होते हैं। वेद-शाखा-सम्बन्धी इस संक्षिप्त विवरण से पाठकों को मालूम हो गया होगा कि वेदों तथा उनकी शाखाओं के विषय क्या हैं। उनके विषय हैं वैदिक कृत्यों को सुचारु-रूप से सम्पादित करने की विधियाँ बतलाना आदि, न कि चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत वा बहिर्गत किसी जाति-विशेष की उत्पत्ति भी लिख देना। वेदों में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद, इन्हीं पाँच मूल जातियों का उल्लेख पाया जाता है जिन्हें 'पञ्च-जन' कहा गया है। वहाँ पर कायस्थ, कुर्म्मी, अहीर, भूमिहार आदि उपजातियों का नाममात्र भी नहीं पाया जाता। अतः सर ज्वालाप्रसाद जी को उचित था कि आप-स्तम्ब शाखा में, जो कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का एक उप-भेद मात्र है, कायस्थ वा किसी भी जाति-विशेष की उत्पत्ति लिखी देखकर या शब्द-कल्पद्रुम या किसी अन्य कोष में उसे किसी वेद-

*सत्यव्रत सामश्रमी लिखते हैं—"तत्त्वतः नहि वेदशाखा वृक्ष-शाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदान् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययन विशेषरूपैव"; अर्थात् वेद की शाखाएँ न तो वृक्षों की शाखाओं की भाँति है और न नदी की शाखाओं की भाँति हैं; प्रत्युत वे पठन-पाठन-भेद से सम्प्रदाय-जन्य अध्ययन का ही विशेष-रूप हैं।

शाखा की आड़ में उद्धृत की हुई पाकर उसे किसी पागल का प्रक्षिप्त प्रलाप समझ तत्काल ही ठुकरा देते। मालूम होता है कि आपको कायस्थ-क्षत्रियत्व-प्रतिपादनार्थ अपने इस भगीरथ प्रयत्न में शब्द-कल्पद्रुम के पन्ने इधर से उधर बार-बार उलटने पड़े हैं। पर उक्त कोष ग्रन्थ की सावधान जामातलाशी करते समय आपकी तेज आँखें उसके उन पृष्ठों पर भाग्यवश नहीं पड़ीं, जिनमें कायस्थों को आचार-निर्णय-तंत्र का हवाला देते हुए शूद्रों से भी निकृष्ट बताया गया है, जो ब्राह्मणों की सेवकाई करने से ही कुछ अच्छी दशा में पहुँच गए हैं। पार्वती शिव से कहती हैं—

'अतीवचित्रं शंभोत्व मुक्तवानावयोरुप।

शूद्रात्कनीयसी जातिरभवद्विप्रसेवकः'। (३७ तम पटल)।

अर्थ—हे शंभो! यह आपने अति ही विचित्र बात कही कि शूद्र से भी छोटी जाति (कायस्थ) ब्राह्मणों का सेवक हुआ। यहाँ कायस्थ का प्रसंग चला है। पुनः उसी प्रसंग में शिव पार्वती से कहते हैं—

'ब्रह्मपादांशतः शूद्र-मसीशौ द्वौ वभूवतुः।

शूद्रात्परः कनिष्ठः स चातः कालि ऋतं च तत्।'

अर्थ—ब्रह्मा के पद-भाग से शूद्र और मसीश (स्याही का मालिक अर्थात् कायस्थ), ये दोनों उत्पन्न हुए। अतः हे कालि! यह सत्य है कि कायस्थ शूद्र से भी कनिष्ठ (छोटा) है।

अब सर ज्वालाप्रसाद जी के तथाकथित प्रक्षिप्त श्लोकों पर भी विचार होना चाहिए। यदि आपकी समझ मुबारक में व्यास-स्मृति, अध्याय १, श्लोक १०-१२ तथा औशनस-स्मृति के श्लोक ३२-३४ प्रक्षिप्त हैं वा चित्रगुप्तवंशीय कायस्थों पर लागू नहीं हैं, तो मेरे जैसे नाचीज़ की अक़्लनाकिस में भी विष्णु और व्यास के नाम पर लिखे हुए वे श्लोक (यद्यपि उनकी कृतियों में मुझे ऐसे श्लोक न मिले

और न आप ही ने अपने आलोचनाधीन जजमेंट में उन्हें उद्धृत करने का कष्ट उठाया) अथवा शुक्रनीति, वृहत् पाराशर, वृहस्पति, वीरमित्रोदय, अपरार्क, विज्ञानेश्वर आदि के वे श्लोक (यद्यपि इनमें से भी कोई नहीं आपके द्वारा उद्धृत होने का सौभाग्य प्राप्त कर सका), जिनमें कायस्थों (लेखकों और गणकों) को द्विज, श्रुतियों और स्मृतियों के ज्ञाता तथा सन्धि-विग्रहकारी, न्यायाधीश, राजपरिषद् के सदस्य आदि बड़े-बड़े राजकर्म्मचारी होना लिखा गया है, स्मृतियों, पुराणों तथा तंत्र-ग्रन्थों के पूर्वोक्त प्रमाणों के प्रतिकूल होने के कारण प्रक्षिप्त क्यों नहीं ? क्योंकि प्रमाण-तुला का कायस्थ-शूद्रत्व-प्रतिपादक पल्ला, उनके द्विजत्व-प्रतिपादक पल्ले से भारी होने के कारण अधिक झुका जा रहा है। यदि आपको अपने पक्ष के विरोधी प्रमाणों को प्रक्षिप्त कह देने का अधिकार है तो आपके विपक्षियों को भी स्वमत-विरुद्ध प्रमाणों को प्रक्षिप्त कह देने का वही अधिकार है। पर इस तरह किसी भी प्रमाण को प्रक्षिप्त कह देने से ही बला नहीं टाली जा सकती। प्रक्षेपों की सनाख्त जरा टेढ़ी खीर है। प्रक्षेप हुआ करते हैं सही, और मोटे तौर से उन्हें पहचानने की यह रीति है कि उनका प्रतिपाद्य विषय तथा उनकी रचनाशैली मूल ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय तथा उसकी रचनाशैली एवं स्वीकृत मान्य प्रमाणों और देश काल से मेल नहीं खाते। जहाँ यह पहचान न हो वहाँ प्रक्षेप कह देना अपने तथा दूसरों को धोखा देना है। इसके अतिरिक्त मैं आपकी सेवा में यह नम्र निवेदन कर देना चाहता हूँ कि श्रीमान् अपने भाई-बन्धुओं को इस घोर भ्रम में कभी भी डालने का प्रयत्न न करें कि शुद्ध हिन्दू काल में, जब कि राज्य-शासन स्मृतियों के अनुसार होता था, कायस्थों को राजमंत्री, न्याया-धीश, राजपरिषद् के सदस्य आदि के उच्चपद नसीब होते थे। उन बेचारों को लेखकों (किरानियों), तथा गणकों (आय-व्यय के

हिसाब रखने वालों) के रूप में अपनी लेखनी सर्वदा घिसते हुए अपनी जिन्दगी काटनी पड़ती थी। इसके प्रमाण वे शिला-लेख, दान-पत्र, नामपत्र आदि हैं जिनका हवाला आगे चलकर दिया गया है जहाँ इस जाति पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है। उस काल में कायस्थों की कुछ भी हस्ती न थी, जैसा कि मुद्राराक्षस के इस वचन से पता चलता है—

'कायस्थ इति लघ्वी मात्रा'; अर्थात् कायस्थ एक तुच्छ अंश है। अभिप्राय यह कि वह किसी गणना के योग्य नहीं। मुद्राराक्षस के उक्त वचन पर जीवानन्दी टीका पढ़िए—'लघ्वी मात्रा क्षुद्रः अंशः हीन जातित्वात्।' यहाँ भी कायस्थों को हीन जाति ही कहा गया है। यह वचन चरनिपुणक के प्रति चाणक्य का कहा हुआ है।

इस जाति को सर्वसाधारण किस ओछी निगाह से देखते थे, इसे जानने के लिये मृच्छकटिक के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिये—

'अवि अ भो वअस्स ! गणिआ, हस्त, काअत्थाओ, भिक्खु, चाटो, रासहो अ जहिं एदे णिवसन्ति तहिं दुट्टावि ण जाअन्ति' (प्राकृत)=अपि च भो वयस्य ! गणिका, हस्ती, कायस्थः, भिक्षुः, चाटः, रासभः च यत्र एते निवसन्ति तत्र दुष्टाः अपिन जायन्ते। (संस्कृत)। अर्थ—और हे मित्र ! जहाँ पर वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिक्षुक, ठग और गधा रहते हैं वहाँ दुष्ट भी नहीं ठहरते। यह चारुदत्त के प्रति विदूषक का वचन है। इस पर जीवानन्दी टीका पढ़िए—'दुष्टाः सदोषा अपि जनाः न जायन्ते न तिष्ठन्ति दोषातिरेकस्यावश्यम्भावादितिभावः।' अर्थ— वहाँ दुष्ट जन भी इस विचार से नहीं ठहरते कि वहाँ ठहरने से वे अवश्य ही अधिक दुष्ट हो जाएँगे। भाव यह कि दुष्ट लोग भी गणिका, कायस्थ, गधा आदि से अलग रहना चाहते हैं।

आगे चलकर जस्टिस् ज्वालाप्रसाद जी कायस्थ जाति को द्विज सिद्ध करने के लिए रिज़ली साहब का हवाला देते हुए लिखते हैं कि विहारी कायस्थों के कितने प्राचीन परिवार द्विजों की पाँड़े, तिवारी, बख्शी, राय, ठाकुर, मिस्र, सिंह और साहूलियर उपधियाँ धारण करते हैं। पाँड़े, तिवारी, मिश्र आदि शब्दों का द्विजोपाधियाँ होना तो समझ में आ जाता है; क्योंकि ये संस्कृत के पाण्डेय, त्रिपाठी (त्रिवेदी), मिश्र आदि शब्दों के अपभ्रंश हैं; पर बख्शी और साहूलियर जैसे अनार्य्य भाषा के शब्दों का द्विजोपाधियाँ होना शायद रिज़ली साहब तथा उनके मतानुयायी आप ही समझते होंगे। रिज़ली साहब तो एक विदेशी विद्वान् थे। वे भारतीयों के विषय में चाहे जो भी ऊटपटाँग बातें लिखें और अपने पाठकों को इस कदर निरे बुद्धू समझें कि वे उनकी सभी बातों को बिना चीं-चपड़ किये मान लेंगे, तो यह क्षम्य हो सकता है; पर सर ज्वालाप्रसाद जी जैसे एक प्रकाण्ड भारतीय विद्वान् का न्याय के सर्वोच्च सिंहासन पर बैठकर इस प्रकार की बातें करना और अपने पाठकों को ऐसा बुद्धू समझना अति ही खेदजनक है। न मालूम आपके द्विजोपाधियों की उक्त तालिका में कानूनगो, अखौरी आदि जैसी अनार्य्य भाषा की अन्य द्विजोपाधियाँ (!) क्यों छूट गईं? इसके अतिरिक्त आपको यह भी जान लेना चाहिए कि केवल उपाधियों के बल पर वर्ण-निर्णय करना कठिन है। यदि ऐसा होता तो हज्जामों की उपाधि 'ठाकुर' होने से उन्हें भी द्विजाति माना जाता। इसी प्रकार मुसल्मान दसौधियाँ (भाटों) की उपाधि 'राय' है। पर ये द्विजाति क्या, हिन्दू भी नहीं माने जाते। क्षत्रियों में अपनी कुरी (कुल) में, जैसे उज्जैन का उज्जैन के यहाँ विवाह नहीं हो सकता। वैश्यों के यहाँ भी अपनी कुरी में, जैसे ऐरण अग्रवाल का ऐरण अग्रवाल के यहाँ शादी नहीं हो सकती। पर कायस्थों के यहाँ अपनी कुरी में जैसे श्रीवास्तव की श्रीवास्तव के यहाँ ही, शादी करने की प्रथा

है। कायस्थों के यहाँ श्राद्ध भी एक मास पर होता है जिसमें 'शूद्रो मासेन शुद्धति' इस शास्त्रीय वचन के अनुसार वे शूद्र ठहरते हैं। इनका भिन्न कुरी जैसे श्रीवास्तव का अम्वष्ठ के यहाँ, शादी कर लेना वा एक मास से कम दिनों पर श्राद्ध कर देना, परम्परा के नियम के आधुनिक तथा भूले-भटके अपवाद मात्र हैं। उक्त साहब बहादुर की पुनः दुहाई देते हुए सर ज्वालाप्रसादजी के इस कथन में कुछ भी तत्त्व नहीं है कि उनके यहाँ समान अल्ल वालों में विवाह नहीं होता; उनमें वही विवाह-पद्धति प्रचलित है जो ब्राह्मणों में है; उनका गोत्र काश्यप है तथा उनमें 'दास' की उपाधि नहीं होती; कारण कि उनके यहाँ विवाह-निर्णयार्थ अल्लों का कोई प्रचार नहीं देख पड़ता। इस अल्लाभाव के कारण, केवल जहाँ तक मालूम रहते हैं, कुछ रिश्ताएँ बचाकर शादी ठीक कर ली जाती है। यदि अल्लों का प्रचार है तो आपने पूर्वोक्त तथाकथित द्विजोपाधियों की तरह उनकी भी एक सूची क्यों नहीं दे दी? अल्ल वह चीज़ है जिसके द्वारा एक ही जाति या वर्ग के दो भिन्न व्यक्ति परस्पर परिचित क्या, पूर्णतः अपरिचित होते हुए भी सगोत्र वा असगोत्र निश्चित किए जाते हैं। यदि कहो कि उक्त उपाधियाँ ही अल्ल हैं तो बेचारे उन कायस्थों की क्या गति होगी जो अखौरी आदि नहीं हैं? वर्त्तमान काल में ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक सभी जातियों में एक ही प्रकार का विवाह (ब्राह्म) प्रचलित है, यहाँ तक कि जहाँ विवाह-विधि मालूम नहीं रहती वहाँ ब्राह्म-विवाह का ही गुमान (presumption) किया जाता है। श्री गोपाल-चन्द्र सरकार अथवा मुल्ला साहब का हिन्दू कानून (Hindu Law) पढ़िए। काश्यप गोत्र का कुछ भी विशेष महत्त्व कायस्थों के सम्बन्ध में नहीं है; कारण कि सभी शूद्रों एवं आर्ष गोत्रहीन जातियों का गोत्र सृष्टि मात्र के काश्यपीय होने के कारण संकल्प करते समय पुरोहित लोग 'काश्यप' मान लेते हैं तथा उनके नाम के साथ 'दास' की

उपाधि जोड़ देते हैं। कायस्थों के बारे में भी यही हाल जानिये। प्राचीन काल में कायस्थ लोग अपने नाम के साथ 'दास' की ही उपाधि लगाते थे। पुराने दस्तावेज़ों के अवलोकन से पता चलता है कि उनके कायस्थ कातिब (लेखक) उन पर हस्ताक्षर करते समय अपने नाम के अन्त में 'दास' शब्द लिख देते थे। अब यह जाति चाहे जो उपाधि न धारण कर ले, सो सब ठीक ही है। विधवा विवाह का न होना भी द्विजत्व का कोई विशेष चिह्न नहीं है। कितने कुर्म्मियों में विधवा विवाह नहीं होता, पर इससे क्या हिन्दू जनता उन्हें द्विज मान लेती है? इस जाति ने जो कुछ उन्नति की है वह मुसलमानों तथा अंग्रेज़ों के शासन-काल में की है जिसके लिये वह बधाई का पात्र है। शुद्ध हिन्दू काल में जैसा कि स्मृतियों, पुराणों, तंत्र-ग्रन्थों तथा प्राचीन नाटकों से पता चलता है, इस जाति की दशा अति ही शोचनीय थी।

अब अन्त में सर ज्वालाप्रसादजी का कायस्थ-वर्ण-विषयक आखिरी फतवा पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर, जिसे देखकर केवल अकायस्थ ही नहीं, बल्कि कायस्थमात्र भी सन्न हो जाएँगे, आपके विशालकाय जजमेंट की आलोचना समाप्त करता हूँ। आप कायस्थों को द्विज सिद्ध करने की धुन में इतने बेसुध हो गए मालूम पड़ते हैं कि उन्हें संकर जाति भी मानने को तैयार हो गए। शायद आपकी समझ मुबारक में संकर होना अच्छा, पर शूद्र होना अच्छा नहीं है। आपके जजमेंट के निम्नलिखित उद्धरण पढ़िये—

(a) Even if they be of mixed origin, as some say, they cannot be Sudra...(पृष्ठ ५२६)।

अर्थ—यदि उनकी उत्पत्ति संकर भी हो तो, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, वे शूद्र नहीं हो सकते।

(पृष्ठ ५३०)।

(b) It is undisputed that if Kayastha is

the off-spring of a Kshatriya by a Vaisya woman, as given by Wilson in his glossary, he will be a twice-born called Mahishya according to Manu and Yajnavalkya, because both the father and mother are such. If he is the off-spring of a Kshatriya by a Sudra wife he will be an Ugra Kshatriya, both according to Manu and Yajnavalkya, and an Ugra Kshatriya is not a Surda... (पृष्ठ ५३०)।

अर्थ—यह निर्विवाद है कि विल्सन साहब के कोषानुसार यदि कायस्थ वैश्या स्त्री में क्षत्रिय की औलाद हैं तो वह मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार माता-पिता दोनों के द्विजत्व से माहिष्य-संज्ञक द्विज होगा। यदि वह शूद्रा स्त्री में क्षत्रिय की औलाद है तो वह मनु और याज्ञवल्क्य दोनों के अनुसार उग्रक्षत्रिय होगा और उग्र क्षत्रिय शूद्र नहीं हैं।

(c) Thus, even if Kayastha is an off-spring of inter-marriage, he will be twice-born (पृष्ठ ५३१)।

अर्थ—इस तरह यदि कायस्थ अन्तर्जातीय विवाह की सन्तान हो तो भी वह द्विजन्मा होगा।

+जस्टिस महोदय ने कायस्थों को 'उग्र' कहकर उन्हें किस रसातल में ढकेला यह शायद आप को मालूम नहीं; क्योंकि उग्र का कर्म्म कलम-दावात लेकर काग़ज़ लिखना नहीं है; बल्कि बिलों में रहने वाले साँप जैसे जीवों को पकड़ना और वध करना है। आप्टेजी का संस्कृत-अङ्गरेज़ी कोष देखिए।

न मालूम, द्विज कहलाने में कौन-सा बड़प्पन है, जिसके लिए संकर जाति भी बन जाना पसन्द किया जाय ? भगवद्गीता का वचन है—'संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च' इत्यादि। इसीलिए कहा कि वर्ण-निर्णय के लिए माथापच्ची करना बेकार है।

कायस्थ जाति पर ऐतिहासिक दृष्टि—कायस्थ जाति पर इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से विचार कर अब उस पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—(१) वे जो कायस्थ जाति को मूलतः क्षत्रिय और (२) वे जो इसे मूलतः ब्राह्मण मानते हैं।

(क) क्षत्रियत्व का दावा

क्षत्रिय पक्ष वालों का कथन है कि जब तक भारतवर्ष में छोटे-छोटे सरदार राज्य करते रहे तब तक राज्य-प्रबन्ध उतना जटिल न था; अतः उसके लिए अधिक लिखा-पढ़ी की ज़रूरत न थी। बहुत से कार्य जैसे वादी-प्रतिवादी विषयक न्यायाधीश का कार्य ज़बानी ही हो जाया करते थे। पर जैसे-जैसे बड़े-बड़े राज्य स्थापित होने लगे वैसे-वैसे राज्य-प्रबन्ध की जटिलता बढ़ती गई और इसके फलस्वरूप प्रचुर संख्या में लेखकों और गणकों की आवश्यकता महसूस होने लगी, जो राज्य के प्रत्येक विभाग के कार्य को लिख-पढ़कर उसे सुव्यस्थित रूप में कायम रख सकें। और चूँकि प्रायः सभी राजा क्षत्रिय थे, वे लोग अपने ही भाई-बन्धुओं को, जिन पर उनका भरोसा और विश्वास था, लेखकों और गणकों के पद पर नियुक्त करते थे, जो कलम का पेशा करते-करते कालान्तर में अपनी मूल जाति क्षत्रिय से पृथक् होकर कायस्थ नामक एक भिन्न जाति ही बन गए। पर यह कथन सर्वथा निःसार है। प्राच्य किम्वा पाश्चात्य सभी इतिहास-विशारद इस सिद्धान्त पर सहमत हैं कि भारतीय, ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ ईसा के जन्म से पूर्व छठी शताब्दी में अर्थात् महात्मा

बुद्ध के प्रादुर्भाव के समीपवर्त्ती काल में हुआ था; तथा सातवीं शताब्दी का अन्त होते-होते यानी बौद्ध धर्म्म के ह्रास और पौराणिक हिन्दू धर्म्म के पूर्णोदय के साथ-साथ सारा हिन्दू समाज, जिसकी वर्णव्यवस्था बौद्ध धर्म्म के प्रभाव से प्रायः छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, विविध वर्त्तमान जातियों और उनकी उप-जातियों में पेशे के अनुसार विभक्त हो चुका था। अतः यह निश्चय है कि कायस्थ जाति की भी सृष्टि इन्हीं तेरह सौ वर्षों के भीतर ही हुई होगी। अब देखना यह है कि इन १३०० वर्षों में भारत में कौन-कौन से साम्राज्य स्थापित हुए, जिनके सुविस्तृत तथा जटिल राज्य-प्रबन्ध को सुव्य-वस्थित रूप से चलाने के लिए लेखकों, गणकों तथा उन्हीं के सदृश अन्य राज भृत्यों (अहल्कारों) की आवश्यकता पड़ी होगी। भारतीय इतिहास के पन्ने उलटने पर हमें इस काल में क्रमशः नन्दों (शूद्र), मौर्य्यों (शूद्र), शुङ्गों (ब्राह्मण), कण्वों (ब्राह्मण), आन्ध्रों (शूद्र)*, कुशानों (मध्य एशिया की एक खानाबदोश तथा बर्बर जाति जिसका सबसे प्रसिद्ध सम्राट् कनिष्क था), गुप्तों (वैश्य)† और वर्द्धनों (वैश्य) के साम्राज्य पाते हैं। प्राचीन क्षत्रिय जाति के छोटे-मोटे राज्य, कुरुक्षेत्र तथा प्रभास क्षेत्र के क्षत्रियवंश-विनाशकारी घरेलू युद्धों के बाद, यदि भारत के किसी कोने में अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिनते रहे होंगे तो उनका अस्तित्व किसी गणना के योग्य न था और राजपूत नामधारी नवीन क्षत्रियों का तो न पूर्णरूप से अभी उदय ही हुआ था और न उनका कभी कोई विशाल साम्राज्य

---

*आन्ध्रों के शूद्रत्व के प्रमाणार्थ श्रीमद्भागवत, द्वादश स्कन्ध, प्रथम अध्याय, श्लोक २२ पढ़िए।

†गुप्तों और वर्द्धनों के वैश्यत्व के प्रमाण में "जातिभास्कर" पृ० ११८ और ११९ पढ़िए।

ही था। अतः यदि भाई-बन्धु वाली उक्त थ्योरी को थोड़ी देर तक ठीक मान लेने के साथ-साथ यह भी मान लें कि नष्टावशेष प्राचीन क्षत्रिय राजागण अपने शान में क्षत्रिय जाति के ही लेखकों और गणकों को नियुक्त करते थे तो प्रश्न यह उठता है कि नन्दादि उक्त अक्षत्रिय सम्राट् गण अपने शासन में किस जाति के उक्त अहल्कार रखते थे। यदि यह कहा जाय कि उनके यहाँ भी क्षत्रिय लेखक ही काम करते थे तो प्रथम तो यह उदारता साम्प्रदायिकता (Communalism) दूषित हिन्दू मनोवृत्ति (Mentality) के बिल्कुल प्रतिकूल है, तथा द्वितीय यह है कि यह विश्वास-योग्य नहीं कि तलवार तथा धनुष-बाण धारण करने वाली उच्चमान्य क्षत्रिय जाति इतनी गिर गई थी कि वह अस्त्र-शस्त्रको छोड़ हाथ में कलम ले किरानीगरी जैसे एक हेय धन्धे के द्वारा इतनी प्रचुर संख्या में अपना पेट पालने लगी। बल्कि इसके बदले यह क्यों नहीं मान लिया जाय जो उक्त साम्प्रदायिकता के आधार पर पूर्णतः तर्कसंगत है कि जहाँ सभी को अपना-अपना लगा था तो नन्दों, मौर्य्यों और आन्ध्रों के दफ्तरों में शूद्र, शुङ्गों और कण्वों के यहाँ ब्राह्मण, कुशानों के यहाँ कुशन तथा गुप्तों और वर्द्धनों के यहाँ वैश्य लेखक आदि का काम करते थे, जिस दशा में वर्त्तमान कायस्थ जाति पेशे के आधार पर भी विविध वर्णों के मेल-जोल से उत्पन्न हुई मालूम होती है। अतः क्षत्रिय-पक्ष की थ्योरी किसी ठोस भूमि पर स्थित नहीं जान पड़ती।

अब ब्राह्मण-पक्ष की थ्योरी पर विचार कीजिए। इस थ्योरी के प्रचारकों का कथन है कि राजा लोग धर्म्मशास्त्रों के आदेशानुसार जिन सात-आठ मंत्रियों को अपने दरबार में रखकर राज्य का संचालन किया करते थे उनमें पर्याप्त संख्या ब्राह्मणों की थी और इन ब्राह्मण मंत्रियों के कार्यालयों (Secretariat) में

(ख) ब्राह्मणत्व का दावा

काम करनेवाले अन्य लोग (Ministerial Staff) भी पढ़े-लिखे ब्राह्मण ही अधिक होते थे। कालान्तर में ये ही मंत्रियों से लेकर साधारण लेखकों तक जो ब्राह्मण राजकर्मचारीगण थे, कार्यालयों में काम करने के कारण, कार्यस्थ वा कायस्थ नाम से प्रसिद्ध होकर अपनी मूल जाति (ब्राह्मण) से पृथक् हो गए। इसका कारण वे यह बताते हैं कि राजकर्मचारी का काम केवल पढ़े-लिखे लोगों के ही द्वारा चल सकता है ; अतः ब्राह्मण-जाति के ही लोग इस पेशे में पहुँचते थे। इस थ्योरी की पुष्टि में वे एक यह भी प्रमाण देते हैं कि नागर ब्राह्मणों तथा बंगाली कायस्थों की दत्त, गुप्त, घोष, दास, मित्र, देव आदि बहुत-सी-उपाधियों का एक जैसा मिलना और दोनों जातियों का आदि उद्गम पांचाल देश में होना इस बात को सिद्ध करता है कि दोनों एक ही नस्ल से उत्पन्न हुए हैं। पर ब्राह्मण-पक्ष वालों की भी इस दलील में क्षत्रिय-पक्ष वालों की दलील की तरह कुछ भी सार नहीं है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक अपनी टीका में 'कायस्थ' शब्द से केवल लेखकों और गणकों का ही अर्थ लिया है, न कि राजमंत्रियों का भी। अतः यदि कायस्थ शब्द से उसका अभिप्राय राजमंत्रियों का भी होता तो वह अपनी व्याख्या में 'लेखकाः' तथा 'गणकाः' शब्दों के साथ-साथ 'मंत्रिणः,' 'सचिवाः' वा इसी अर्थ का कोई अन्य शब्द भी लिखता। उसके ऐसा नहीं लिखने से स्पष्ट है कि राजमंत्रीगण कायस्थ-संज्ञा-भाक् लेखकों और गणकों से सर्वथा भिन्न थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों तथा ताम्रपत्रों में जहाँ-जहाँ 'कायस्थ' शब्द मिलता है वहाँ-वहाँ वह लेखन-क्रिया के योग में ही मिलता है, जैसे 'लिखितमिदं शासनं कायस्थ............ काञ्चनेन'; 'लिखितमिदं कायस्थ-काञ्चन-सुतेन-वटेश्वरेण'; 'लिखितमिदं शासनं कायस्थान्वय-प्रसूत....सोमसिंहेन' इत्यादि (A book

on eleven land-grants* of the Chalukyas of Anhilwood Patan of Gujrat by G. Buhler); अतः यह निर्विवाद है कि मंत्री आदि उच्च कर्मचारी कायस्थ कभी नहीं कहलाते थे, वह पदवी तो लेखकों, गणकों, किणनियों तथा मुहर्रिरों की तरह छोटे-छोटे अमलों की थी। स्मृतियों में राजमंत्रियों के पद के लिए जिस उच्च योग्यता का उल्लेख हुआ है उसे देखने से मालूम होता है ये लोग अवश्य ही कुलीन और शास्त्र कुशल-ब्राह्मण थे, पर लेखकों और गणकों की पद-प्राप्ति के लिए सिवा लिखने-पढ़ने के किसी अन्य बड़ी योग्यता की आवश्यकता न थी। लिखना-पढ़ना जाननेवाला किसी भी वर्ण का मनुष्य लेखक तथा गणक हो सकता था। राजमंत्री राष्ट्र के कर्णधार थे, फलतः उनका समाज तथा, स्वजाति (ब्राह्मण) में पूरा रोब और मान था, बल्कि अपनी जाति के तो वे शिरोभूषण और अभिमान के कारण समझे जाते थे। अतः कोई भी कारण नहीं देख पड़ता जिससे विवश होकर वे अपना स्वाभाविक आत्म-गौरव तथा अपनी बिरादरी को तिलांजलि देकर कायस्थ-संज्ञा-भाक् न होते हुए भी लेखकों और गणकों जैसे क्षुद्र कर्मचारियों में जा मिले और कायस्थ बन बैठे। पाठकों को यह कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि ब्राह्मण एक स्वजातीयताभिमानी जाति है जो स्वजातीय मान को कभी भी छोड़ना नहीं चाहती। बौद्ध धर्म्म के विविध उद्देश्यों में एक यह भी था कि ब्राह्मणों का जातीय महत्त्व, वर्णव्यवस्था को छिन्न-भिन्नकर मिट्टी में मिला दिया जाय, अतः उनकी इस अवैदिक धर्म्म पर सदा क्रूर

---

*इन दानपत्रों का समय ईसा की १०वीं शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक माना जाता है।

दृष्टि बनी रही और समय पाकर उन्होंने इसे भारत से निकालकर ही छोड़ा। इस धर्म्म के प्रचंड प्रहारों से यदि कोई जाति अपनी रक्षा कर सकी थी तो यह ब्राह्मण जाति ही थी; शेष सभी जातियाँ लुप्त प्रायः हो चली थीं। अतः वर्त्तमान काल में हम जिन विविध जातियों को देख रहे हैं, वे केवल ब्राह्मण जाति को छोड़कर, सबकी सब नवीन हैं। उनका निर्माण बौद्ध धर्म्म के पतन तथा पौराणिक हिन्दू धर्म्म के उत्थान काल में पेशों तथा धन्धों के आधार पर हुआ था। केवल एक ब्राह्मण ही ऐसी जाति है जो प्राग्बौद्ध-कालीन है तथा तब से अब तक विद्यमान है। अतः यह कभी भी मानने योग्य नहीं कि उच्चपदस्थ ब्राह्मण राजकर्मचारी अपना ब्राह्मण रूप छोड़कर कायस्थ रूप में परिणत हो गये। यह बात दूसरी है कि पीछे से सवालखे ब्राह्मणों की तरह कतिपय अन्य जाति के लोग ब्राह्मण जाति में घुस गये हैं; पर मूल जाति पहले से ही विद्यमान थी।

कितने विद्वानों का मत है कि कायस्थ जाति की भर्ती (Recruitment) वैश्य समुदाय से हुई है। वैश्य जाति अपने बनिज-व्यापार को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए बहीखाते का हिसाब-किताब सदा लिखते-पढ़ते रहने के कारण लेखक और गणक के कार्य में चतुर होती है। अतः वैश्य जाति के ही लोग राजकीय विभागों में लेखकों और गणकों के पद पर नियुक्त होते थे, जो कालान्तर में कायस्थ जाति में परिणत हो गये। उसके काल्पनिक आदि पुरुष चित्रगुप्त की 'गुप्त' उपाधि भी इसी अनुमान की ओर संकेत करती है। स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्रदत्त अपनी पुस्तक Civilisation in Ancient India, Volume I, Book III, Chap. V, पृष्ठ २४८, में कायस्थों तथा बंगाल के वैद्यों पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए लिखते हैं—

The Aryan Vaisyas followed different trades and professions in Ancient India, without forming separate castes, they were scribes and physicians, goldsmiths and blacksmiths, potters and weavers while still belonging to the same Vaisya caste.

अर्थ—प्राचीन भारत में आर्य्य वैश्य बिना पृथक्-पृथक् जातियाँ बनाए हुए विविध प्रकार के व्यापार तथा पेशे करते थे। वे लेखक और वैद्य, सोनार और लोहार, कुम्हार और जुलाहे थे जो अब तक उसी वैश्य जाति से सम्बद्ध थे। पुनः वे ही महाशय अपनी उसी पुस्तक के Volume II, Book IV, Chap. VIII, में लिखते हैं—"Sacred learning had not yet become the monopoly of the priests, and honest citizens who gained a livelihood as scribes, physicians, goldsmiths, blacksmiths, weavers, potters etc. were still Vaisyas,.......................

अर्थ—धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन अभी तक पुजारियों का एकाधिकार नहीं बन चुका था और सात्विक नागरिक जो अपनी जीविका लेखक, वैद्य, सोनार, लोहार, जुलाहे, कुम्हार आदि का कामकर प्राप्त करते थे अभी तक वैश्य थे।

नोट—उक्त उदाहरणों में वैश्य जाति के अन्तर्गत जो Scribes अर्थात् लेखक थे वे ही कालान्तर में कायस्थ नामक एक पृथक जाति बन गये।

जातिभास्कर, पृष्ठ १५६, में यूरोपियन लोगों की कायस्थ जाति विषयक विविध सम्मतियों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"मिस्टर कूक की उद्धृत की हुई मिस्टर रिजली की सम्मति इस प्रकार है कि यह कायस्थ जाति युद्धप्रिय क्षत्रियों की अपेक्षा स्वभावतः शान्तिप्रिय वैश्यों और शूद्रों के मेल-जोल से बनी है और इस जाति में ब्राह्मणों का लेशमात्र भी अंश नहीं है। ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आफ दी एन्० डब्लू० पी० अवध० जि० पृ० १६५"

ब्राह्मण-पक्षवालों की दूसरी दलील भी, कि नागर ब्राह्मणों और बंगाली कायस्थों की कतिपय पारिवारिक उपाधियों के समान होने से उक्त कायस्थों का मौलिक ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है, और भी निस्सार है। यह कोई आवश्यक नहीं कि उपाधियों की समानता सजातित्व को सिद्ध करे। उदाहरणतः 'ठाकुर' उपाधि भूमिहारों और हज्जामों, दोनों जातियों में पाई जाती है; पर ये दोनों मूलतः एक जाति नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार 'राय' उपाधि की समानता के आधार पर राजपूतों, भूमिहारों और भाँटों को 'खाँ' उपाधि के समान होने से कतिपय मैथिल ब्राह्मण परिवारों और मुसलमान पठानों को; 'पाँड़े' 'तिवारी' आदि उपाधियों के साम्य-बल पर सरयूपारी ब्राह्मणों और भूमिहारों को; 'चौधरी' उपाधि की समानता देखकर बंगाल के कतिपय ब्राह्मण परिवारों, कलालों और मुसलमान भट्ठोहारों को मूलतः सजाति मान लेना 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाली कहावत होगी। और भी कितने ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ एक-सी उपाधि धारण करने वाली विविध जातियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। एक बात और भी है। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि दास लोग अपने मालिक के गोत्रादि भक्तिवश धारण कर लेते थे। इसी प्राचीन प्रथा का समर्थन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी कवितावली रामायण, उत्तरकाण्ड में लिखा है—"अति ही अयाने उपखाने नहिं बूझैं लोग, साहेब के गोत गोत होत हैं गुलाम को", अर्थात् लोग बहुत ही मूर्ख हैं, वे इस कहावत को नहीं समझते

कि जो मालिक का गोत्र है वही गुलाम का भी गोत्र* होता है। इस प्राचीन प्रथा को दृष्टि में रखते हुये क्या यह नहीं माना जा सकता कि बंगाली कायस्थों ने दत्त, गुप्त आदि उपाधियों को अपने मालिक नागर ब्राह्मणों के अनुकरण में भक्तिवश धारण कर लिया, जिनके घर वे पीढ़ी दर पीढ़ी चाकरी (भृत्य का काम) करते चले आ रहे थे। बाद को नागर ब्राह्मण तो अहिछत्र (पांचाल) से दक्षिण की ओर गुजरात में चले गये और उनके यहाँ चाकरी करने वाले कायस्थ अपने-अपने मालिकों की उपाधियों को अपने साथ लिए और कन्नौज होते हुए बंगाल पहुँचे। इस विषय पर चाहे जिस किसी पहलू से विचार किया जाय, यह कदापि भी मानने योग्य नहीं कि उपाधि की समानता सजातित्व का द्योतक है।

कायस्थ जाति पर पर्याप्त लिखा जा चुका। अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। पाठकगण दिये हुए प्रमाणों और तर्कों के आधार पर अपनी कायस्थ जाति-विषयक सम्मति स्वयं ठीक कर लें। इस परिच्छेद में भूमिहार, कायस्थ आदि कतिपय जातियों के वर्ण-संबन्धी दावे की जो निःसारता दिखलाई गई है वह यह सिद्ध करने के लिए नहीं कि उक्त जातियाँ वस्तुतः बुरी हैं; बल्कि यह सिद्ध करने के लिये कि वर्ण-व्यवस्था एक ऐसी बुरी चीज़ है जिससे शीघ्र पिण्ड छुड़ा लेना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है जिसमें हिन्दू समाज का कल्याण हो।

---

*विष्णु-रहस्य का वचन है—"आर्ष गोत्रंतु विप्राणां तदन्येषां गुरोरिव शाखाभेदाद्गुरोर्भेदाद्गोपादीनान्तु सर्वशः।"

अर्थ—ब्राह्मणों का आर्ष गोत्र होता है और क्षत्रियादि दूसरे वर्णों का गोत्र शाखा और गुरु के भेद से गुरु का गोत्र होता है। (जा० भा० पृ० २१४)

कायस्थ आदि की तरह खत्री भी एक जाति है जिसका वर्ण-निर्णय आज तक नहीं हुआ। इस जाति का उपालंभ है कि

(३) खत्री

क्षत्रियोच्छेदकारी परशुराम के आतंक से हमारे क्षत्रिय पूर्वजों ने क्षात्र-वेष और क्षात्र कर्म का परित्याग पुरःसर स्वरक्षार्थ वैश्यवृत्ति का आश्रय लिया और उनकी जाति संज्ञा 'क्षत्रिय' शब्द कालान्तर में अपभ्रष्ट होकर 'खत्री' रूप में परिणत हो गई। इस थ्योरी पर कितनी ही बातें विचारणीय हैं। पहली तो यह कि खत्री जाति का यह उत्पत्ति-वृत्तान्त केवल एक कपोल-कल्पित दँतकथा है जिसका समर्थन किसी भी प्राचीन तथा प्रामाण्य ग्रन्थ के द्वारा नहीं होता और जिसका आधार केवल 'क्षत्रिय' और 'खत्री' इन दोनों शब्दों का इषत् सादृश्य-मात्र है जो खत्री जाति को अनुचित लाभ उठाने का मौका दे रहा है। दूसरी यह कि खत्रियों की ही तरह कतिपय अन्य जातियाँ भी जैसे कोइरी, कुर्मी आदि अपने को मूलतः क्षत्रिय ही बतलाती हैं जो परशुराम के भय से घबड़ाकर वा किसी अन्य कारण से क्षात्र-धर्म को तिलांजलि देते हुए वैश्यादि जातियों की वृत्ति धारण कर लेने से मूल जाति से पृथक् हो गईं। पर क्या कारण है कि इन जातियों की हालत में 'क्षत्रिय' शब्द ने 'खत्री' शब्द का रूप नहीं धारण किया? इन्होंने कौन सा पाप किया था कि ये क्षत्रिय से खत्री न बनकर कोइरी आदि बन गईं? यदि कहा जाय कि कोइरी आदि की जीविका करने से ये जातियाँ क्षत्रिय से कोइरी आदि बन गईं तो क्या यह भी कोई कह सकेगा कि किस जीविका को धारण करने से मनुष्य क्षत्रिय से खत्री बन जाता है! यदि क्षात्र-धर्म का नहीं पालन करते हुए भी तुम खत्री यानी क्षत्रिय कहाते रह गए तो ये जातियाँ इसी नियमानुसार तुम्हारी ही तरह खत्री (क्षत्रिय) क्यों नहीं कहलाईं? यदि कहो कि उक्त जातियाँ मूलतः क्षत्रिय नहीं थीं, तो तुम्हारे क्षत्रिय

होने में क्या प्रमाण है ? यदि शब्द-सादृश्य के बल पर उछल-कूद मचाते हो तो खत्री शब्द को 'क्षतृ' शब्द का अपभ्रंश क्यों नहीं माना जाए ? क्योंकि उसे तीन अक्षर वाले क्षत्रिय शब्द का अपभ्रंश मानने की अपेक्षा दो अक्षर वाले 'क्षतृ' शब्द का अपभ्रंश मानना अधिक तर्कयुक्त और बुद्धिसम्मत है। क्षतृ एक संकर जाति है जिसकी उत्पत्ति शूद्रपिता द्वारा क्षत्रिया माता से होती है। श्री आप्टे ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत अंग्रेज़ी कोष में क्षतृ शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं—१. A man born of a Sudra man and Kshatriya woman; अर्थात् वह मनुष्य जो शूद्र पिता और क्षत्रिया माता से उत्पन्न होता है वे इसका अर्थ कोषाध्यक्ष भी देते हैं। खत्री जाति धन धान्य से संपन्न होने के कारण लखपती करोड़पती है ही। नदिया के पंडित जगेन्द्र नाथ महाचार्य एम० ए० डी० लिट्० भी इनकी (खत्रियों) की उत्पत्ति क्षतृ (क्षत्तः शूद्र पिता क्षत्रिया माता) इसी रूप से मानते हैं तथा वे इनको वैश्य जाति रूप बताते हैं। जाति-भास्कर, पृष्ठ १०८ देखिए।

तीसरी बात यह है कि जब पृथ्वी की प्रार्थना पर कश्यप ने उन सब क्षत्रिय राजाओं को जो परशुराम के भय से जंगलों और पहाड़ों में जा छिपे थे और जिनका पता पृथ्वी ने कश्यप से बताया था, बुलाकर पुनः उन-उनके राज्यों में स्थापित किया, तब परशुराम के तपस्यार्थ वन में चले जाने के कारण स्थिति को निरापद समझकर सभी क्षत्रियों ने आकर अपना-अपना अधिकार प्राप्त कर लिया होगा और अपने से निकृष्ट वर्ण की जीविका वा आपद्धर्म को तत्काल छोड़कर वे क्षात्र-धर्म का पालन करने लग गए होंगे। इस दशा में सभी क्षत्रियों को अपने प्रकृत रूप में वापस आ जाने से उनमें कोई भी नहीं किसी विकृत रूप में रहा होगा, जिसकी संतान यह खत्री जाति मान ली जाय। अथवा खत्रियों के पूर्वज किस खर्राटे की नींद सो रहे थे कि उन्हें कश्यप का

निमंत्रण न मिला और कई सहस्राब्दियों के बाद उनके वर्तमान वंशज अपने गाफ़िल पूर्वजों की गलती सुधारने चले हैं। महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ४९ में लिखा है—

ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान् समानीय कश्यपः।
अभ्यषिञ्चन्महीपालान् क्षत्रियान् वीर्यसम्मतान्॥

अर्थ—तब पृथ्वी के बनाए हुए पराक्रमी राजाओं को बुलाकर कश्यप ने उन्हें फिर राज्यों पर अभिषिक्त किया।

अतः खत्री जाति मूलतः क्षत्रिय नहीं है। कोई-कोई वर्णविवेक-चन्द्रिका के निम्नलिखित श्लोक के आधार पर इसे वैश्य सिद्ध करना चाहते हैं—

अग्निकुण्डात् समुत्पन्नास्त्रयः पुत्राः सुधार्म्मिकाः।
अग्रवालेतिखत्री च रौनियारेति संज्ञकाः॥

अर्थ—अग्निकुंड से तीन धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम अग्रवाल, खत्री और रौनियार थे।

यह श्लोक ब्रह्मा की जाँघ से उत्पन्न भलन्दन वैश्य के वंश-वर्णन प्रसंग में आया है। पर स्वयं खत्री जाति क्षत्रिय बनने की धुन में इस श्लोक की प्रमाणिकता नहीं मानती; क्योंकि इस श्लोक को प्रामाण्य मानने से वह रौनियार जाति की, जिसमें मद्य-मांस तथा विधवा-विवाह का प्रचार है और जो निम्न श्रेणी की एक अल्लहीन वणिक जाति है, कोटि में आ जायगी। वस्तुतः इस श्लोक की प्रामाणिकता संदिग्ध है, क्योंकि इसमें खत्री और रौनियार ये दो शब्द शुद्ध संस्कृत के न होकर अपभ्रंश हैं। मालूम होता है कि किसी आधुनिक पंडित ने इन शब्दों के शुद्ध रूप खोजने का कष्ट न उठाकर यह जाली श्लोक वर्ण विवेक-चन्द्रिका में घुसेड़ दिया।

हिन्दू जाति के रक्त-सम्मिश्रण पर इससे अधिक लिखना व्यर्थ है।य

पाठक इतने से ही समझ लें कि सारी हिन्दू जाति, आर्य या अनार्य, भारतीय या अभारतीय अनेक जातियों के रक्त सम्मिश्रण से बनी है। आश्चर्य तो इस बात पर है कि हिन्दू जाति इस प्रकार उत्पन्न होकर भी अपने को संसार भर की अन्य सभी जातियां से श्रेष्ठ मानती है। और उन्हें म्लेच्छ कहती है। बौद्धायन ने 'म्लेच्छ' शब्द की परिभाषा जिस प्रकार लिखी है उसे आप्टे महाशय के कोष में देखिए—

गोमांसखादको यस्तु विरुद्धं बहुभाषते।
सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते॥

अर्थ—जो गोमांस खाने वाला, शास्त्र विरुद्ध बहुत बकने वाला और सभी आचारों से हीन है उसे म्लेच्छ कहते हैं।

संस्कृत में एक 'म्लेच्छ' वा म्लेछ धातु है जिसका अर्थ है बड़-बड़ाना वा इस तरह से बोलना कि समझ में न आवे। म्लेच्छ का ठीक अंगरेज़ी प्रतिशब्द Barbarian है।

यूरोप की सभी जातियों में परस्पर रक्त विनिमय हुआ तो अवश्य है, पर वे काले रंग से सदा दूर रहे। और हम तो अपने रक्त के साथ-साथ अपना रंग भी खो बैठे। अन्यथा ब्राह्मण कही जाने वाली जाति में भी काले और शूद्र मानी जाने वाली जाति में भी गोरे रंग का कारण, एक ही प्रान्त तथा एक ही जलवायु के भीतर, और क्या हो सकता है? यदि गोरी जाति के किसी व्यक्ति ने किसी काली स्त्री में संभोग से कोई मिश्रित सन्तान उत्पन्न कर दी तो वैसी सन्तान गोरी जाति से सदा अलग रक्खी गई। एसिया के यूरेशियन और अमेरिका के मुलाटो जाति इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। पर हम तो ऐसी मिश्रित सन्तानों को अपने धर्मशास्त्रों की व्यवस्थानुसार अपने में बराबर मिलाते चले आए। कहाँ वे यूरोपीय जातियाँ जो कुत्तों और घोड़ों तक की नस्ल बिगड़ने नहीं देतीं और कहाँ हम जो अपनी ही नस्ल खो बैठे। और इस पर तुर्रा यह कि हम अपने को सर्वश्रेष्ठ ही मान रहे हैं!

अथ तृतीय परिच्छेद

रक्त-संमिश्रण के कारण

गत परिच्छेद में हिन्दू जाति के रक्त-संमिश्रण पर विचारकर प्रसंगतः इस मिश्रण के कारणों पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जा चुका है। अब इस परिच्छेद में उन कारणों पर विशेष रुप से विचार किया जाएगा। इन कारणों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पाँच बातें देखी जाती हैं—(१) अवैध योन-सम्बन्ध; (२) असवर्ण-विवाह; (३) नियोग; (४) विदेशियों का हिन्दूकरण; और (५) जात्यन्तर ग्रहण वा जाति-परिवर्त्तन।

अवैध यौन-सम्बन्ध

(१) अवैध यौन-सम्बन्ध। यदि स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा यौन सम्बन्ध हुआ हो जिसका अनुमोदन धर्मशास्त्र नहीं करता, तो ऐसे सम्बन्ध को अवैध यौन सम्बन्ध कहते हैं। सीधी-सादी भाषा में इसे जारकर्म कहते हैं। गत परिच्छेद में वज्रसूच्युपनिषद् का प्रमाण देते हुए शृष्यशृंग आदि जिन महर्षियों के उत्पत्ति-वृत्तान्त कहे गए हैं उनका जन्म ऐसे ही अवैध यौन सम्बन्ध से हुआ था। इनके माता-पिता के बीच कोई शास्त्रानुमोदित दाम्पत्य अथवा नियोग का सम्बन्ध न था। कुन्ती-पुत्र कर्ण और व्यास-पुत्र शुकदेव का भी जन्म इसी सम्बन्ध के द्वारा हुआ था। तलाश करने पर और भी कितने ऐसे मिलेंगे जिनके जन्म में यही तथ्य है। पाठकों को यहाँ पर दाम्पत्य-सम्बन्ध और

नियोग-सम्बन्ध का अन्तर जान लेना चाहिए। दाम्पत्य-सम्बन्ध वह है जिसमें शास्त्रविहित विवाह द्वारा स्त्री-पुरुष बँधे हों। इस सम्बन्ध में स्त्री और पुरुष के बीच पति-पत्नी का सम्बन्ध रहता है। नियोग दूसरी वस्तु है। यद्यपि यह भी एक शास्त्रानुमोदित कर्म है, पर इसमें स्त्री और पुरुष के बीच दाम्पत्य-सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसे लोग विशेषावस्था में, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, सन्तान उत्पन्नकर पुनः एक दूसरे से पृथक् होते रहे हैं और उनके बीच वही पारस्परिक सम्बन्ध चलता रहता है, जो नियोग से पूर्व विद्यमान था। हिन्दू जाति अपनी प्राचीन सभ्यता का घोर-घमंड रखती है; पर इस सभ्यताभिमानी जाति से पूछना चाहिए कि यदि तुम्हारे प्राचीन पूर्वज सभ्य थे तो वे जारकर्म को कुत्सित कर्म क्यों नहीं समझते थे? यदि वे सभ्य थे तो उनकी स्त्रियाँ गाय आदि पशुओं की तरह स्वेच्छाचारिणी क्यों थीं? अर्थात् जैसे गायों में किसी भी साँड़ के साथ यौन-सम्बन्ध होने पर कुछ भी दोष नहीं माना जाता; वैसे ही उनकी स्त्रियों में भी उनके किसी भी पुरुष के साथ प्रसंग करने पर कुछ भी दोष नहीं माना जाता था। महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १२२ में पाण्डु कुन्ती से कहते हैं—

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनी ॥ ४ ॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे पतीन्।
ना धर्म्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्म्मः पुराभवत् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे सुन्दरी! पूर्वकाल में स्त्रियों की कुछ रोक-टोक न थी। हे सुहासिनी! उन दिनों वे स्वतन्त्र रहकर भोग-विलास की आशा में स्वच्छन्दतापूर्वक घूमा करती थीं ॥ ४ ॥ हे सुभगे! वे कौमारावस्था से ही व्यभिचार किया करती थीं और इससे उनको अधर्म नहीं होता था; क्योंकि वही पूर्वकाल का धर्म था ॥ ५ ॥

इसके बाद पाण्डु ने कुन्ती से श्वेतकेतु की कथा कही है कि कब और क्यों उसने पति-पत्नी के बीच बलपूर्वक यह मर्यादा ठहराई कि यदि वे अन्य स्त्री-पुरुष के साथ व्यभिचार करेंगे तो उन्हें भ्रूणहत्या का पाप लगेगा। श्वेतकेतु के सामने ही कोई ब्राह्मण उसकी माता का हाथ पकड़कर उसे बलपूर्वक किसी अन्य स्थान में कुकर्म करने के लिए खींचने लगा। इस अनुचित कार्य को देखकर मारे क्रोध के श्वेतकेतु के ओठ काँपने लगे। तब उसके पिता उद्दालक ने कहा—

मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्म्मः सनातनः।
अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामंगना भुवि।
यथागावः स्थितास्तात स्वेस्वे वर्णे तथा प्रजाः ॥१४॥
ऋषिपुत्रस्तुतं धर्म्मं श्वेतकेतुर्नचक्षमे।
चकार चैव मर्य्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि ॥ १५ ॥

अर्थ—हे तात! क्रोध मत करो; यह सनातन धर्म है। इस भूमंडल में सभी वर्णों की स्त्रियाँ बिना किसी बन्धन की हैं। हे तात! सभी जन अपने-अपने वर्ण के साथ उसी प्रकार व्यवहार करते हैं जैसे गायें ॥ १४ ॥ किन्तु ऋषि-पुत्र श्वेतकेतु को ऐसा धर्म सह्य न हो सका और उसने पृथ्वी में स्त्री-पुरुष के बीच इस मर्यादा को (जिसका उल्लेख अभी कर चुका हूँ) स्थापित कर दिया ॥ १५ ॥

महर्षि अत्रि भी इसी प्राचीन प्रथा के अनुसार स्त्रियों में जार-कर्म-जन्य दोष नहीं मानते। अत्रि स्मृति पढ़िए—

न स्त्री दुष्याति जारेण ब्राह्मणो वेदकर्मणा।
नापोमूत्रपुरीषाभ्यां नाग्निर्दहति कर्म्मणा ॥ १६० ॥

अर्थ—स्त्रियाँ जारों द्वारा दूषित नहीं होतीं। ब्राह्मण यज्ञिय

हिंसा आदि वैदिक कर्म द्वारा दूषित नहीं होते। नदी, तालाब आदि का जल मल-मूत्र से दूषित नहीं होता और आग अपवित्र वस्तुओं को भी जलाने से अपवित्र नहीं होती।

असवर्ण विवाह

(२) **असवर्ण विवाह**—यदि स्त्री पुरुष के वर्ण एक दूसरे से भिन्न हों, तो उनके विवाह को असवर्ण विवाह कहते हैं। असवर्ण विवाह दो प्रकार के होते हैं—(१) अनुलोम, जिसमें पुरुष का वर्ण स्त्री के वर्ण से उत्कृष्ट रहता है; जैसे—शिव-पार्वती का विवाह; और (२) प्रतिलोम, जिसमें पुरुष स्त्री की अपेक्षा वर्ण में निकृष्ट रहता है; जैसे—राजा ययाति और देवयानी का विवाह। पुराणों में अनुलोम विवाहों की भरमार देखते हैं; पर प्रतिलोम विवाह मुश्किल से जहाँ-तहाँ मिलते हैं। सबसे उत्तम सवर्ण-विवाह होता है जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों एक ही वर्ण के होते हैं। तत्पश्चात् अनुलोम विवाह मध्यम श्रेणी का और प्रतिलोम विवाह सबसे निकृष्ट श्रेणी का समझा गया है। सवर्ण विवाह की प्रशंसा करते हुए मनु लिखते हैं—

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन संभूता जात्या, ज्ञेयास्त एव ते ॥मनु १० । ५॥

अर्थ—सम्पूर्ण वर्णों में विवाहिता, सवर्ण और अक्षत योनि पत्नी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान अपने पिता के वर्ण की होती है और अनुलोम-क्रम से निकृष्ट जाति की स्त्री में पैदा हुई सन्तान अपने पिता के वर्ण की न होकर वर्ण-संकर होती है।*

---

*वह स्त्री 'अक्षत योनि' कहलाती है जिसने किसी पुरुष के साथ प्रसंग नहीं किया है। सवर्णा, विवाहिता तथा अक्षत योनि पत्नी में उत्पन्न पुत्र 'औरस' कहाता है।

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान्।
सादृशानेवतानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ मनु १० । ६॥

अर्थ—द्विजों द्वारा व्यवधान-रहित दूसरे वर्ण की स्त्रियों में (जैसे ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया में, क्षत्रिय द्वारा वैश्या में इत्यादि) उत्पन्न किये पुत्र माता के निकृष्ट वर्णत्व रूपी दोष के कारण निन्दित होने से पिता के सदृश तो होते हैं, पर वे पूर्ण रूप से उसके सवर्ण नहीं होते; अर्थात् वे माता की अपेक्षा उत्कृष्ट और पिता की अपेक्षा निकृष्ट वर्ण के होते हैं।

नोट—इस श्लोक से स्पष्ट है कि अनुलोम विवाह से पैदा सन्तान भी शुद्ध न होकर मिश्रित वर्ण की होती है प्रतिलोमज सन्तान तो इससे भी निकृष्ट है। यही कारण है कि पैतृक धन में औरस पुत्र के तुल्य अनुलोमज पुत्रों को भाग नहीं मिलता। मनुस्मृति, अध्याय ६, श्लो० १४६–१५७।

असवर्ण विवाह के सम्बन्ध में मनु की यह व्यवस्था है—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्म्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोवराः ॥मनु ३ । १२॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के प्रथम विवाह में सवर्णा स्त्री ही प्रशंसनीय है; परन्तु काम-वश विवाह करने में प्रवृत्ति होने पर आगे कही हुई स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।

शूद्रैव भार्य्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥मनु ३ । १३॥

अर्थ—शूद्र की केवल शूद्रा, वैश्य की वैश्या और शूद्रा, क्षत्रिय की क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, और ब्राह्मण की ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा स्त्री हो सकती है।

मनु ने पहले तो द्विजाति के लिए शूद्रा स्त्री की भी व्यावस्था दे

दी; परन्तु उसी सिलसिले में शीघ्र ही आगे चलकर उसकी घोर निन्दा भी कर दी—

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्य्योपदिश्यते ॥
हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम ॥
शूद्रावेदी पतत्यत्रे रुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥
शूद्रांशयनमारोप्य ब्राह्मणोयात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥
दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्यतु ।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥
वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥मनु ३ । १४-१९॥

अर्थ—इतिहास आदि किसी वृत्तान्त में गृहस्थ ब्राह्मण और क्षत्रिय को विपत्तिकाल में भी शूद्रा भार्य्या ग्रहण करने का उपदेश नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मोहवश यदि हीन जाति की स्त्री से विवाह कर लें तो वे उस स्त्री में उत्पन्न हुई पुत्र-पौत्रादि सन्तानों के साथ शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते हैं। अत्रि और गौतम के मत से शूद्रा स्त्री के साथ विवाह करने से ही ब्राह्मणादि पतित हो जाते हैं। शौनक के मत से शूद्रा के साथ विवाहकर उसमें सन्तान उत्पन्न करने से द्विज पतित होता है। भृगु के मत से शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तान की सन्तान होने पर वह पतित होता है। शूद्रा के साथ भोग करने से ब्राह्मण नरक को जाता है और उसमें पुत्र उत्पन्न करने से तो ब्राह्मणत्व से ही हाथ धो बैठता है। दैव (होम आदि), पित्र्य (श्राद्ध आदि) तथा आतिथ्य (अतिथि-

भोजन आदि) इनको जिसकी शूद्रा स्त्री करती है उसका हव्य और कव्य देवता और पितृगण नहीं खाते और वह स्वर्ग को नहीं जा पाता। जिसने शूद्रा का ओठ चुंबन किया है, जो शूद्रा के मुँह की भाप से दूषित हो गया है और जिसने शूद्रा में सन्तान उत्पन्न की है, ऐसे ब्राह्मण की शुद्धि नहीं है।

मनु ने यद्यपि ब्राह्मण के लिये शूद्रा स्त्री को निन्दित बतलाया तथापि उनके इस वचन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। औरों की कथा तो दूर रहे; स्वयं महर्षि-पुंगव वशिष्ठ, जो धर्म-शास्त्र के प्रवर्तकों में से हैं, और महर्षि मन्दपाल ने नीच जाति में उत्पन्न क्रमशः अक्षमाला और सारंगी को अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनाया। कारण स्पष्ट है। मानव-प्रकृति में जो पशुता का अंश है वह सदा एक कठोर नियंत्रण में रखने योग्य है। जहाँ उसको थोड़ी भी हिलने की जगह मिली, फिर उसकी धाँधली देख लीजिए। मनु ने 'कामतस्तुप्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोवराः' का फतवा एक बार देकर जो वैवाहिक नियम को ढीला कर दिया उसका ऐसा परिणाम होना स्वाभाविक है और जब वशिष्ठ आदि जैसे महर्षियों की ही ऐसी दशा थी, तो साधारण जनता अधोगति के महागर्त्त में किस भेंड़िया-धसान की तरह गिरी होगी, इसकी केवल कल्पना की जा सकेगी। उक्त स्मृतिकार ने असवर्ण विवाह की व्यवस्था देकर समाज में न केवल कामुकता ही को प्रोत्साहित किया; बल्कि उसे सांकर्य दोष से दूषित करने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। साधारण जन जो कार्य करते हैं उनका वैयक्तिक उदाहरण लेख-बद्ध नहीं हो सकता; पर जो कार्य समाज के प्रतिष्ठित तथा कर्णधार करते हैं उनके वैयक्तिक उदाहरण ग्रन्थों में अमिट रूप से आ जाते हैं और प्राकृत जनों के लिए पथ-प्रदर्शक और उत्साह-वर्द्धक बन जाते हैं। अपने धर्म-ग्रन्थों के पन्ने उलटिये और असवर्ण विवाह के इन वैयक्तिक

उदाहरणों पर दृष्टिपात कीजिए—वशिष्ठ और अक्षमाला; मन्दपाल और सारंगी; जमदग्नि और रेणुका; वैश्रवण और कैकसी; ययाति और देवयानी; ययाति और शर्मिष्ठा; शान्तनु और सत्यवती; शान्ता और ऋष्यशृङ्ग; श्रीकृष्ण और जाम्बवंती: अर्जुन और उलूपी; भीम और हिडिम्बा, च्यवन और सुकन्या; सौभरि और मान्धाता की ५० कन्याएँ; ब्रह्मदत्त और कुशनाभ की १०० कन्याएँ; शिव और पार्वती; ये १५ उदाहरण महानुभावों के हुए। खोजने से असवर्ण विवाह के और भी उदाहरण मिलेंगे। यह एक विचार करने योग्य विषय है कि जब बड़े-बड़े सिद्ध महात्माओं की यह दशा थी तो साधारण जन अपने मन को किस प्रकार काबू में रख सके होंगे।

(३) रक्त-संमिश्रण के अन्य कारणों की तरह नियोग की कुत्सित प्रथा ने भी संकरता फैलाने में कुछ कम काम नहीं किया।

नियोग

हमारे पवित्र धर्मशास्त्रानुसार पुत्रोत्पादन भी एक आवश्यक कर्तव्य था; क्योंकि हिन्दू विश्वासानुसार पुत्रहीन पिता की सद्गति नहीं होती। अतः शास्त्रों की यह खुली आज्ञा थी कि अपुत्रा स्त्री यदि विधवा हो जाए अथवा सधवा स्त्री का विवाहित पति पुत्रोत्पादन के लिए स्वयं असमर्थ हो, तो वैसी स्त्री शास्त्र विहित नियमानुसार अन्य पुरुष के साथ यौन-सम्बन्धकर पुत्र उत्पन्न कर ले। मनु ने अपुत्रा स्त्रियों को केवल अपने देवर वा किसी सपिंड से ही नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न कर लेने की आज्ञा दी है—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥ मनु ६। ५६॥

अर्थ—सन्तान के न होने पर स्त्री, पति आदि के द्वारा नियुक्त होने पर देवर अथवा और किसी सपिण्ड से इच्छित सन्तान प्राप्त कर ले।

नोट—पति के भाई की 'देवर' संज्ञा है; चाहे वह पति से बड़ा हो वा छोटा; जैसे महर्षि व्यास ने अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य्य की विधवा स्त्रियों में नियोग-विधि से धृतराष्ट्र आदि को उत्पन्न किया था। मूल पुरुष से चलकर सात पीढ़ियों तक के वंशज परस्पर सपिण्ड कहलाते हैं। 'जातिभास्कर' पृष्ठ २१५ श्लोक १६६ देखिए—

सापिण्ड्यं सप्तपुरुषं सोदका आचतुर्दश।
सगोत्रा एकविंशाः स्युस्तत उर्ध्वंतु गोत्रजाः ॥विष्णु-रहस्य॥

अर्थ—सात पीढ़ियों तक सपिण्ड, चौदह पीढ़ियों तक समानोदक, इक्कीस पीढ़ियों तक सगोत्र और इसके उपरान्त गोत्रज कहलाते हैं।

मनु की व्यवस्थानुसार द्विजाति की स्त्री देवर या सपिण्ड से भिन्न किसी अन्य पुरुष से नियोग नहीं कर सकती। पर इस नियम की परवाह किसी ने नहीं की। जब परशुराम ने पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर दिया तो क्षत्रिय विधवाओं ने ब्राह्मणों के साथ, जो भिन्न जाति के होने के कारण न उनके देवर थे और न उनके सपिण्ड थे, नियोग कर पुनः क्षत्रिय सन्तान उत्पन्न की। नियोग-विषयक दूसरा नियम यह था कि नियोग-विधि से केवल एक पुत्र; नहीं तो, किसी-किसी के मत में दो पुत्रों तक; पर दो पुत्रों से अधिक नहीं, उत्पन्न किए जा सकते थे। पर इस बन्धन की भी लोगों ने अवहेलना की; क्योंकि कुन्ती ने नियोग द्वारा युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम इन तीन पुत्रों को उत्पन्न किया था। सारांश यह कि जिस विधि-विशेष के साथ नियोग द्वारा पुत्रोत्पादन करने की शास्त्रीय आज्ञा थी उस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया! आगे चलकर मानव-स्वभाव का पशु अंश इस आपद्धर्म का बहुत दुरुपयोग करने लगा यहाँ तक कि जाते-जाते राजा बेन के शासन काल में इसकी बागडोर इतनी ढीली पड़ गई कि सवर्ण-असवर्ण का, किम्वा देवर-सपिण्ड का विचार बिल्कुल

जाता रहा और समाज में एक घोर संकरता फैल गई जिससे शिष्ट जन इसे एक विगर्हित पशु-धर्म कहने लगे—

> अयं द्विजैर्हिविद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
> मनुष्याणामपि प्रोक्तो बेनेराज्यं प्रशासति ॥
> समहीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवरः पुरा ।
> वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ मनु ९ । ६६-६७ ॥

अर्थ—राजा बेन के राज्य-शासन-काल में विद्वान् ब्राह्मणों ने इस नियोग को मनुष्यों के लिए एक निन्दित पशु-धर्म कहा; अर्थात् नियोग पशु-धर्म है; मनुष्यों के लिए सर्वथा वर्जनीय है । राजर्षियों में श्रेष्ठ उस बेन ने समूची पृथ्वी का भोग करते हुए कामोन्मत्त होकर वर्णों का संकर (मिलावट) कर दिया ।

आगे के श्लोक द्वारा मनु ने नियोग पर एक प्रतिबन्ध लगा दिया—

> ततः प्रभृतियो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
> नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ मनु ९ । ६८ ॥

अर्थ—उस समय से जो पुरुष मोहवश मृतभर्तृका आदि स्त्रियों को सन्तानार्थ नियुक्त करता है उसकी निन्दा साधु पुरुष करते हैं ।

मनु ने नियोग पर साधु-निन्दा रूपी एक प्रतिबन्ध तो लगा दिया; पर उसकी भी अवहेलना की गई । यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए उक्त राजा बेन का संक्षिप्त परिचय दे देना अनावश्यक न होगा । स्वयंभू (ब्रह्मा) के पुत्र स्वायंभुव मनु हुए जो वर्त्तमान श्वेत वाराह कल्प के पहले मनु थे और जिनकी चलाई वर्त्तमान मनुस्मृति है । स्वायंभुव मनु के पुत्र राजा उत्तानपाद हुए जिनके पुत्र पुराण-प्रसिद्ध भक्तराज ध्रुव थे । इन्हीं ध्रुव के छोटे पुत्र वत्सर की शाखा में उसकी आठवीं पीढ़ी में राजा बेन हुआ । श्रीमद्भागवत के अनुसार राजा बेन की वंशावली इस प्रकार है—

ब्रह्मा, स्वायंभुव मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, वत्सर, पुष्पार्ण, व्युष्ट, सर्वतेजा, मनु, उल्मुक, अंग, बेन* इत्यादि। अर्थात् ब्रह्मा से प्रारंभ कर उनकी बारहवीं पीढ़ी में राजा बेन हुआ। इससे स्पष्ट है कि बेन पहले मन्वन्तर (स्वायंभुव मन्वन्तर) का राजा था और महाभारत का युद्ध सातवें मन्वन्तर अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर में हुआ था जैसा कि श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोक से पता चलता है—

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः।
सप्तमोवर्त्तमानोयस्तदपत्यानि मे शृणु॥स्कं० ८, अ० १३ श्लो० १॥

अर्थ—शुकदेव जी राजा परीक्षित से कहते हैं कि हे राजन् सूर्यदेव के पुत्र श्राद्धदेव नाम सातवें मनु हैं। ये ही वर्त्तमान मनु हैं। उनकी सन्तानों का विवरण मुझसे सुनो।

नोट—श्राद्धदेव का दूसरा नाम वैवस्वत है।

उक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि नियोग-प्रथा, चाहे वह वैधरूप में

---

*इस वंशावली के अनुसार मनु की ११वीं पीढ़ी में बेन हुआ; अत. शंका होती है कि मनु ने बेन-विषयक वार्त्ता कैसे जानी और उसे भूतकाल में क्यों लिखा? इसका समाधान यह है कि मनुस्मृति का प्रचलित संस्करण मनु के बहुत काल के बाद तैयार हुआ है। अतः सम्पादकों ने धर्म-विषयक स्वकालीन लोकमत का उल्लेख करते हुए बेन, विश्वामित्र, भरद्वाज, अजीगर्त्त, वामदेव आदि की भी चर्चा कर दी है। पर इससे उक्त चर्चा की प्रामाणिकता में कोई त्रुटि नहीं है। समय की गति के साथ सभी पुस्तकों में नई-नई बातों का समावेश हो जाया करता है तथा कुछ बातें निकाल भी दी जाती हैं। पर आर्य समाजी ऐसी बातों को प्रक्षिप्त कह दिया करते हैं। पर क्या उनका "सत्यार्थ-प्रकाश" अपने असली (ई० स० १८७५ के) रूप में है?

हो वा अवैधरूप में, स्वायंभुव* मन्वन्तर में ही विद्वानों द्वारा पशु-धर्म घोषित हो चुकी थी और तब से वह ६ मन्वन्तरों को पार करती हुई सातवें (वैवस्वत) मन्वन्तर में भी, जिस समय महाभारत-युद्ध हुआ था, जारी थी और उक्त राजा परीक्षित के पूर्वज धृतराष्ट्र, पांडु तथा पाँचों पांडवों का जन्म नियोग नामधारी इसी पशु-धर्म के द्वारा हुआ था। आश्चर्य है कि स्वयं धर्मराज तथा निखिल ज्ञान के भंडार महर्षि वेदव्यास ने इस पशु-धर्म का आश्रय लेकर पर-स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न की और इन महानुभावों को अपने इस घोर अधःपतन पर तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ। कितने धूर्त कथक्कड़ हमारे भोले-भाले तथा सीधे सपाटे हिन्दू भाइयों को, जिन्होंने महाभारत का मूल ग्रन्थ, जो संस्कृत में है, नहीं पढ़ा है, यह कहकर बहकाया करते हैं कि धर्मराज आदि देवताओं ने कुन्ती और माद्री के साथ, तथा व्यासदेव ने अम्बिका और अम्बालिका के साथ, कुछ प्राकृत मनुष्यों की तरह प्रसंग करके पुत्रोत्पादन नहीं किया था; बल्कि उन महातेजस्वी पुरुषों ने केवल अपने अमोघ आशीर्वाद से ही उक्त रानियों की पुत्र-कामना पूरी की थी। इस प्रसंग में पहले मैं व्यासकृत नियोगों पर विचार करूँगा और तत्पश्चात् धर्मराजादि देवताओं के किए हुए नियोगों पर। यदि व्यास के केवल आशीर्वाद से ही पुत्र-प्राप्ति हो सकती थी, तो उनको सत्यवती से यह कहने की क्या ज़रूरत थी कि यदि अम्बिका मेरे कुरूप, दुर्गन्धयुक्त शरीर तथा कुवेश को सह सके तो वह आज ही गर्भवती हो जाए। वे जानते थे कि विचित्रवीर्य की दोनों रानियाँ, अम्बिका और

---

*१४ मनु हैं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि, और इन्द्रसावर्णि।

अम्बालिका, रूप-यौवन-सम्पन्न हैं; वे उनके जैसे काले-कलूटे पुरुष के साथ, जिसके शरीर से बदबू निकल रही है और जो नितान्त कुरूप है, सहवास करने पर राजी न होगी। स्थिति सचमुच ऐसी ही थी। सत्यवती को बहुत कुछ समझा-बुझाकर अम्बिका को पुत्रलाभार्थ व्यास के साथ सहवास के लिए राजी करना पड़ा। महाभारत, आदि-पर्व, अध्याय १०५ पढ़िये। सत्यवती ने अपनी पुत्र-वधू अम्बिका को एकान्त में ले जाकर कहा—

कौशल्ये ! धर्ममंत्रंत्वां यद्‌ब्रवीमि निबोध तत् ।
भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ॥
व्यथितां मां च संप्रेक्ष्य पितृवंशं च पीड़ितम् ॥ ४६ ॥

भीष्मोबुद्धिमदान्मह्यं कुलस्यास्यविवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि ! प्रापय मां तथा ॥ ४७ ॥

नष्टं च भारतंवंशं पुनरेवसमुद्धर ।
पुत्रंजनयसुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ।
स हि राज्यधुरं गुर्व्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्यनः ॥ ४८ ॥

सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद्धर्मचारिणीम् ।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे कौशल्ये, तुमको जो धर्मयुक्त सलाह देती हूँ उसे तुम सुनो। मेरे दुर्भाग्य से भरतवंश का अन्त प्रकट है। भीष्म ने मुझे दुःखित तथा अपने पिता के वंश को उच्छिन्न देखकर इस कुल की वृद्धि के लिये एक युक्ति बतलाई है। हे बेटी ! वह युक्ति तुम्हारे अधीन है; अतः तुम उस युक्ति को सफल कर मेरा अभीष्ट सिद्ध करो। इस नष्ट हुए भरतवंश का फिर से उद्धार करो। हे सुन्दरी ! तेज में देवराज के समान पुत्र उत्पन्न करो। वह कुमार हमारे कुल के इस भारी राज्य को सँभालेगा। सत्यवती ने उस धर्मचारिणी को

धर्मानुसार विनय करके किसी प्रकार राजी किया तथा ब्राह्मणों, देवर्षियों और अतिथियों को भोजन कराया।

क्या महाभारत के उक्त श्लोकों से यह स्पष्ट नहीं है कि अम्बिका सत्यवती के बहुत गिड़गिड़ाने तथा अनुनय-विनय करने पर ही व्यास के साथ नियोग करने को राजी हुई? यदि केवल आशीर्वाद से ही पुत्र मिलने को होता तो सत्यवती को इस प्रकार अनुनय की नौबत नहीं आती। इसके बाद इस नियोग के सम्बन्ध में जो कुछ आयोजन हुआ उससे तो यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि व्यास ने अम्बिका के साथ प्रसंग किया था। अध्याय १०६ के प्रारंभिक श्लोक पढ़िये—

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचन मब्रवीत् ॥ १ ॥
कौशल्ये ! देवरस्तेऽस्ति सोऽद्यत्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अम्बिका के नियोग-काल में ऋतु-स्नान करने पर सत्यवती ने उसको अच्छे सजे हुए बिस्तर पर बिठाकर धीरे से यह कहा—हे कौशल्ये! आज आधी रात को तुम्हारा देवर तुम्हारे पास आवेगा। तुम सावधान होकर उसकी प्रतीक्षा करना।

यह एक साधारण बात है जिसे सभी जानते हैं कि स्त्रियाँ ऋतुवती होने के पश्चात् स्नान करने पर ही पुरुष-प्रसंग तथा गर्भ धारण के योग्य होती हैं तथा आधी रात ही सहवास करने का उपयुक्त समय है। अतः यदि व्यास के केवल आशीर्वाद से ही पुत्र-प्राप्ति होने को होती तो वे अपना आशीर्वाद सब किसी की उपस्थिति तथा दिन में भी अम्बिका को दे सकते थे। उन्हें आधी रात को ऋतुस्नाता अम्बिका के शयनागार में जाने की ज़रूरत ही क्या थी?

व्यास देव अपने आशीर्वाद का केवल मौखिक उपयोग नहीं करना चाहते थे; प्रत्युत वे उसको कार्य रूप में परिणत कर उसे एक व्यावहारिक रूप देना चाहते थे। उक्त अध्याय का ६वाँ श्लोक तो रहा-सहा सन्देह मिटा देता है—

संबभूव तयासार्द्धं मातुः प्रियचिकीर्षया।
भयात् काशीसुतातं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥६॥

अर्थ—व्यास ने माता का प्रिय साधने के लिए अम्बिका के साथ संगम किया; पर काशिराजपुत्री (अम्बिका) मारे भय के उनकी ओर देख न सकी।

नोट—'संबभूव' क्रिया में 'सम्' उपसर्ग है जिसका अर्थ 'सम्यक् प्रकार से' (अच्छी तरह) है; अतः 'तया सार्द्धं संबभूव' का अर्थ हुआ 'अच्छी तरह उसके साथ हो गए।', 'सम्' का अर्थ 'इकट्ठा' भी है जिस दशा में 'तयासार्द्धं संबभूव' का अर्थ हुआ 'उसके साथ इकट्ठे हो गए।' चाहे जैसे अर्थ कीजिए, संगम (प्रसंग) का अर्थ ज़रूर निकलता है।

व्यास के बीभत्स रूप को देखकर अम्बिका ने मारे डर के अपनी आँखें बन्द कर लीं और अम्बालिका पीली हो गई। केवल अम्बिका की दासी ही ऐसी थी जो तीसरे नियोग में व्यास के साथ निर्भीक तथा निःसंकोच भाव से मिली और वे उसके साथ भोग-विलास करके परितृप्त हुए—

कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः।
तयासहोषितो राजन् ! महर्षिः शंसितव्रतः ॥ २६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! व्रतशील महर्षि उस दासी के पास अकेले में वासकर और उसके साथ कामोपभोग कर अति प्रसन्न हुए।

व्यास कृत नियोगों पर इस प्रकार विचारकर अब धर्मराजादि देवताकृत नियोगों पर, जो पांडु की रानियों (कुन्ती और माद्री) के

साथ हुए थे, विचार किया जाता है। राजा पांडु मृग रूपधारी किन्दम नाम मुनि के शाप के कारण अपनी स्त्रियों में स्वयं पुत्रोत्पादन के लिए असमर्थ थे; अतः उन्होंने कुन्ती से किसी तपोनिष्ठ ब्राह्मण को बुलाकर नियोग-द्वारा पुत्र उत्पन्न करने को कहा। इस पर कुन्ती ने पांडु को जो उत्तर दिया वह धूर्त कथक्कड़ों और पाखंडियों के मुँह में स्याही पोत देने के लिए काफी है। यदि आशीर्वाद से ही पुत्र प्राप्ति हो सकती थी तो कुन्ती ने नियोग पर आपत्ति क्यों की? आदि पर्व का १२१वाँ अध्याय पढ़िये—

न मामर्हसि धर्म्मज्ञ ! वक्तुमेवं कथंचन।
धर्म्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २॥
त्वमेवतु महाबाहो ! मय्यपत्यानि भारत !
वीर ! वीर्य्योपपन्नानि धर्म्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥
स्वर्गं मनुज-शार्दूल ! गच्छेयं सहिता त्वया।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ! ॥ ४ ॥
न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुविमानवः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे धर्म के जानने वाले ! मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ और कमल की सी आँखों वाले आपसे प्रेम करती हूँ। आपको मुझसे ऐसी (नियोग विषयक) बात कहना किसी प्रकार उचित नहीं है। हे महाबाहु वीर भारत ! धर्मानुसार आप ही मुझमें अपने वीर्य से सन्तान उत्पन्न करें। हे पुरुषसिंह ! ऐसा ही करने से मैं आपके साथ स्वर्ग जा सकूँगी। हे कुरुनन्दन ! सन्तान के लिए आप ही मेरे साथ संगम करें। मैं आपको छोड़ किसी दुसरे पुरुष के पास मन के द्वारा भी नहीं जा सकती। इस भूमंडल में ऐसा कौन है जो आपसे अधिक श्रेष्ठ है।

ये हैं कुन्ती के वचन जो नियोग का नाम सुनते ही मारे घृणा

के तिलमिला उठी। क्या उसकी इन बातों से यह स्पष्ट नहीं है कि वह नियोग-विधि से पुत्र उत्पन्न करना नहीं चाहती थी; क्योंकि वह नियोग की वास्तविकता जानती थी कि इसमें परपुरुष के साथ प्रसंग का होना अनिवार्य है जो उसकी आत्मा के विरुद्ध था? इसीलिए तो उसने अपने धर्मपति पांडु से बार-बार प्रार्थना की कि वे ही अपने वीर्य से उसमें पुत्र उत्पन्न करें; वह अन्य पुरुष से मिलना नहीं चाहती। पर पांडु पुत्र-मुख देखने के लिए केवल लालायित ही नहीं, बल्कि पागल हो गए थे। उन्हें तो चाहे जैसे हो, अपनी स्त्री के गर्भ के पुत्रलाभ करना अपनी सद्गति के लिए अधिक आवश्यक हो रहा था। अतः उन्होंने कुन्ती को बहुत झाँसा-पट्टी देकर तथा पूर्वकाल में किए हुए नियोगों का दृष्टान्त सुनाकर नियोग द्वारा पुत्रोत्पादन के लिए राज़ी किया। अबला अबला ही है। बेचारी कुन्ती अपने पतिदेव की आज्ञा का उल्लंघन न कर सकी और धर्मराज, वायु और इन्द्र, इन तीन देवताओं के साथ नियोगकर क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन, इन तीन पुत्रों की जन्मदात्री बनी। इसी प्रकार पांडु की दूसरी रानी माद्री ने अश्विनीकुमारों के साथ नियोगकर नकुल और सहदेव, इन दो पुत्र-रत्नों को प्राप्त किया। यहाँ पर कितने धूर्त्त एवं उनके बहकावे में पड़े कितने हमारे भोले-भाले भाई लोग भी यह कह सकते हैं कि प्राकृत पुरुषों के साथ नियोग करने में नियुक्ता स्त्री को प्रसंग करने की आवश्यकता भले ही पड़े; पर देवताओं के साथ नियोग होने में इसकी आवश्यकता एकदम नहीं पड़ती; वहाँ पर तो केवल देवताओं का आशीर्वाद ही पुत्र-प्राप्ति के लिए काफ़ी हो जाता है। यदि ऐसी बात होती तो पांडु के और भी पुत्र पैदा करने के लिए कहने पर कुन्ती निम्नलिखित बातें क्यों कहती? आदिपर्व का १२३वाँ अध्याय पढ़िए—

नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।

अतः परं स्वैरिणीस्याद् बन्धकी पञ्चमे भवेत ॥ ७६ ॥
स त्वं विद्वन् ! धर्म्ममिम मधिगम्य कथं नु माम् ।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ॥ ७७ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग आपत्काल में भी चौथे प्रसव (सन्तान) की प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि चौथे पुरुष से मिलने पर स्त्री व्यभिचारिणी और पाँचवें पुरुष से मिलने पर वेश्या हो जाती है। हे बुद्धिशील ! आह यह धर्म जानने पर भी क्यों प्रमादपूर्ण बात कह रहे हैं।

कुन्ती के इन शब्दों से स्पष्ट है कि वह धर्मराज, वायु और इन्द्र, इन तीन पुरुषों के साथ प्रसंग कर चुकी थी; बस यही उसके लिए काफ़ी घृणित था। वह चौथे और पाँचवें पुरुष से मिलना नहीं चाहती थी; क्योंकि ऐसा करने से वह व्यभिचारिणी और वेश्या कही जाती। यदि नियोग में प्रसंग का प्रश्न नहीं था; यदि केवल देवताओं के आशीर्वाद से ही पुत्र मिल सकता था तो कुन्ती ने 'व्यभिचारिणी' और 'वेश्या' ये शब्द क्यों कहे ?

आर्य्य समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द का नियोग-विषयक विचार जानने के लिए चतुर्थ परिच्छेद का अन्त देखिए।

नियोग, नियोगज (क्षेत्रज) पुत्र, सवर्णासवर्ण विवाह एवं तज्जन्य पुत्र-विषयक चर्चा करते समय अष्टविध विवाह तथा द्वादश विध पुत्र-विषयक चर्चा का भी छिड़ जाना, जो प्राचीन हिन्दुओं में प्रचलित थे, अप्रासाङ्गिक नहीं है। प्राचीन काल में सवर्ण और असवर्ण नामक जो दो विवाह-भेद बतलाये गये हैं, वे स्त्री और पुरुष के वर्ण की दृष्टि से हैं। यहाँ पर जिन अष्टविध विवाहों का विवरण दिया जायेगा, वे उनकी सम्पादन-विधि की दृष्टि से हैं। मनु के अनुसार यों आठ प्रकार के विवाह नीचे लिखे हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ मनु ३।२१ ॥

अष्टविध विवाह

अर्थ—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये आठ प्रकार के विवाह हैं। इनमें पैशाच नामक आठवाँ विवाह अधम विवाह है।

अब इन अष्टविध विवाहों की सम्पादन-विधि बतलाई जाता है—

(१) ब्राह्म—विद्या और आचारयुक्त वर को बुलाकर और उत्तम वस्त्रों और अलंकारों से कन्या तथा वर को भूषितकर वर को जो कन्यादान दिया जाता है उसको ब्राह्म विवाह कहते हैं।

(२) दैव—ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के आरम्भ होने पर अच्छे प्रकार से कर्म करते हुए ऋत्विज् के लिए वस्त्राभूषणों से सुशोभित कर जो कन्या का दान है, उसे दैव विवाह कहते हैं।

(३) आर्ष—एक गौ और एक बैल ऐसे गौओं का एक जोड़ा, वा दो जोड़े, वर से यज्ञादि की सिद्धि के लिए अथवा कन्या को देने के लिए लेकर शास्त्रानुसार जो कन्यादान किया जाता है उसे आर्ष विवाह कहते हैं।

(४) प्राजापत्य—तुम दोनों मिलकर धर्म किया करो, ऐसा नियम कन्यादान के समय पहले करके और पूजन करके जो कन्यादान किया जाता है उसे प्राजापत्य विवाह कहते हैं।

(५) आसुर—कन्या के पिता आदि को अथवा कन्या को यथाशक्ति धन देकर जो अपनी इच्छा से कन्या का लेना है उसको आसुर विवाह कहते हैं।

(६) गान्धर्व—कन्या और वर की आपस की प्रीति से जो

परस्पर आलिंगनादि रूप मिलना है, ऐसे मैथुन सम्बन्धी और काम से उत्पन्न हुए विवाह को गान्धर्व विवाह कहते हैं।

(७) राक्षस—कन्या के पक्षवालों को मारकर, उनके अंगों को काटकर और किले की दीवार को तोड़कर, हाय पिता! हाय भाई! अनाथ मैं हरी जाती हूँ, ऐसी कहती हुई और आँसुओं को छोड़ती हुई कन्या को उसके घर से जो बलपूर्वक हर लेना है उसको राक्षस विवाह कहते हैं।

(८) पैशाच—सोई हुई, मद्य से व्याकुल, वा अपने शील की रक्षा से रहित कन्या के साथ जो एकान्त में मैथुन करता है वह सब पापों की जड़ तथा सब विवाहों में अधम पैशाच विवाह है।

कौन-कौन से विवाह किस-किस वर्ण के लिए उपयुक्त हैं, इस विषय में भी मनु ने अपनी सम्मति दी है। ब्राह्मण के लिए ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर और गान्धर्व, ये छः; क्षत्रिय के लिए आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये चार; तथा वैश्य और शूद्र के लिए आसुर, गान्धर्व और पैशाच, ये तीन विवाह धर्म्य हैं। पर प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग अनुमोदित इन विवाहों में भी ब्राह्मण के लिए ब्राह्मादि चार, क्षत्रिय के लिए केवल राक्षस तथा वैश्य और शूद्र के लिए केवल आसुर विवाह विद्वानों के द्वारा श्रेष्ठ माने गए हैं।

अब यहाँ पर इन अष्टविध विवाहों के गुण दोषों पर प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। आदि के ब्राह्मादि चार विवाह-भेद सर्वथा अनिन्द्य हैं। इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती, अतः ये पूर्णतः प्रशस्त हैं। पर अन्त के आसुर आदि चार विवाह-भेदों में, जिनके लिए भारतीय आर्य क्रमशः असुरों, गन्धर्वों, राक्षसों और पिशाचों के, इन अनार्य जातियों से उन्हें सीखने के कारण ऋणी थे, सभी आपत्तिजनक हैं तथा इनमें

आपत्ति की मात्रा क्रमशः बढ़ती गई है। आसुर विवाह कन्या के क्रय विक्रय के सिवा और कुछ नहीं। पर चूँकि कन्या के इस प्रकार का क्रय विक्रय क्रेता और विक्रेता दोनों ही की रज़ामन्दी से होता था और इससे किसी तीसरे व्यक्ति का कुछ हानि-लाभ न था, अतः इस विवाह में एक प्रकार का नैतिक पतन भले ही देख पड़ता हो, पर यह राजकीय नियमानुसार कोई दंडनीय अपराध नहीं था। गान्धर्व विवाह एक युवक और एक युवती के पारस्परिक प्रेम पर निर्भर है जिसमें उनके माता-पिताओं वा किसी अन्य अभिभावकों की स्वीकृति का स्थान नहीं है; अतः इस पर भारी आपत्ति यह है कि कुलीन कन्याएँ अकुलीन वरों के साथ, प्रेम के अन्धे होने के कारण, एक पाश में बँधकर एवं भोलीभाली नवयुवतियाँ धूर्त्त तथा धनलोलुप नवयुवकों के बनावटी प्रेम में फँसकर अपना जीवन नष्ट कर सकती हैं। अतः गान्धर्व विवाह भी एक प्रकार से अनुचित ही माना गया है। राक्षस और पैशाच विवाहों को तो विवाह न कहकर घोर अपराध कहना चाहिए जो वर्त्तमान काल में ताजिरात हिन्द के क्रमशः दफा ३६६ तथा ३७६ के अनुसार दंडनीय हैं। दफा ३६६ (§ 366 kidnapping or abducting woman to compel her marriage, etc.) हमें बतलाता है कि जो कोई किसी स्त्री को इस नियत से उड़ा ले जाये कि उसकी शादी किसी पुरुष के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध कर दी जाए अथवा वह अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी पुरुष के साथ व्यभिचार करे तो वैसे आदमी को १० वर्ष तक की कैद की सज़ा हो सकती है। पाठक गण! राक्षस विवाह की पूर्वोक्त परिभाषा के साथ इस दफ़ा के विधान को मिलावें और देखें कि दोनों में कितनी तात्त्विक समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक ही वस्तु एक जगह विवाह है तो दूसरी जगह दंडनीय जुर्म है। तिस पर तुर्रा यह कि

राक्षस विवाह क्षत्रिय जाति के लिए प्रशस्त माना गया है जिसका मुख्य कर्त्तव्य दूसरे की और विशेष करके अबला जाति की जान और माल तथा इज़्ज़त और आबरू की रक्षा करना है। जहाँ के रक्षक ही भक्षक हैं वहाँ की प्रजा की खैरियत कहाँ? दफ़ा ३७५ में किसी स्त्री के साथ ज़िना बिल्‌जब्र अर्थात् बलपूर्वक मैथुन (Rape) नामक अपराध की परिभाषा दी गई है। इन पाँच अवस्थाओं में से एक अवस्था स्त्री की अनुमति (Consent) का अभाव है! सोई हुई या किसी मादक द्रव्य के व्यवहार के कारण नशे में चूर वा विक्षिप्त (पागल) स्त्री की मानसिक स्थिति इस प्रकार की नहीं रहती कि वह किसी कार्य की भलाई वा बुराई को अच्छी तरह समझबूझकर अपनी अनुमति दे सके, अतः इस दशा में उसके साथ मैथुन करना ज़िना बिलजब्र (Rape) है जिसके लिए दफ़ा ३६६ के अनुसार आजन्म कालेपानी वा १० वर्ष तक के क़ैद की सज़ा हो सकती है। पर हमारे पवित्र धर्म-ग्रन्थ ऐसे पशुओं के मैथुन से भी बदतर मैथुन को पैशाच नामक एक वैध विवाह ही मानते हैं। मनु का ऐसे विवाह के लिए केवल 'अधम' शब्द का प्रयोग करना काफ़ी नहीं है। उन्हें तो इसकी गणना अपनी स्मृति के आठवें अध्याय में विविध घोर अपराधों में कर इसके लिए एक कठोर दंड की व्यवस्था देना चाहता था। पर उन्होंने ऐसा किया नहीं। पराए की बहू-बेटियों को उनके साथ जबर्दस्ती शादी करने की बुरी नीयत से इस प्रकार उड़ा ले जाने तथा नींद वा नशे के कारण अपने सतीत्व-रक्षण के प्रति असावधान अबलाओं के सतीत्वापहरण को भी शास्त्रीय विवाह भेद बतलाना हमारे प्राचीन सभ्यमन्य पूर्वजों की विलक्षण सभ्यता की परमोज्ज्वल बानगियाँ हैं जिन्हें, पाठकवृन्द कृपया उपहार स्वरूप स्वीकार करें!

वर्त्तमान काल में कौन-कौन से विवाह-भेद हिन्दू समाज में

प्रचलित हैं, इसे भी पाठकों की जानकारी के लिए बतला देना बहुत ज़रूरी है। आजकल ब्राह्म और आसुर विवाहों को छोड़कर शेष सभी विवाह उठ गए हैं, यहाँ तक कि ब्राह्म विवाह जो पूर्वकाल में केवल ब्राह्मणों में ही प्रचलित था, अब क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों तक में भी प्रचलित हो गया है। जहाँ विवाह-विधि मालूम नहीं रहती वहाँ ब्राह्म विवाह का ही गुमान (Presumption) किया जाता है। आसुर विवाह कतिपय शूद्र जातियों में प्रचलित है, पर द्विजातियों के लिए भी कोई कानूनी मनाही नहीं है। ब्राह्म और आसुर विवाह ठीक एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। ब्राह्म में कन्या का दान (Gift) है तो आसुर में उसका विक्रय (Sale) है।

द्वादशविध पुत्र अब द्वादश-विध पुत्रों का विवरण दिया जाता है। मनु के अनुसार बारह प्रकार के पुत्र हैं—

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढ़ोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादाबान्धवाश्च षट्॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथाः।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षड़दायाद-बान्धवाः ॥मनु ६।१५६-१६०॥

अर्थ—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न और अपविद्ध ये छः पुत्र दायाद (पैतृक सम्पत्ति में भाग पाने वाले) तथा बान्धव (पिण्डतर्पणादि के अधिकारी रिश्तेमन्द) भी हैं। कानीन, सहोढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र, ये छः पुत्र पिण्डतर्पणादि के अधिकारी बान्धव तो हैं पर पैतृक सम्पत्ति में भाग पाने वाले दायाद नहीं है—

उक्त १२ प्रकार के पुत्रों के लक्षण क्रमशः ये हैं—

(१) औरस—कन्या अवस्था में विवाहित अपने वर्ण की स्त्री में जिसको स्वयं उत्पन्न करे उसको औरस पुत्र कहते हैं। वही सभी प्रकार के पुत्रों में श्रेष्ठ है।



(२) क्षेत्रज—अपुत्रा, मृतपतिका वा असमर्थ-पतिका स्त्री में नियोग-विधि से परपुरुष द्वारा उत्पन्न किए हुए पुत्र को उस स्त्री के पति का क्षेत्रज पुत्र कहते हैं।

(३) दत्तक—पुत्रहीन व्यक्ति द्वारा स्वीकृत ऐसे पुत्र का नाम दत्तक पुत्र है जो वर्ण में उसके समान है और जिसके प्रकृत माता-पिता ने हाथ में जल लेकर प्रीतिपूर्वक उसे उस व्यक्ति को दान कर दिया है।

(४) कृत्रिम—श्राद्ध करने में क्या गुण है और न करने में क्या दोष है, इसके ज्ञाता, तथा माता-पिता की सेवा करना आदि पुत्र-गुणों से युक्त जिस समान वर्ण के बालक को पुत्र रूप मान ले, वह मान लेने वाले का कृत्रिम पुत्र कहलाता है।

(५) गूढ़ोत्पन्न—पतिगृह-वासिनी स्त्री में गुप्त रीति से अन्य पुरुष द्वारा उत्पादित ऐसे पुत्र को उस स्त्री के पति का गूढ़ोत्पन्न पुत्र कहते हैं जिसके विषय में यह तो मालूम है कि वह सजातीय है, पर उसका उत्पादक कौन है, इसका पता नहीं है।

(६) अपविद्ध—प्रकृत माता-पिता, दोनों के त्यागे हुए, अ . माता के देहान्त होने पर पिता के त्यागे हुए, वा पित के मरण होने पर माता के त्यागे हुए जिस पुत्र को ग्रहण किया जाय वह ग्रहण करनेवाले का अपविद्ध पुत्र कहलाता है।

(७) कानीन—कन्या एकान्त में पिता के घर समान वर्ण के पुरुष द्वारा जिस पुत्र को उत्पन्न करे उसका नाम कानीन है और उस कन्या के साथ जो विवाह करता है वह सन्तान उसका कानीन पुत्र कहलाता है।

(८) सहोढ़—जिसको गर्भिणी जानकर वा न जानकर उसके साथ जो पुरुष विवाह करता है वह गर्भ उस विवाहनेवाले का ही होता है और उस गर्भ से उत्पन्न पुत्र उसका सहोढ़ पुत्र कहलाता है।

(९) क्रीतक—जिस पुत्र को, चाहे वह क्रेता का सवर्ण हो वा असवर्ण, उसके प्रकृत माता-पिता को मूल्य देकर खरीद लिया जाए, वह क्रेता का क्रीतक पुत्र कहलाता है।

(१०) पौनर्भव—पति की त्यागी हुई अथवा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से पुनर्भू (फिर दूसरे की स्त्री) होकर जिस पुत्र को उत्पन्न करती है वह उत्पादक का पौनर्भव पुत्र कहलाता है।

(११) स्वयंदत्त—जो माता-पिता से हीन हो, अथवा जिसका माता-पिता ने अकारण त्याग कर दिया हो, ऐसे पुत्र जिसको आत्म-प्रदान कर दे तो वह उस ग्रहण करनेवाले का स्वयंदत्त पुत्र कहलाता है।

(१२) शौद्र—द्विजाति पिता के द्वारा विवाहित शूद्रा स्त्री में उत्पन्न किया हुआ पुत्र शौद्र कहलाता है। यदि पिता ब्राह्मण हो तो उसकी संज्ञा पारशव (निषाद); क्षत्रिय हो तो उग्र तथा वैश्य हो तो सूचिक (दरजी) होती है।

मनु के पूर्व के आचार्यों ने इन द्वादशविध पुत्रों के अतिरिक्त एक और भी पुत्र-भेद माना है जिसका नाम पुत्रिका-पुत्र है। यदि

पुत्रिका-पुत्र

भ्रातृहीन कन्या का पिता उसको आभूषणों से अलंकृतकर इस शर्त पर किसी वर के साथ उसका विवाह करे कि उस विवाह से उत्पन्न हुआ पुत्र कन्या के पिता को मिलेगा तो ऐसा पुत्र कन्या के पिता का अर्थात् अपने नाना का पुत्रिका-पुत्र कहलाता है। वशिष्ठ स्मृति देखिए—

अभ्रातृकांप्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः समेपुत्रोभवेदिति ॥

अर्थ—कन्या का पिता वर से कहता है कि मैं अपनी भ्रातृहीन

कन्या को आभूषणों से शोभितकर तुमको इस शर्त पर देता हूँ कि इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मेरा होगा।

अष्टविध विवाहों तथा द्वादशविध पुत्रों पर विचार करना है। इन विवाहों में राक्षस और पैशाच तथा इन पुत्रों में क्षेत्रज, गूढ़ोत्पन्न, कानीन, सहोढ़, पौनर्भव और शौद्र क्रमशः ऐसे विवाह और पुत्र हैं जो किसी भी सभ्यमन्य जाति के लिए कलंक के कारण हैं और विशेषकर हमारे पूर्वजों की तो तथाकथित (so called) सभ्यता और संस्कृति का भंडाफोड़कर उनका नग्न स्वरूप आधुनिक सभ्य जगत् के सन्मुख लाकर खड़ा ही कर देते हैं। जिस समाज में अबलाओं का बल-पूर्वक विवाहार्थ अपहरण और उनका सतीत्व नाशन, तथा व्यभिचार जैसे पापकर्म के द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र भी धर्मशास्त्रानुसार क्रमशः दंडनीय और अवैध ठहराये जाने के बदले जायज क़रार दिए जाते-हों उस समाज का नैतिक पतन किस रसातल को जा पहुँचा होगा, यह मानव-कल्पना के बाहर है। उक्त विगर्हित विवाहों तथा पुत्रों के कारण समाज में कितना दुराचार, कितना व्यभिचार तथा कितनी संकरता फैल गई होगी, इसका अनुमान करना कठिन है। इन सारी बुराइयों की जड़ हिन्दुओं का वह धार्मिक अन्ध विश्वास था जो उन्हें एक कपोल-कल्पित सद्गति के लिए किसी भी प्रकार से पुत्रोत्पत्ति के लिए विवश करता था। हिन्दुओं का विश्वास है कि जब तक परलोक प्राप्य पिण्ड-तर्पणादि का देनेवाला पुत्र नहीं होता तब तक कोई व्यक्ति सद्गति प्राप्त नहीं कर सकता और न वह पितृ-ऋण से ही छुटकारा पा सकता है, अतः चाहे जैसे हो पुत्र प्राप्त करना एक ज़रूरी फर्ज है। दत्तक मीमांसोध्धृत मनु वचन है—

अपुत्रेण सुतः कार्य्यः यादृक् तादृक् प्रयत्नतः।
पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसंकीर्त्तनाय च॥

अर्थ—पुत्रहीन व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी प्रकार का पुत्र पिण्ड-तर्पणादि क्रियाओं को करने तथा वंश का नाम जारी रखने के लिए, यत्नपूर्वक कर ले। अत्रि का वचन है—

अपुत्रेणैव कर्त्तव्यः पुत्रप्रतिनिधिः सदा।
पिण्डोदक क्रियाहेतोर्यस्मात् तस्मात् प्रयत्नतः ॥अ०स्मृ०५२॥

अर्थ—पुत्रहीन व्यक्ति को चाहिए कि वह पिण्ड-तर्पणादि क्रिया के लिए यत्नपूर्वक, चाहे जैसे हो, सदा पुत्र का प्रतिनिधि कर ले।

नोट—केवल औरस पुत्र ही यथार्थनामा है। क्षेत्रज आदि उसके प्रतिनिधि (Substitutes) मात्र हैं। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं—

ऋणमस्मिन् सन्नयति अमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।
अनन्ताः पुत्रिणां लोका नापुत्रस्य लोकोऽस्तीतिश्रूयते ॥

अर्थ—पिता यदि उत्पन्न हुए अपने जीवित पुत्र का मुँह देख ले तो वह अपना पितृ-ऋण उस पुत्र को सौंप देता है और मोक्ष को प्राप्त होता है। पुत्रवालों के लिए अनन्त स्वर्गलोक हैं; पर वे पुत्रहीनों के लिए नहीं हैं, ऐसा वेदों में सुना जाता है।

बंगाल के सुप्रसिद्ध हिन्दू कानून-विशारद श्री गोपालचन्द्र शास्त्री, एम० ए० बी०एल० महोदय अपनी "A Treatise On Hindu Law", Sixth Edition, pp. 180 & 181, में पूर्वोक्त विविध आपत्तिजनक पुत्रों पर अपनी सम्मति इस प्रकार देते हैं—

The above descriptions of diverse kinds of sons recognised in ancient times, disclose that sexual relation was very loose, and chastity of women was not valued. The relation of husband and wife, of father

and son, and of master and slave, appears to have involved the idea of absolute power on the one hand, and abject subjection on the other, or of the one being the property of the other Procreation by the father was not a necessary element in the conception of sonship.

अर्थ—उपर्युक्त विविध प्रकार के पुत्रों के विवरण से, जो प्राचीन काल में स्वीकृत थे, यह प्रकट होता है कि (प्राचीन हिन्दुओं में) यौनसम्बन्ध बहुत ही ढीला था और स्त्रियों के सतीत्व का कोई मूल्य न था। पति और पत्नी का, पिता और पुत्र का, एवं स्वामी और दास का सम्बन्ध, एक ओर असीम अधिकार तथा दूसरी ओर अधम आधीनता, वा एक दूसरे की सम्पत्ति होने की भावना से भरा था। पिता द्वारा उत्पन्न होना पुत्रत्व की कल्पना का आवश्यक अंश न था।

इस विषय पर इतना ही लिखना पर्याप्त है। इतने से ही हमारी प्राचीन सभ्यता की झलक मालूम हो जाती है।

(४) विदेशियों का हिन्दूकरण—हिन्दू जाति में रक्त-संमिश्रण का चौथा कारण विदेशियों का हिन्दूकरण है। द्वितीय परिच्छेद में

विदेशियों का हिन्दूकरण

राजपूत जाति की उत्पत्ति लिखते समय बतलाया गया है कि शक, हूण, गुर्जर आदि कितनी ही विदेशी बर्बर जातियाँ हिन्दू धर्म को ग्रहण करके राजपूत नामक एक नवीन क्षत्रिय जाति बन गईं। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन बर्बरों का समूचा ही जनसमुदाय हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लेने से ही क्षत्रिय वर्ण में परिणत हो गया। बल्कि इन लोगों के केवल वे ही दल वा

राजपूत

परिवार क्षत्रिय हुए जिन्होंने शासक-पदवी प्राप्त की या किसी राज्य के संस्थापन में कृतकार्य हुए और जो इनमें मध्यम तथा निम्न श्रेणी के लोग थे वे जाट, गूजर एवं इन्हीं के सदृश अन्य जातियों के रूप में ढल गए। इसी प्रकार दक्षिण भारत की गोंड, भर, कोल आदि अनार्य जातियों के जिस दल ने अधिकार प्राप्तकर राज्य शासन, जो क्षत्रियों का धर्म है, अपने हाथ में लिया वे तो चन्देल, बुन्देल, गहरवार आदि राजपूत-क्षत्रियों के रूप में परिणत हुए और इनके ही भाई-बन्धु, जो इस प्रकार की उन्नति न कर सके, गोंड़ आदि ही रह गए जो आज तक अपनी प्राचीन हीनावस्था में सड़ते हुए मजदूरी आदि कर अपना पेट पाल रहे हैं।

राजपूत क्षत्रियों की ही तरह शाकद्वीपीय ब्राह्मण भी भारतीय आर्यों की सन्तान नहीं है। ब्राह्मणोत्पत्ति मार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ के

शाकद्वीपीय ब्राह्मण

पृष्ठ ५४१-५४३ तक में इस जाति की उत्पत्ति भविष्यपुराण के १३३वें अध्याय के आधार पर यों लिखी है—श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब ने जो जाम्बवती के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, सूर्यदेवता का एक मन्दिर बनवाया और जब उस देवता की पूजा-पाठ के लिए उसे स्वदेश (भारत) में देवलकर्म को स्वीकार करनेवाला कोई ब्राह्मण नहीं मिला, तो उसने सूर्यदेवता की आज्ञा से शाकद्वीप (Scythia) से मगसंज्ञक ब्राह्मणों के दश तथा मंदगसंज्ञक शूद्रों के आठ, कुल मिलाकर अट्ठारह, कुमारों को लाकर चन्द्रभाग नदी के तट पर बसा दिया इत्यादि। किसी-किसी विद्वान् का कथन है कि साम्ब कुष्ट-रोग से ग्रस्त हुआ। भारत में जब रोग का कोई चिकित्सक नहीं मिला, तो श्रीकृष्ण ने साम्ब की चिकित्सा करने के लिए शाकद्वीप से कुछ मग ब्राह्मणों को, जो इस रोग की चिकित्सा करने में निपुण

थे, अपने यहाँ बुलाया। परम्परागत अन्धविश्वासानुसार कुष्ट-रोग का मूल कारण सूर्यदेवता का प्रकोप है; अतः उन्हीं मग चिकित्सकों के परामर्श से, जो सूर्यदेवता के पुजारी भी थे, श्रीकृष्ण ने उक्त देवता को प्रसन्न करने के लिए सूर्य का एक मन्दिर बनवाया और उन्हीं मग ब्राह्मणों को उसका पुजारी नियुक्त कर दिया। निदान सूर्यदेव की कृपा तथा मग चिकित्सकों की चिकित्सा से साम्ब कुष्ट-रोग से मुक्त हुआ। दोनों मतों की संगति इस प्रकार लग सकती है; क्योंकि इनमें कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। और उन्हीं भारत में आए मग ब्राह्मणों की सन्तान शाकद्वीपीय ब्राह्मण कहलाई।

पर शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के ब्राह्मणत्व पर एक भारी आक्षेप है जिसका निराकरण दुष्कर है। मनु अपनी स्मृति के दसवें अध्याय में श्लोक ४३-४४ द्वारा, जिनका उद्धरण द्वितीय परिच्छेद में हो चुका है, कह गए हैं कि ब्राह्मणों के अदर्शन (नहीं मिलने) से शक क्षत्रिय, अर्थात् शाकद्वीप के क्षत्रिय, वृषलत्व (शूद्रत्व) को प्राप्त हो गए, जिससे सिद्ध होता है कि शाकद्वीप में कोई ब्राह्मण था ही नहीं, तो फिर ये शाकद्वीपीय ब्राह्मण आए कहाँ से ? इनका ब्राह्मणत्व ही संदिग्ध है।

इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि भविष्यपुराण में ही सूर्य ने साम्ब को शाकद्वीप से मग ब्राह्मणों को लाने के लिए आज्ञा देते समय कहा है कि शाकद्वीप में भी ब्राह्मणादि चार वर्ण रहते हैं जो क्रमशः मग, मगस, मानस और मन्दग कहलाते हैं; अतः सिद्ध हुआ कि शाकद्वीप में भी ब्राह्मण रहते थे जो मग कहलाते थे। पर मनुस्मृति स्मृति है और भविष्यपुराण पुराण है; अतः स्मृति के सामने पुराण अमान्य है। यों तो सभी देशों तथा सभी कालों में पुरोहित, सैनिक, व्यापारी तथा कुली ये चार प्रकार के लोग जो

क्रमशः ब्राह्मणादि चार वर्णों के सदृश हैं, पाए जाते हैं; । पर इससे वे कुछ ब्राह्मणादि चार वर्ण नहीं हो जाते। चातुर्वर्ण्य की सत्ता तभी मानी जा सकती है जब वह श्रुति-स्मृति के आधार पर स्थापित की गई हो। इंग्लैंड के इतिहास के पाठकों को मालूम है कि वहाँ के प्राचीन निवासी ब्रिटन लोगों (Britons) के पुरोहित ड्रूइड (Druids) कहलाते थे। इसी प्रकार शाकद्वीप के निवासियों के पुरोहित, जो सूर्यदेव के पुजारी थे, मग कहलाते थे। सूर्यदेव के उक्त कथन का केवल यही अभिप्राय है; और यह नहीं कि वे सचमुच ब्राह्मण ही थे। मनुस्मृति और भविष्यपुराण के उक्त अन्योन्य विरोधी वचनों की संगति इसी प्रकार लग सकती है; किसी दूसरे प्रकार से नहीं। इसके अतिरिक्त शाकद्वीपस्थ चातुर्वर्ण्य बोधक मगादि शब्द किसी अनार्य भाषा के शब्द मालूम होते हैं; कारण कि ये ब्राह्मणादि वर्णों वा कम से कम उनसे उपभेदों के अर्थ में किसी प्राचीन संस्कृत कोष में भी नहीं मिलते। वर्णबोधक अर्थ में इनकी व्युत्पत्ति आदि का भी पता नहीं है। यों तो उणादि के सहारे अंग्रेज़ी-फ़ारसी आदि शब्द भी संस्कृतवत् सिद्ध किए जा सकते हैं।

साम्ब ने शाकद्वीप से लाकर दस मग कुमारों का विवाह भोजकन्याओं के साथ कर दिया, जिससे भोजक जाति उत्पन्न हुई। ये भोजकन्याएँ किस जाति की थीं, यह मालूम नहीं होता। पर अवश्य ही ये मग जाति की न थीं, नहीं तो भोजकन्या क्यों कहलातीं? और यदि मग और भोज दो जातियाँ सिद्ध हुईं तो ये विवाह अन्तर्जातीय हुए तथा भोजक जाति मिश्रित रक्त की हुई। इन भोजकों के विषय में बाबू योगेन्द्रनाथ एम० ए०, डी० एल्० अपने जाति-पाँति-विषयक ग्रन्थ के पृष्ठ ५६६ में निम्नलिखित विवरण देते हैं—

Bhojak:—A class of inferior Brahmans found in Rajputana who minister to the Jains as priest and partake of their hospitality.

अर्थ—भोजक एक निम्न श्रेणी के ब्राह्मण हैं जो राजपूताने में पाए जाते हैं। ये जैनियों के यहाँ पुजारी (सेवग) का काम करते हैं और उनके आतिथ्य में भाग पाते हैं अर्थात् उनके घर भोजनादि प्राप्तकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। भोजक जाति के कुछ लोग पुष्करक्षेत्र में पंडों का काम करते हैं। पर जब जयपुर के महाराज स्वर्गवासी जयसिंह तथा जोधपुर के महाराज स्वर्गवासी बख्तसिंह को पुष्करक्षेत्र के इन भोजक पंडों के ब्राह्मणत्व में सन्देह हुआ तो उन लोगों ने इन पंडों को अपनी पुरोहिताई से हटाकर इनकी जगह गौड़-सनाढ्य ब्राह्मणों को अपना पुरोहित बनाया। मिथिला आदि प्रान्तों में शाकद्वीपियों के विषय में यह श्लोक प्रचलित है—'कुष्मांडं महिषीक्षीरं विल्वपत्रं मगद्विजम्। चत्वार्येतानि वस्तूनि श्राद्धेषु परिवर्जयेत्।'

अर्थ—कुम्हड़ा, भैंस का दूध, बेलपत्र और शाकद्वीपी ब्राह्मण, इन चारों वस्तुओं को श्राद्ध में नहीं आने देना चाहिए।

यह तो हुआ दश मगकुमारों की सन्तान भोजकों का विवरण। और उनके साथ जो आठ मंदग कुमार आए थे उनका विवाह शक जाति की कन्याओं से हुआ और उनकी औलाद शूद्र हुई।

पर सबसे कठिन प्रश्न तो यह है कि वर्तमान काल में भारतवर्ष में पाए जाने वाले निःशेष शाकद्वीपीय ब्राह्मण पूर्वोक्त दश मगकुमारों की ही सन्तान हैं वा मगों के किसी दूसरे जत्थे की, जो भारत में साम्ब द्वारा लाए न जाकर किसी सरे काल में शाकद्वीप से आकर

भारत में आ बसा। पर साम्ब द्वारा लाए गए दश मगकुमारों के अतिरिक्त किसी दूसरे मग-जत्था का भारत में आ बसना किसी भी पुराण वा इतिहास से प्रमाणित नहीं होता। अतः विवश होकर हमें मानना पड़ता है कि भारतवर्ष के सभी शाकद्वीपीय ब्राह्मण साम्ब द्वारा लाए गए दश मगकुमारों की ही सन्तान हैं और भोजक हैं। अन्य विद्वानों को भी इस विषय में खोज करनी चाहिए और इन लोगों के पक्ष में यदि कोई प्रबल प्रमाण मिले तो सर्वसाधारण की सन्देह-निवृत्ति के लिए उसका प्रकाशन होना चाहिए। ये लोग पहले कपास का बना हुआ, भीतर से पोला, साँप की केंचुल के समान एक प्रकार का वस्त्र जनेऊ की जगह अपने गले में डाला करते थे; पर ज्यों ही इन्होंने भारत में आकर ब्राह्मण की पदवी प्राप्त की त्यों ही इन लोगों ने उक्त वस्त्र विशेष को त्यागकर यज्ञोपवीत पहनना आरंभ कर दिया। द्विज मात्र में गोत्र बचाकर विवाह होना चाहिये। यही धर्मशास्त्र की मर्यादा है, पर शाकद्वीपीय ब्राह्मणों के यहाँ गोत्र का गोत्र में विवाह हो जाता है। इनके १२ गोत्र तथा ७४ 'पर' यानी अल्ल होते हैं। कोई कोई 'पर' से 'प्रवर' की कल्पना करते हैं तथा दूसरे लोग 'पर' से 'पुर' का अभिप्राय निकालते हैं; अर्थात् वे पुर अथवा ग्राम जहाँ से उक्त ७४ कुलों का निकास हुआ। Mr. H. H. Risley, Census Commissioner, अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १५६ में लिखते हैं कि ये लोग गोत्र का गोत्र में विवाह कर लेते हैं; केवल 'पर' टालते हैं। ब्राह्मण-निर्णय ग्रन्थ के पृष्ठ ४७८-४६३ तक पढ़िए।

विहार प्रान्त का वह भाग जो गंगा नदी से दक्षिण तथा शोण नद से पूर्व है, मगह कहलाता है। मगह शुद्ध संस्कृत शब्द 'मगध' का अपभ्रंश है। मगह में छठ नामक सूर्य का व्रत जिस समारोह के साथ मनाया जाता है वैसा भारत के किसी भी प्रान्त

में नहीं मनाया जाता। सूर्य-प्रजा शाकद्वीपस्थ मग जाति का मुख्य धर्म था। जब ये मग भारत में आए तो वे सूर्योपासना अपने साथ ही यहाँ लेते आए, जिससे उक्त व्रत का प्रचार हुआ। जान पड़ता है कि मग लोग अधिक संख्या में विहार प्रान्त के उक्त भाग में जा बसे, जिससे उसका नाम 'मगध' पड़ गया। संस्कृत के व्याकरणानुसार 'मगध' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— मगं तन्नामकं जाति विशेषं दधाति धारयति इति मगधः मगशब्दात् 'आतोऽनुपसर्गे कः, इति क प्रत्ययः। अर्थात् जो मग जाति को धारण करे वह मगध है।

जात्यन्तरग्रहण वाली जातियाँ

सवालाखे आदिब्राह्मण

(५) जात्यन्तर-ग्रहण वा जाति-परिवर्त्तन—रक्त-संमिश्रण का पाँचवाँ कारण अपनी जाति को छोड़कर दूसरी जाति में मिलना है। इनके उदाहरण सवालाखे गयावाल, प्रयागवाल आदि ब्राह्मण कही जाने-वाली जातियाँ हैं जिनका विवरण द्वितीय परिच्छेद में दिया जा चुका है। क्रूक साहब ने अपने Tribes And Castes नामक ग्रन्थ में ऐसे ब्राह्मणों के और भी उदाहरण दिए हैं जो मूलतः नीच जातियों के सदस्य होते हुए भी किसी राजा के द्वारा ब्रह्म-भोज के अवसर पर ब्राह्मण बना दिए गए। उक्त साहब बहादुर के ग्रन्थ का सम्बन्धित अंश The Brahmans नामक एक अंग्रेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २४ में उद्धृत हुआ है जिसका भावानुवाद यह है कि अवध और पश्चिमोत्तर प्रदेशों की परम्परागत कथाएँ राजाओं द्वारा, जब उन लोगों को किसी यज्ञ वा भोज के लिए असली ब्राह्मणों की पर्याप्त संख्या नहीं मिली, नीच जातियों से ब्राह्मण बनाए जाने की कहानियों से भरी पड़ी हैं। उदाहरणतः प्रतापगढ़ के कुंडा ब्राह्मण राजा मानिकचन्द के द्वारा बनाए गए हैं जब उनको १२५,००० ब्राह्मणों की इष्ट संख्या, जिनको

भोज देने का उन्होंने संकल्प किया था, नहीं मिली। इस प्रकार कितने अहीर, कुरमी और भाट जनेऊ पहनाकर ब्राह्मण बना दिए गए जिनके वंशज आज तक ब्राह्मण हैं। ऐसी ही कहानियाँ अमतारा के पाठक, हरदोई ज़िले के पांडे तथा गोरखपुर एवं बस्ती ज़िलों के विपुल संख्यक सवालखियों के विषय में भी कही जाती हैं जिन्होंने नीच जात्युत्पन्न होकर भी दूबे, उपाध्याय, तिवारी, मिश्र, दीक्षित, पांडे, अवस्थी और पाठक की उच्च उपाधियाँ धारण कर ली हैं। लगभग डेढ़ सौ वर्ष हुए कि असोथर के राजा भगवन्तराय ने एक नोनिए को ब्राह्मण बना दिया था जिसके वंशधर ऐम्की के मिश्र ब्राह्मण हैं।

यादव क्षत्रिय से अहीर

जाति-परिवर्त्तन द्वारा जिस प्रकार कितनी जातियाँ हिन्दू समाज के निम्न स्तरों से उठकर ऊपर को चली गई हैं, उसी प्रकार कितनी ही जातियाँ ऊपर से नीचे को चली आई हैं। उदाहरणतः यदुवंशीय क्षत्रिय राजकुमार आहुक के वंशधर अहीर हो गए। शक्तिसंगमतंत्र में लिखा है—"आहुक-वंशात् समुद्भूताः आभीरा इति प्रकीर्तिताः" अर्थात् अहीर आहुक के वंश में उत्पन्न कहे गए हैं। इसका समर्थन जातिविवेकाध्याय के द्वारा भी होता है; यथा—"आहुकजन्मवन्तश्च आभीराः क्षत्रियाऽभवन् ।" अर्थात् आहुक से जन्मे हुए क्षत्रिय अहीर हो गए। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अवश्य ही कुछ यदुवंशीय क्षत्रिय अवनति को प्राप्त होकर गोपालन आदि अहीरोचित कर्म करते-करते अहीरों में जा मिले हैं; पर आजकल इनकी पहिचान मुश्किल है, जिसका फल यह हुआ कि सभी अहीर अब अपने को यादव क्षत्रिय कहने लग गए हैं।

भट्टी राजपूत से नाई आदि

इसी प्रकार भट्टी-वंशीय क्षत्रिय फूल और केवल की सन्तान

नाई और कुम्हार, रकेच्छो की सन्तान बनिए, देसाऊ (देकाऊ) के वंशधर सुतार और बढ़ई तथा देवसी के वंशज ऊँटपाल हो गए। टाड साहब के 'राजस्थान' में जैसलमेर का इतिहास पढ़िए। इसी प्रकार की जातीय अवनति कुछ पांचाल ब्राह्मणों की भी हो गई। पाञ्चाल देश के कतिपय ब्राह्मण बढ़ई, लोहार, सोनार आदि शिल्पियों की जीविका लेकर क्रमशः ब्राह्मणिए बढ़ई, ब्राह्मणिए लोहार, ब्राह्मणिए सुनार आदि संज्ञक जातियों के रूप में परिवर्तित हो गए। इनमें अभी तक ब्राह्मणोचित संस्कार, रीति-रस्म, आर्ष गोत्रादि प्रचलित हैं, जिन्हें देखकर भारत के विद्वानों ने उक्त जातियों को उपब्राह्मणों में स्वीकृत कर लिया है। पर अन्धेर तो यह है कि उक्त ब्राह्मणिए बढ़इयों, लोहारों, सोनारों आदि की देखा-देखी सब के सब संकर-वर्णी तथा शूद्र-वर्णी बढ़इयों, लोहारों, सोनारों आदि ने भी, जो चिरकाल से संस्कारहीन थे और जिनमें मद्य-मांसादि का सेवन तथा विधवाओं का पत्यन्तरग्रहणादि शूद्रोचित कर्म अभी तक प्रचलित है। लम्बी-लम्बी चोटियाँ सिर पर रखकर ललाट में तिलक-छापे लगाकर, गले में जनेऊ तथा पैरों में खड़ाऊँ पहनकर परस्पर पंडितजी-पंडितजी कहते और नमस्कार करते हुए अपने को पाञ्चाल ब्राह्मण घोषितकर ब्राह्मण बन जाने के लिए सिर तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। इनमें से कितने ही अपने को विश्वकर्म्मा की सन्तान होने के आधार पर विश्वकर्म्मा ब्राह्मण बतलाते तथा विश्वकर्म्मा की रथयात्रा निकालकर उनकी जयन्ती मनाते हैं। पर विश्वकर्म्मा शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) जगत्स्रष्टा और (२) देवशिल्पी। यदि पहला अर्थ लिया जाए तो निःशेष मनुष्य जगत्स्रष्टा की सन्तान होने से विश्वकर्म्मा ब्राह्मण और इसीसे बढ़इयों के सजाति हो जाएँगे, जो नहीं हो

ब्राह्मणिए बढ़ई आदि

सकता। और यदि दूसरा अर्थ लिया जाए, तो देवशिल्पी विश्वकर्म्मा तथा उनकी स्त्री का वर्ण-निर्णय होना चाहिए, जिससे उनकी सन्तान का वर्ण-निर्णय हो सके। वर्णविवेक-चन्द्रिका के ३६वें श्लोक के आधार पर विश्वकर्म्मा ब्रह्मा के चरण से उत्पन्न होने के कारण शूद्र हैं और उनके पुत्र भी शूद्र हैं—

ब्रह्मणश्चरणाज्जज्ञे विश्वकर्म्मा प्रतापवान्।
तस्यात्मजाश्चदुर्द्धर्षाः शूद्रवर्गोप्रतिष्ठिताः ॥ ३६ ॥

अर्थ— प्रतापी विश्वकर्म्मा ब्रह्मा के चरण से उत्पन्न हुए। और उनके दुर्द्धर्षपुत्र शूद्र वर्ण में रखे गए। दुर्द्धर्ष वह है जिस पर आक्रमण करना कठिन है। दुर्द्धर्ष—दुरतिक्रम। पुनः श्लोक ३७-३६ के अनुसार—

इन विश्वकर्म्मा ने मन्मथ गोप की प्रभावती नामक कन्या से विवाहकर उसमें मालाकार, कर्मकार, शंकुकार, कुविन्दक, कुंभकार और कंसकार, ये छः पुत्र उत्पन्न किए जो सभी शूद्र वर्ण में स्थित हैं। इसमें बढ़इयों का कहीं भी पता नहीं है और यदि उनका पता भी होता तो वे भी शूद्र वर्ण में ही रखे जाते।

विष्णु-रहस्य के अनुसार विश्वकर्म्मा वैश्य हैं। जातिभास्कर पृ० २०८, श्लोक ३० पढ़िए—

अश्विनौ धनिदो विश्वकर्म्मा विद्याधरादयः।
वैश्यवर्णाः पतिंतेषां धनदं व्यदधाद्धरिः ॥ ३० ॥

अर्थ—दोनों अश्विनीकुमार, कुबेर, विश्वकर्म्मा और विद्याधरादि ये वैश्यवर्ण वाले हैं। भगवान् विष्णु ने कुबेर को इन लोगों का स्वामी बनाया।

विष्णुपुराण, प्रथम अंश; अध्याय १५, श्लोक ११८-११ के अनुसार विश्वकर्म्मा आठवें वसु प्रभास के द्वारा देवगुरु बृहस्पति

की बहिन में उत्पन्न हुए लिखे गए हैं। ब्राह्मण-निर्णय, पृष्ठ ४०१ पढ़िए—

वृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी।
योगसक्ता जगत्कृत्स्नमसक्ता विचरत्युत ॥
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य च।
विश्वकर्म्मा महाभागस्तस्यां जज्ञे प्रजापतिः ॥

अर्थ—वृहस्पति की बहिन सुन्दरी और ब्रह्मचारिणी थी। वह योग-बल से सब जगत् में घूमा करती थी। वह वसुओं में आठवें वसु प्रभास की स्त्री थी। उसके गर्भ से बड़े भागवाले विश्वकर्म्मा -नामक प्रजापति उत्पन्न हुए।

विष्णु-रहस्य के अनुसार प्रभास क्षत्रिय हैं। जातिभास्कर, पृष्ठ २०७, श्लोक ८० पढ़िये—

इन्द्र प्रद्युम्न चन्द्रार्क वसु रुद्रादयोऽपरे।
मरुतः क्षत्रवर्णत्वाजज्ञिरे क्षत्रजीविकाः ॥२०॥

अर्थ—इन्द्र, प्रद्युम्न, चन्द्र, सूर्य, वसु रुद्रादि तथा अन्य देवगण क्षत्रिय वर्ण होने से क्षत्र-जीविका वाले हुए।

अब प्रभास-पुत्र विश्वकर्म्मा का वर्ण-निर्णय कीजिए। प्रभास एक वसु होने के कारण क्षत्रिय हैं और उनकी स्त्री वृहस्पति की बहिन होने के कारण ब्राह्मणी हुई। अतः विश्वकर्म्मा क्षत्रिय पिता के द्वारा ब्राह्मणी माता में उत्पन्न होने के कारण मन्वादि धर्मशास्त्रकारों के मत से जातितः 'सूत' हुए जिसका काम रथ हाँकना है। देवशिल्पी विश्वकर्म्मा का ब्राह्मण होना कहीं भी लिखा नहीं मिलता। यदि बढ़ई भाइयों के सन्तोष के लिए विश्वकर्म्मा को ब्राह्मण भी मान लें तो भी इन भाइयों का ब्राह्मण होना सिद्ध नहीं होता; क्योंकि विश्वकर्म्मा ने जिस स्त्री में बढ़इयों को उत्पन्न किया था वह शूद्रा थी

और ब्राह्मण पिता द्वारा शूद्रा माता में उत्पन्न हुई सन्तान ब्राह्मण न होकर 'पारशव' होती है। जातिभास्कर, पृ० १६४ तथा १६५ में उद्धृत ब्रह्मवै० पुराण, ब्रह्मखंड, अध्याय १०, श्लोक १६, २० और २१ पढ़िए—

विश्वकर्म्मा च शूद्रायां वीर्य्याधानं चकार सः।
ततो बभूवः पुत्राश्च नवैते शिल्पकारिणः॥ १६॥
मालाकारः कर्म्मकारः शंखकारः कुविन्दकः।
कुंभकारः कंसकारः षड़ेते शिल्पिना वराः॥२०॥
सूत्रधारश्चित्रकारः स्वर्णकारस्तथैवच।
तास्ते ब्रह्मशापादयाज्या वर्णसंकराः॥२१॥

अर्थ—विश्वकर्म्मा ने शूद्रा में वीर्याधान किया, जिससे शिल्पकर्मा ६ पुत्र उत्पन्न हुए। इन ६ शिल्पियों में मालाकार (माली), कर्मकार (लोहार), शंखकार (शंख की चीजें बनाने वाले), कुविन्दक (जुलाहा), कुम्हार और केसरा, (ठठेरा, तमेड़ा आदि) ये ६ श्रेष्ठ हैं। तथा सूत्रधार (बढ़ई), चितेरा और सोनार ये तीन ब्रह्मशाप के कारण पतित और अयाज्य वर्णसंकर हैं। जिनको यज्ञकर्म का अधिकार नहीं है वह अयाज्य हैं।

पहले जिन ब्राह्मणिए बढ़इयों आदि उपब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है उनका इन विश्वकर्म्मा से कोई वंश का सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता, सिवा इसके कि उन लोगों ने विश्वकर्म्मा के वंशजों का पेशा अख्तियार कर लिया है। उनकी उत्पत्ति ब्राह्मणोत्पत्तिमार्त्तण्ड में लिंगपुराणोक्त शैवागम के आधार पर यों लिखी है कि ब्रह्मा के पुत्र स्वायंभुव मनु ने शिल्पायन, गौरवायन, कायस्थायन और मागधायन इन चार उपब्राह्मणों को उत्पन्न किया। इनमें शिल्पायन की सन्तान लोहार, सुतार (बढ़ई), पथरकट, तमेड़े, और सोनार हैं। पर शैवागम से किस ग्रन्थ का अभिप्राय है, यह ब्राह्मणोत्पत्ति-

मार्त्तण्ड में नहीं लिखा और लिंगपुराण में यह कथा नहीं मिलती। अतः इसकी प्रामाणिकता अविश्वसनीय है। अनुमान होता है कि ब्राह्मणिए बढ़ई आदि मूलतः ब्राह्मण ही हैं; पर पुश्त-दर-पुश्त शिल्पियों का धन्धा करते चले आने से ब्राह्मणत्व से गिरकर उप-ब्राह्मण हो गये। ब्राह्मणिए बढ़इयों और ब्राह्मणिए सोनारों की तरह क्षत्रिय बढ़ई और क्षत्रिय सोनार भी होते हैं जो मूलतः क्षत्रिय थे। इसी प्रकार चमर बढ़ई भी होते हैं जो मूलतः चमार थे।

अब यहाँ पर वैद्य जाति के विषय में कुछ लिखकर इस परिच्छेद को समाप्त करता हूँ। चिकित्सा करना इस जाति की जातीय जीविका है। बंगाल के वैद्य एक शिक्षित तथा प्रतिष्ठित जाति हैं,

वैद्य

पर इस जाति का वर्ण-निर्णय करना कठिन है। शिक्षा-विभाग के फ़ार्मों में राजपूत, भूमिहार, कायस्थ और वैद्य छात्रों को इकट्ठे गिनकर उनकी संयुक्त संख्या एक ही स्तम्भ में लिख देते हैं। इस जाति की उत्पत्ति कई प्रकार की लिखी मिलती है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार ब्राह्मण की स्त्री में अश्विनीकुमार से उत्पन्न हुआ पुत्र वैद्य कहलाया, जिसे खुद उन्होंने ही चिकित्सा-शास्त्र पढ़ाया। पर शब्द-कल्पद्रुम में लिखा है—

सत्यत्रेताद्वापरेषु युगेषु ब्राह्मणाः किल।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रकन्यका उपयेमिरे॥
तत्र वैश्यसुतायां ये जज्ञिरे तनया अमी।
सर्वे ते मुनयः ख्याता वेदवेदांगपारगाः॥
तेषां मुख्योऽमृताचार्य्यस्तस्थावम्बाकुस्ज्ञे हि तत्।
अम्बष्ठ इत्यसावुक्तस्तनो जातिप्रवर्त्तनात्॥
परे सर्वेऽपिचाम्बष्ठा वैश्या-ब्राह्मण-संभवाः।
अथ रुक्प्रतिकारित्वाद् भिषजस्तेप्रकीर्त्तिताः॥

सत्ये वैद्याः पितुस्तुल्यास्त्रेतायां च तथा स्मृताः।
द्वापरे क्षत्रवत् प्रोक्ता कलौ वैश्योपमाः स्मृताः॥
अथाम्बष्ठेषु सर्वेषु विख्याता अभवन्नमी।
सेनोदासश्च गुप्तश्च दत्तोदेवः करोधरः॥
राजः सोमश्च नन्दिश्च कुंडश्चन्द्रश्चरक्षितः।
एषां वंशाः समुत्पन्ना एतत्पद्धतयो मताः॥

अर्थ—कहते हैं कि ब्राह्मण लोग सत्यादि तीन युगों में ब्राह्मणादि सभी वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह करते थे। उनमें वैश्या स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे सभी वेदवेदांगपारग विख्यात मुनि हुए। उन पुत्रों में मुख्य अमृताचार्य हुआ जो अम्बा (माता) के कुल में रह जाने के कारण अम्बष्ठ कहलाया और उसी से जाति का प्रवर्तन होने से वैश्या-ब्राह्मण से उत्पन्न सभी लोग अम्बष्ठ और चिकित्सा करने के कारण वैद्य कहलाए। वैद्य जाति सत्ययुग और त्रेता में ब्राह्मण के, द्वापर में क्षत्रिय के और कलि में वैश्य के तुल्य कही गई है। इस जाति में सेन, दास, गुप्त, दत्त, देव, कर धर, राज, सोम, नन्दि, कुंड, चन्द्र और रक्षित ये १३ वंश प्रसिद्ध हैं।

बंगाल के राजा आदि शूर और वल्लाल सेन इसी जाति के शिरोमणि थे। शब्द-कल्पद्रुम में आदि शूर को 'अम्बष्ट कुल-संभूतः' और वल्लाल सेन को 'अम्बष्ट कुलनन्दनः' लिखा गया है।

अथ चतुर्थ परिच्छेद

प्राचीन हिन्दुओं का खान-पान

इस परिच्छेद में प्राचीन हिन्दुओं के खाद्य पदार्थों पर विचार किया जाएगा। ऋग्वेद के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल में जौ और गेहूँ खेतों की मुख्य उपज और तत्कालीन हिन्दुओं के मुख्य खाद्य पदार्थ थे। वेदों में चावल का व्यवहार होना नहीं पाया जाता। उस काल के हिन्दु पक्ति (चपाती), पुरोडाश, अपूप, करंभ आदि नाना प्रकार की चीज़ें तैयार करके खाते थे। मांस-भोजन भी उस काल में बहुत प्रचलित था और आधुनिक हिन्दू-जनता यह जानकर चौंक उठेगी कि अन्य खाने योग्य पशुओं के मांस की तरह गोमांस भी खाद्य पदार्थों में सम्मिलित था। प्राचीन हिन्दुओं में गोमांस खाने के प्रचलन के विषय में, आगे चलकर विचार किया जाएगा; तब तक अन्य पशुओं तथा पक्षियों और मछली आदि जलचरों के भक्षण करने के विषय में, जिनका मांस आधुनिक हिन्दू भी खाया करते हैं, प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर, पाठकों की जानकारी के लिए, कुछ विवरण दे देना अनुचित न होगा।

भक्ष्य मांस

मनु ने अपनी स्मृति के पाँचवें अध्याय में भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों पर विचार करते हुए निम्नलिखित जन्तुओं के मांस भक्षण-योग्य बताए हैं—

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥१६॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥१८॥

अर्थ—पाठीन (पोठिया) और रोहू मछली आद्य अर्थात् खाने योग्य कही है और हव्य (देवताओं के नैवेद्य) और कव्य (पितरों के पिण्ड-दान) में विहित हैं। इसी प्रकार राजीव (मत्स्य-भेद), सिंहतुण्ड (एक प्रकार की मछली), तथा सभी छिलके (चोंयटे) दार मछलियाँ भक्षण-योग्य हैं ॥१६॥ साही, सेई (एक प्रकार का काँटेदार जंगली जानवर), गोह, गेंड़ा, कछुआ और खरगोश इनको पंचनखों में और एक ओर दाँतवालों में ऊँट को छोड़ और सभी जन्तु भक्ष्य हैं ॥१८॥

नोट—एक ओर दाँत होने के कारण गाय, बैल, साँड़, बकरा, भेंड़, हरिण आदि सभी भक्षण योग्य हो गए। 'राजीव' शब्द के अर्थ हैं कमल, हाथी, मृग विशेष, मत्स्य-भेद और सारस पक्षी; प्रसंगानुसार अर्थ कीजिए।

तत्पश्चात् इन विविध जन्तुओं के मांसों को किस विधि से भक्षण या वर्ज्जन करना चाहिए, इस विषय में वे अपनी सम्मति इस प्रकार देते हैं—

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥२७॥
यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥३१॥
क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान् पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥३२॥
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयं भुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३९॥
औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥४०॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवत कर्म्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ।
अहिंसा-मेव तां विद्याद्वेदाद्धर्म्मो हिनिर्बभौ ॥४४॥

अर्थ—यज्ञ के अंगीभूत पूजित पशु का मांस भक्षण करे। प्राणान्त होता हो तो ब्राह्मणों की आज्ञा देने पर नियम के साथ एक बार मांस भक्षण कर ले ॥२७॥ यज्ञ के लिए मांस का खाना देव-विधि कही गई है और इससे अन्यथा अर्थात् बिना यज्ञ के मांस खाना राक्षस-विधि कही जाती है ॥३१॥ मोल लेकर या अपने से उत्पन्न करके अथवा और किसी का लाकर दिया हुआ मांस देवताओं तथा पितरों को देकर शेष खाय तो पुरुष दोष को नहीं प्राप्त होता॥३२॥ यज्ञ की सिद्धि के लिये प्रजापति ने स्वयं ही पशु उत्पन्न किये हैं और यज्ञ अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुति इस समग्र जगत् की वृद्धि के लिये होती है; अतः यज्ञ में जो बध है वह बध नहीं है ॥३९॥ ओष धी, पशु, वृक्ष, पड़कर चलने वाले जन्तु जैसे कछुए आदि तथा पक्षी यज्ञ के लिये नाश को प्राप्त होकर जन्मान्तर में उत्तम योनि में उत्पन्न होते हैं ॥४०॥ मधुपर्क* में तथा ज्योतिष्टोम आदि पित्र्य एवं दैव कर्म्म में ही मांस भक्षियों को पशु मारने योग्य है; अन्यत्र नहीं, ऐसा मनु ने कहा है ॥४१॥ कर्मविशेष तथा देशका-लादि के द्वारा जो नियमित और वेदविहित हिंसा है उसे इस चरा-चर जगत् में अहिंसा जाने; क्योंकि वेद उसको अहिंसा कहता है और वेद से ही सब धर्मों का प्रकाश होता है ॥४४॥

पुनः उक्त प्राणियों के मांस क्यों भक्षण करने चाहिए, इसकी कैफ़ियत मनु यह देते हैं—

प्राणस्यान्नमिदंसर्व्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जंगमं चैव सर्व्वं प्राणस्य भोजनम् ॥२८॥

चराणामन्नमचरादंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥२६॥
नात्तादूष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैवसृष्टाह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥

अर्थ—प्रजापति ने ये सब खाने योग्य पदार्थ शरीरान्तर्गत भोक्ता जीव के लिये बनाये हैं। पशु आदि जंगम तथा धान्य जौ आदि स्थावर, ये सभी पदार्थ उस जीव के भोजन हैं, अतः जीव रक्षा के लिये मांस खाना चाहिये ॥२८॥ जंगमों (हरिण आदिकों) के अचर (तृण, घास आदि); दाढ़वालों (बाघ आदिकों) के बिना दाढ़वाले (हरिण आदि); हाथ वालों के बिना हाथ वाले (मछली आदि) और शूरों (सिंह आदिकों) के डरपोक (हाथी आदि) भक्ष्य हैं। विधाता की सृष्टि ऐसी ही है ॥२६॥ खाने योग्य प्राणियों को प्रतिदिन खाता हुआ भी मनुष्य (वा कोई अन्य भक्षक) दोषी नहीं होता; क्योंकि विधाता ने ही भक्ष्य और भक्षक बनाये हैं ॥३०॥

मनुस्मृति के उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मनु विशेष जीवों के मांस खाने की व्यवस्था तो देते हैं; पर वहाँ वे दो प्रतिबन्ध लगा देते हैं—(१) बिना देवताओं और पितरों को समर्पण किये मांस नहीं खाया जाए और २) बिना ऐसे आपत्तिकाल के उपस्थित हुए, जब आहाराभाव वा किसी व्याधि के कारण प्राणान्त होता हो, मांस नहीं खाना चाहिये ।

---

*'मधूनां मधुररसात्मकानां द्रव्याणां पर्को योगोयस्मिन्सः' अर्थात् जिसमें मधुर द्रव्यों का योग हो वह मधुपर्क है। यह दही, घी, जल, शहद और चीनी के योग से बनता है।

इस प्रकार मांस के भक्षण और वर्ज्जन की विधि तथा अप्रोक्षित एवं अनापत्तिकालिक प्राणि-वध और तन्मांस भक्षण के विविध कुफल बतलाकर मनु मांस भक्षण विषयक अपना अन्तिम फैसला (निर्णय) यों देते हैं—

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥५६॥

अर्थ—न मांस भक्षण में दोष है; न मद्यपान में दोष है और न मैथुन में दोष है; क्योंकि यह तो प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति (धर्म) है। परन्तु शुभाशुभ कर्मों का परिणाम देखकर मनु कहते हैं कि इन मांस भक्षण आदि कर्मों का परित्याग तो अत्युत्तम फल का देनेवाला है। अतः विहित मांसादि का भी त्याग करना परम फलदायक है।

यहाँ तक तो मनु के अनुसार आमिष-भोजन पर सामान्य रूप से विचार हुआ। अब यहाँ पर उन्हीं के अनुसार यह बतलाया जाता है कि श्राद्ध में किन-किन प्राणियों के मांस पितरों को अर्पण करने से वे कितने-कितने समय तक तृप्त रहते हैं। इसके लिये मनुस्मृति का तीसरा अध्याय पढ़िये—

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत् पितरो नृणाम् ॥२६७॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्चवै ॥२६८॥
षड्मासांश्छाग मांसेन पार्षतेन च सप्तवै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैवतु ॥२६९॥
दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराह महिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तुमांसेन मासानेकादशैव तु ॥२७०॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।

वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादश वार्षिकी ॥२७१॥
कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥२७२॥

अर्थ—तिल, धान्य, जौ, काले उड़द, जल, मूल और फल, इनमें से कोई एक वस्तु विधि के साथ श्रद्धापूर्वक पितरों को अर्पण करने से वे एक मास तक तृप्त रहते हैं ॥२६७॥ पाठीन और

श्राद्ध में ग्राह्यमांस रोहित आदि मछलियों के मांस से दो मास तक, हरिण के मांस से तीन मास तक, भेंड़ के मांस से चार मास तक, और भक्ष्य पक्षियों के मांस से पाँच मास तक वे तृप्त रहते हैं ॥२६८॥ छाग मांस से छः मांस तक, धब्बेदार हरिण के मांस से सात मास तक, एण (हरिण-विशेष) के मांस से आठ मास तक और रुरु (मृग-विशेष) के मांस से नव मास तक वे तृप्त रहते हैं ॥२६९॥ सूअर और भैंसे के मांस से दस मास तक, खरगोश और कछुए के मांस से ग्यारह मास तक पितर लोग तृप्त रहते हैं ॥२७०॥ गौ के दूध तथा उसमें पकाए खीर से, एवं वार्द्धीणस के माँस से बारह वर्ष तक उनकी तृप्ति होती है ॥२७१॥ जिस बूढ़े सफेद छाग के जल पीते समय दोनों कान और जीभ, ये तीन अंग, जल का स्पर्श करें उसको वार्द्धीणस (त्रिपिब कहते हैं। कालशाक (एक प्रकार की साग), महाशल्क (एक प्रकार की बड़ी झींगा मछली जो समुद्रों में पाई जाती है और जिसको गोड़रा मछली भी कहते हैं), गेंडे तथा लाल रंग के खस्सी का मांस, मधु और नीवार आदि धान्य, इन सब वस्तुओं से पितरों को अनन्त काल के लिये तृप्ति-सुख प्राप्त होता है।

ये तो हुए आमिष-भोजन के विषय में मनु के विचार। अब अन्य धर्मशास्त्रों के भी विचार जो प्रायः मनु के ही सरीखे हैं सुन लीजिये। महर्षि शंख लिखते हैं—

राजीवाः सिंहतुंडाश्च सशल्काश्चतथैवच ।
पाठीनरोहितौचापि भद्दया मत्स्येषु कीर्त्तिताः ॥१७।२५॥

अर्थ—राजीव (मत्स्य-भेद), सिंहतुंड (एक प्रकार की मछली) तथा चोंयटेवाली मछलियाँ, एवं पोठिया और रोहू मछलियों में भक्ष्य कहे गये हैं। पुनः वे उसी प्रसंग में लिखते हैं—

भक्ष्याः पञ्चनखास्त्वेते, गोधाकच्छपशल्लकाः ।
खड्गश्च शशकश्चैव तान्हत्वा च चरेद्व्रतम् ॥१७।२२॥

अर्थ—गोह, कछुआ, साही, गेंड़ा और खरगोश, पंचनखों में ये भक्ष्य हैं। इन्हें व्यर्थ (अर्थात् यज्ञादि के निमित्त नहीं) मारने पर बताये व्रत को दोष निवृत्ति के लिये करे। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

भक्ष्याः पंचनखाः श्वाविद्गोधाकच्छपशल्यकाः
शशश्चमत्स्येष्वपितु सिंहतुंडकरोहिताः ।
तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ॥

आचाराध्याय श्लोक १७७-७८

अर्थ—पंचनखों में साही, गोह, कछुआ, सेई और खरगोश तथा मछलियों में, सिंहतुंड, रोहू, पोठिया, राजीव तथा चोंयटेवाली मछलियाँ द्विजातियों के खाने योग्य हैं। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं—

श्वाविच्छल्लक शशकच्छप गोधाः पंचनखा नाभक्ष्या अनुष्ट्राः पशूनामन्यतोदन्तश्च मत्स्यानां वा वहगवय शिशुमार नक्र कुलीरा अविकृतरूपाः सर्पशीर्षाश्च गौर गवय शलभाश्चानुदिष्टास्तथा । धेन्वनड्वाहौमेध्यौवाजसनेयने । खड्गेतु विवदन्ति ग्राम्यशूकरे च इत्यादि ॥अध्याय १४॥

अर्थ—साही, सेइ, खरगोश, कछुआ और गोह, ये पाँच नखवाले पशु अभक्ष्य नहीं हैं। ऊँट के अतिरिक्त अन्य पशु भी जो एक तरफ दाँत वाले हैं, अभक्ष्य नहीं हैं। मत्स्यों में वह (दरियाई नील गाय) शिशुमार (संगमाही), नक्र, केकड़ा तथा वे जिनका आकार बुरा

नहीं है और वे जिनका सिर साँप के समान है अभक्ष्य नहीं हैं। इसी प्रकार गोरे पक्षी, टिड्डी और जिनको मना नहीं किया है वे अभक्ष्य नहीं हैं। वाजसनेय मत में गाय और बैल भी पवित्र अर्थात् भक्ष्य हैं। गेंड़े और ग्रामसूकर के विषय में ऋषिगण विवाद करते हैं अर्थात् कोई इन्हें भक्ष्य तथा कोई इन्हें अभक्ष्य बतलाते हैं इत्यादि।

महर्षि व्यास लिखते हैं—

नाश्नीयाद् ब्राह्मणो मांसमनियुक्तः कथंचन।
क्रतौश्राद्धे नियुक्तोवा अनश्नन् पतति द्विजः ॥३।५५॥
मृगयोपार्ज्जितंमांसमभ्यर्च्य पितृदेवताः।
क्षत्रियो द्वादशांशं च क्रीत्वा वैश्योऽपि धर्म्मतः ॥३।५६॥

अर्थ—श्राद्धादिकों में बिना नियुक्त हुए ब्राह्मण मांस-भोजन कदापि न करे; पर यज्ञ वा श्राद्ध में नियुक्त होकर ब्राह्मण यदि मांस-भोजन न करे तो वह पतित होता है। क्षत्रिय मृगया (शिकार) करके लाए हुए मांस से पितरों और देवताओं को पूजकर आप भी भोजन करें और उसके बारहवें भाग को मोल लेकर यदि वैश्य भी खा ले तो धर्म ही है। अब यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए

अभक्ष्य मांस

उन पशुओं, पक्षियों, तथा मछलियों के नाम बताए जाते हैं जिन्हें हमारे स्मृतिकारों ने अमेध्य तथा अभक्ष्य कहे हैं—

क्रव्याद (कच्चा मांस खानेवाले जन्तु, जैसे गिद्ध आदि), कबूतर आदि गाँव के पक्षी, मना किए हुए एक खुरवाले पशु जैसे गधा आदि, टिटिहरी पक्षी, कलविंक (गौरैया), प्लव (एक प्रकार का बत्तक), हंस, चकवा, गाँव का मुर्गा, सारस पक्षी, रज्जुवाल (एक जंगली पक्षी) पपैया, तोता, मैना, चोंच से खुरच-खुरचकर, नोंच-नोंचकर खानेवाले पक्षी जैसे बाज आदि, जालपाद (जिनके पैर में महीन खाल का

जाल होता है जैसे बत्तक आदि) कोयष्टि (सारस-भेद), लखविष्किर (जो चंगुल वा पंजे से खुरच-खुरचकर खाते हैं जैसे मुर्गा आदि) जो जल में गोते लगाकर मछलियों को खाते हैं, जैसे पनडुब्बी आदि, शौन (वध-स्थल में रखा हुआ मांस), सूखा मांस, बगला, बलाका (सारस-भेद), काकोल (काक-भेद), खंजरीट, मछली खानेवाले पशु-पत्ती, विष्ठा खानेवाला सुअर, सभी मछलियाँ (सिवा उनके जो निर्दिष्ट हैं), एकचर (अकेले विचरनेवाले जैसे साँप आदि), बे जाने हुए पशु-पत्ती, गधा, गोधेय, हाथी, ऊँट, मद्गुरक (मागुर मछली', काक, मेढ़क, साँप, कोक, (चक्रवाक-भेद), रक्तपाद (शुक-भेद) तित्तिर, लवा, कपिंजल (चातक), भास (गृद्ध-भेद), नक्तचर (रात को उड़नेवाले जैसे उल्लू, चमगादर आदि), कठफोड़वा, हारिल, कोयल इत्यादि कहाँ तक गिनाए जाएँ। जो जन्तु भक्ष्य और मेध्य बताये गये हैं उन्हें छोड़कर शेष सभी को अभक्ष्य और अमेध्य मानना चाहिये।

स्मृतियों के अध्ययन से पता चल गया कि हमारे धर्मशास्त्र-कारों ने स्पष्ट शब्दों में मांस-भोजन करने के लिए आज्ञा दी है; पर वहाँ एक यह अड़ंगा लगा दिया है कि केवल उन्हीं भक्ष्य पशुओं का मांस खाया जाय जिन्हें यज्ञों में देवताओं , एवं श्राद्धों में पितरों के लिए बलि-स्वरूप चढ़ाया गया हो; यों तो आपत्तिकाल में, जैसे आहारा-भाव तथा रोग आदि में, बिना देवताओं तथा पितरों के चढ़ाए हुए भी मांस को खा सकते हैं। आपत्तिकाल का तो अभिप्राय समझ में आ जाता है; पर देवताओं तथा पितरों का प्रसाद-स्वरूप मांस-भोजन करने का मतलब समझ में नहीं आता। कोई-कोई पंडित यह कहा करते हैं कि मन्वादि स्मृतिकारों का अभिप्राय पूर्व मीमांसा की परि-संख्या विधि के अनुसार 'निवृत्तिस्तु महाफला' में है; अर्थात् जो नित्य मांस खाते हैं और भक्ष्याभक्ष्य मांस का विचार नहीं करते, उनकी

मांस-भक्षण-प्रवृत्ति को धीरे-धीरे कम कर देने के लिए यज्ञ आदि का अड्डा लगा दिया गया है। तथा किन्हीं-किन्हीं पंडितों का यह भी मत है कि ये सब मांस-भक्षण अथवा मद्य-पान का अनुमोदन करने-वाले विचार हमारे पवित्र ग्रन्थों में वाममार्गियों के द्वारा स्वमत की पुष्टि में प्रक्षिप्त किए हुए हैं। वाममार्गियों पर जो दोषारोपण किया जाता है उस पर विचार तो आगे चलकर किया जाएगा; तब तक हम लोग यह देखें कि मन्वादिकों के द्वारा लगाए हुए यज्ञ आदि अड्डों का कुछ भी फल हुआ कि नहीं; आमिष-लोलुप मनुष्य मांस-भक्षण की कुटेव से धीरे धीरे निवृत्त होकर ठीक रास्ते पर आ गया कि नहीं। हिन्दू समाज के निर्माण तथा उक्त धर्म्मग्रन्थों की रचना के समय से आज तक कई सहस्राब्दियाँ बीत गईं; पर यह समाज आज भी प्राचीन काल की ही तरह मांस-भक्षकों तथा मद्यपों से ज्यों का त्यों भरा हुआ है। हिन्दू जनता पर 'निवृत्तिस्तु महाफला', इस दिव्य उपदेश का कुछ भी असर न हुआ। यदि भाग्यवश किसी एक ने मांस खाना छोड़ा तो अनेक ने उसकी कमी पूरी की जिसका फल यह हुआ कि कपोल-कल्पित देव-देवियों के नाम पर मूक तथा निरीह पशुओं की हत्या आज तक अबाध-रूप से चल रही है। रामनवमी, विजयादशमी और श्रावणनवमी जैसे देश-व्यापी त्योहारों के अवसर पर, जिनका महात्म्य हमारे पवित्र ग्रन्थ मुक्त कंठ से गाते हैं, काली-घाट (कलकत्ता), विन्ध्याचल आदि प्रसिद्ध तीर्थस्थानों के वीभत्स तथा भयानक दृश्य देखकर रोंगटें खड़े हो जाते हैं। खड्ग-खप्पर-धारिणी, मुखविनिःसृतकरालरसना, क्रोधारक्त भयंकराक्षी तथा काली-कलूटी कालीमाता के प्रसादनार्थ छिन्न-शिरस्क बकरों के धरणीमाता की पवित्र गोद में मृत्यु-पीड़ा से छटपटाते हुए रक्त में डूबे लोथड़ों को देखकर किस विचारवान् मनुष्य का हृदय नहीं काँप उठता? मनु को जान लेना चाहिये था कि वे जिस मुँह से 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः'

(यज्ञ के लिए ही पशु बनाये गये हैं), 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' (अतः यज्ञ में बध बध नहीं है), 'सर्वं प्राणस्य भोजनम्' (सभी पदार्थ जीव के भोजन हैं), 'अहिंसा मेव तां विद्यात्' (वेदविहित हिंसा को अहिंसा ही जाने) आदि हिंसोत्तेजक तथा मांस-भक्षियों के प्रोत्साहक वचन निकाल रहे हैं, उसी मुँह से निकले हुए 'निवृत्तिस्तु महाफला' रूपी आत्मविरोधी (Self Contradictory) वचन का मूल्य ही कितना होगा? उनको समझना चाहिए था कि मानव प्रकृति में जो पशुता का अंश है वह एक कठोर नियंत्रण में सर्वदा रखने योग्य है; क्योंकि नियंत्रण की बागडोर में थोड़ा भी शैथिल्य अपनी प्रकृति का भयंकर प्रदर्शन करने लगता है। अहिंसा-व्रत की दीवार की जड़ में स्वयं एक गहरी खाई खोदकर भी उसके खड़े रहने की आशा करना मानो किसी वन्ध्या स्त्री के गर्भ से पुत्ररत्न की प्राप्ति की आशा करना है और यह भ्रान्तिपूर्ण आत्म-विडम्बना है। यदि उनकी राय में मांस से निवृत्ति ही महाफलप्रद थी, तो उन्हें उचित था कि वे अपना सारा बल जीवहिंसा तथा मांस-भक्षण के निषेध पर ही लगाते और किसी भी हालत में, चाहे यज्ञ हो वा श्राद्ध, उक्त विगर्हित कर्मों के करने की आज्ञा न देते। इस दिशा में उनके चूक जाने से अहिंसा-धर्म के प्रचार का सारा श्रेय गौतम और महावीर को आगे चलकर मिला।

अब यहाँ प्राचीन हिन्दुओं में गोमांस भोजन के प्रचलित होने की बात भी लिखना है जिसमें वर्त्तमान हिन्दू जनता को भली-भाँति मालूम हो जाए कि गोमांस भोजन आज की तरह प्राचीन काल में हिन्दुओं के यहाँ 'शपथ' न थी। मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने भक्ष्याभक्ष्य प्राणियों की सूची बतलाते हुए एक तरफ दाँतवालों में केवल ऊँट को ही अभक्ष्य कहा है! अतः इससे यह ध्वनि निकलती है कि एक ओर दाँतवाले अन्य पशु जैसे गाय, बैल, बकरा, भेंड़ आदि भक्ष्य हैं। इस प्रसंग में महर्षि वशिष्ठ के वचन को उद्धृत

करते हुए पहले लिखा गया है कि "धेन्वनड्वा हौमेध्यौवाजसनेयने" अर्थात् वाजसनेय के मत में गाय और बैल मेध्यभक्ष्य हैं। आर्य्य जाति किसी शीतप्रधान देश की रहने-वाली थी जैसा कि प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित उनके आकार वर्णन से मालूम होता है और भारत में आया हुआ उन्हीं का एक जत्था हिन्दू-संस्कृति तथा हिन्दू-सभ्यता का आदि जन्मदाता था। वे अपने साथ गाय, बैल, भैंस, बकरा, भेंड़ आदि घरेलू पशु बराबर रखते थे। शीतप्रधान देश कृषिप्रधान नहीं होता; कारण कि वर्ष के अधिक भाग में पृथ्वी बर्फ़ से ढकी रहती है जिससे कृषि-कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता और अन्न की कमी रहती है। अतः हिन्दुओं के पूर्वज प्राचीन आर्य अन्न की कमी तथा शीताधिक्य के कारण अन्य भक्ष्य पशुओं के मांस की तरह यदि गोमांस भी खाते रहे हों और इस आदत को अपने साथ ही भारत में भी ले आये हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? और भारत जैसे नातिशीतोष्ण तथा कृषिप्रधान देश में आने पर जब उन्हें कृषि-कार्य के लिए गोजाति की नितान्त उपयोगिता तथा गोमांस भोजन की स्वास्थ्य की दृष्टि से नितान्त हानि-कारिता के साथ-साथ अनावश्यकता भी मालूम हुई तो गोमांस के व्यवहार का सर्वथा निषेध कर दिए हों, तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है। इसके अतिरिक्त एक और भी बात विशेष रूप से कहने के योग्य है। हमारे पूर्वज प्राचीन भारतीय आर्यों के ही भाई-बन्धुओं का एक दूसरा जत्था यूरोप में जा बसा जिनके वंशधरों में, जो जर्म्मन, अंग्रेज, फ्रेंच, नार्वेजियन आदि विविध वर्त्तमान यूरोपीय जातियाँ हैं, अपने पूर्वजों की तरह गोमांस भोजन की परिपाटी शीताधिक्य तथा अन्न की कमी से ही आज तक नहीं छूट सकी। अतः कोई कारण नहीं देख पड़ता जिससे यह मान लिया जाए कि हमारे पूर्वज उक्त सामान्य तथा व्यापक परिपाटी के अपवाद थे।

गोमांश

प्राचीन हिन्दुओं में गोमांस भक्षण का एक सुस्पष्ट तथा लाक्षणिक (Typical) उदाहरण हमें 'वादिप्रतिभ्यां निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः' (वादी और प्रतिवादी के द्वारा परस्पर शास्त्रार्थकर ठीक किया हुआ अर्थ—सिद्धान्त होता है) की तरह महाकवि भवभूतिकृत उत्तर रामचरित नामक नाटक-ग्रन्थ के चौथे अंक के विष्कंभक में मिलता है जब तथाकथित ईश्वरावतार सूर्यकुल-प्रदीप महाराज श्रीरामचन्द्र जी के कुलपूज्य महर्षि वशिष्ठ ने तपस्वि-पुंगव तथा आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में मधुपर्क के साथ वाल्मीकि की दी हुई वत्सरी भी भोजन में स्वीकार कर लिया। इसके सम्बन्ध में वाल्मीकि के सौधातकि और भ' ःन नामक दो छात्रों के परस्पर वार्तालाप पढ़ने और मनन करने य है—

सौधातकि-भाण्डायन-संवाद

सौधातकि—. ।ं भाण्डाअण ! किं णामधेओ एसो महन्तस्स त्थविरसत्थस्स धुरन्धरो अज्ज अदिधी आअदो।

अर्थ—अरे भांडायन ! बूढ़े और बुढ़ियों के एक बड़े भारी जमात का मुखिया बनकर आज आए हुए इस अतिथि का क्या नाम है ?

भांडायन—धिक् प्रहसनम् ! नन्वयमृष्यश्रृंगाश्रमादरुन्धतीपुरस्कृतान् महाराज दशरथस्य दारानधिष्ठाय भगवान् वशिष्ठः प्राप्तस्तत् किमेवं प्रलपसि ?

अर्थ—धिक्कार है (तुम्हारे) हँसी उड़ाने पर ! अरे ऋष्यश्रृंग के आश्रम से अरुन्धती को आगे किए हुए महाराज दशरथ की रानियों को लेकर यह भगवान् वशिष्ठ पहुँचे हैं। अतः क्यों ऐसा बकता है ?

सौधातकि—हुं वसिट्ठो !

अर्थ—हूँ ! तो वशिष्ठ आए हैं !

भांडायन—अथ किम् !

अर्थ—नहीं तो और क्या !

सौधातकि—मए उण जाणिदं वग्घो वा विओवाएसोत्ति ।

अर्थ—मैं तो समझता था कि यह कोई बाघ या भेड़िया है ।

भांडायन—आः किमुक्तं भवति ?

अर्थ—अरे यह क्या कहता है ?

सौधातकि—तेण परावड़िदेण ज्जेव सा वराइआ कल्लाणिआ मड़मड़ाइदा ।

अर्थ—अजी वे आते ही उस विचारी कल्याणिका (बछिया) को चट कर गए ।

भांडायन—समांसो मधुपर्क इत्याम्नायंबहुमन्यमानाः; श्रोत्रियाभ्यागताय वत्सरीं महोक्षं महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः; तंहिधर्म्मसूत्रकाराः समामनन्ति ।

अर्थ—मधुपर्क मांसयुक्त होना चाहिए, इस वेद· न का बहुत सम्मान करते हुए गृहस्थगण अतिथिभूत श्रोत्रिय के लिए गाय की बछिया वा बड़ा बैल अथवा बड़ा बकरा प्रदान करते हैं। इस वेद-वचन को धर्मसूत्रों के रचनेवाले भी अच्छी तरह मानते हैं।

सौधातकि—भो ! णिग्गि ही दोऽसि ।

अर्थ—अरे ! तू हार गया ।

भांडायन—कथमिव ?

अर्थ—सो कैसे ?

सौधातकि—जेण आअदेसु वसिट्ठ मिस्सेसुवच्छदरी विससिदा; अज्जेव पच्चागतस्य राएसिणो जणअस्स मअवदा वल्मीएण विहदिमहु हिंज्जेव णिव्वत्तिदो मदुवक्को, वच्छदरी उण विसज्जिदा ।

अर्थ—क्योंकि महर्षि वशिष्ठ के आने पर तो बछिया मारी गई; आज ही आए हुए राजर्षि जनक को भगवान् वाल्मीकि ने केवल घी और मधु का ही मधुपर्क दिया है; बछिया रहने दी है ।

भांडायन —अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पमृषयो मन्यन्ते, निवृत्तमांस स्तुतत्र भवान् जनकः।

अर्थ—जो मांस से निवृत्त नहीं है अर्थात् जो मांस भोजन करते हैं उन्हीं के लिए ऋषिगण 'समांसोमधुपर्कः' इत्यादि, इस विधि को मानते हैं। जनकजी तो मांस से निवृत्त हैं।

सौधातकि—किं णिमित्तम्।

अर्थ—सो क्यों ?

भांडायन—सतदैव देव्याःसीतायास्तादृशं दैवदुर्विपाकमुपश्रुत्य वैखानसः संवृत्तः। तथास्य कतिपये सम्वत्सराश्चन्द्रद्वीपतपोवने तपस्तप्य-मानस्य। (अतीता इति शेषः)

अर्थ—जब से उन्होंने सीतादेवी के पति द्वारा परित्याग रूपी दुर्भाग्य को सुना है तभी से वे वाणप्रस्थी हो गये हैं। चन्द्रद्वीप में तप करते-करते उनके कई वर्ष बीत गये।

इस सौधातकि-भांडायन-संवाद को अधिक बढ़ाने की ज़रूरत नहीं। 'उत्तर रामचरित' है तो केवल एक नाटक ग्रन्थ; पर याद रखना चाहिये कि यह भवभूति जैसे एक प्रकाण्ड विद्वान् के मस्तिष्क का अनुपम उद्‌गार है। नाटक का नाटकत्व इसी में है कि वह सम्बन्धित समाज का एक सच्चा प्रतिबिम्ब बनकर उस समाज के आचार-विचार, रीति-रस्म, खान-पान आदि विविध विशेषताओं को एक स्वच्छ दर्पण की तरह झलका दे। अतः भवभूति* की

*भवभूति ने तीन नाटक लिखे हैं—महावीर-चरित, मालती-माधव और उत्तर रामचरित। इन तीनों में उत्तर रामचरित ही सर्वोत्कृष्ट है; अतः विद्वानों की सम्मति में "उत्तरे रामचरिते भव-भूतिर्विशिष्यते" अर्थात् 'उत्तर रामचरित लिखने में भवभूति ने विशेष योग्यता दिखलाई है।

आऊँगी, तो मैं सुरा (शराब), मांस आदि विविध पूजन द्रव्यों तथा अन्य नैवेद्यों से आदर के साथ तुम्हारा पूजन करूँगी। पुनः उसी रामायण के आरण्य-काण्ड, आठवें सर्ग में श्लोक ३८ और ३९ पढ़िए जहाँ रामचन्द्र ने दिवंगत जटायू का श्राद्ध किया है—

स्नात्वा दुःखेन रामोऽपि लक्ष्मणेन समन्वितः।
हत्वा वने मृगं तत्र मांसखंडान् समन्ततः ॥३८॥
शाद्वले प्राक्षिपद्रामः पृथक् पृथगनेकधा।
भक्षन्तु पक्षिणः सर्वे तृप्तोभवतु पक्षिराट् ॥३९॥

अर्थ—रामचन्द्र ने जटायू का दाहकर्म करके बहुत दुःखित होकर लक्ष्मण के साथ स्नान किया और उस वन में मृग को मारकर उसके मांस के टुकड़ों को तमाम हरियाली पर अलग-अलग बिखेर दिया जिसमें सब पक्षी खाएँ और पक्षिराज जटायू तृप्त हो जाएँ॥

महर्षि बाल्मीकि भी अपने रामायण में गंगा के प्रति सीता की प्रार्थना तथा रामचन्द्रकृत जटायू के श्राद्ध के सम्बन्ध में ऐसा ही विवरण देते हैं। सीता की प्रार्थना विषयक विवरण जानने के लिए आर्ष (बाल्मीकीय) रामायण, आयोध्या-काण्ड, सर्ग ५२, श्लोक ८९ पढ़िए—

सुराघट सहस्रेण मांस भूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता॥

अर्थ—सीताजी कहती हैं कि हे गंगे! यदि मेरे पतिदेव मेरे और अपने भाई लक्ष्मण के साथ वनवास से सकुशल लौट आवेंगे, तो मैं अपनी नगरी में पहुँचकर मदिरा के हज़ारों घड़ों तथा मांस-मिश्रित भात से तुम्हारी पूजा करूँगी। हे देवि! तुम प्रसन्न होओ।

जटायू का श्राद्ध विषयक विवरण जानने के लिए पुनः वही रामायण, आरण्य-काण्ड, सर्ग ६८, श्लोक ३२ और ३३, पढ़िए—

रामोऽपिसहसौमित्रिर्वनं यात्वा सुवीर्यवान।
स्थूलान् हत्वा महारोही ननुतस्तार तं द्विजम् ॥३२॥
रोहिमांसान्स चोद्धृत्य पेशीकृत्वा महायशाः।
शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ॥३३॥

अर्थ—बलशाली तथा बड़े यशस्वी रामचन्द्र ने लक्ष्मण के साथ वन में जाकर खूब मोटे-मोटे और बड़े-बड़े मृगों को मारा और उनका मांस छुड़ा और उस मांस के पिंड बना उन पिंडों को दिवंगत जटायू पक्षी की तृप्ति के लिए एक रमणीक तथा तृण-संकुल हरियाली पर बिखेर दिया।

श्राद्ध के लिए पशुवध का एक ज्वलन्त उदाहरण हमें श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अध्याय ६ में मिलता है। जब राजा इक्ष्वाकु ने अपने पुत्र विकुक्षि को वन में जाकर मेध्य पशुओं को मार लाने को कहा और वह वहाँ जाकर भूल से यज्ञ के लिए मारे हुए पशुओं में से एक खरगोश खा गया, जिससे उसका नाम शशाद हो गया—

स एकदाष्टका श्राद्धे इक्ष्वाकुः सुतमादिशत्।
मांस मानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छमाचिरम् ॥ ६ ॥
स तथेति वनं गत्वा मृगान् हत्वा क्रियार्हणान्।
श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशं चाददपस्मृतिः ॥ ७ ॥
शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः।
चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम ॥ ८ ॥
ज्ञात्वा पुत्रस्य तत्कर्म्म गुरुणाऽभिहितं नृपः।
देशान्निः सारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ६ ॥

अर्थ—एक समय राजा इक्ष्वाकु ने अष्टका श्राद्ध के लिये पवित्र मांस लाने को अपने पुत्र विकुक्षि से कहा। विकुक्षि ने 'बहुत अच्छा' कहकर और वन में जाकर श्राद्ध योग्य पशुओं को मारा। पर उस वीर

को मारे थकावट और भूख के श्राद्धकार्य भूल गया और वह एक खरगोश खा गया और बाकी मांस लाकर अपने पिता को दिया। पिता ने जब अपने गुरु (वशिष्ठ) को उस मांस पर पवित्र करनेवाला जल छिड़कने को कहा तब उन्होंने विकुक्षि के कुत्सित कर्म को कह दिया। राजा ने अपने पुत्र के कर्म को गुरु से सुनकर मारे क्रोध के उसको अपने देश से निकाल दिया; क्योंकि उसने विधि का उल्लंघन किया था अर्थात् पितरों को पूजने से पहले ही उसने मांस जूठा कर दिया था।

मद्य मांस के अवैध व्यवहार के उदाहरण

यद्यपि मन्वादि धर्मशास्त्रकारों की यह व्यवस्था है कि बिना यज्ञ वा श्राद्ध में देवताओं और पितरों को अर्पण किए हुए पशुओं का मांस न खाया जाए; पर हमें अपने पवित्र ग्रन्थों में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ उक्त व्यवस्था का उल्लंघन करके महापुरुषों के द्वारा मांस के साथ मद्य का भी सेवन किया गया है। औरों की कथा तो जाने दीजिए; स्वयं रामचन्द्र और उनकी धर्मपत्नी जानकी जी भी, जो सनातनी हिन्दू विश्वासानुसार 'धर्म्म-संस्थापनार्थाय', ईश्वर और योगमाया के अवतार माने जाते हैं, उक्त व्यवस्था के उल्लंघन-कारियों में जान पड़ते हैं। वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ४२, श्लोक १७-२१ पढ़िए जिनमें राम-सीता का राजकीय उद्यान में विहार-वर्णन है—

अशोक वनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः।
आसने च शुभाकारे पुष्पप्रकरभूषिते ॥ १७ ॥
कुशास्तरण संस्तीर्णे रामः सन्निषसादह।
सीतामादायहस्तेन मधुमैरयेकं शुचि ॥ १८ ॥
पाययामास काकुत्स्थः शची मिवपुरन्दरः।
मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ॥ १९ ॥

रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्ण माहरन् ।
उपानृत्यंश्चराजानं नृत्यगीत विशारदाः ॥ २० ॥
अप्सरोरगसंघाश्च किन्नरीपरिवारिताः ।
दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशंगताः ॥२१॥

अर्थ—रामचन्द्र ने अपने अन्तःपुर से सटे हुये समृद्ध राजकीय उपवन में विहारार्थ प्रवेश किया और वे एक फूलों से शोभित तथा ऊपर से कुश का बिछावन बिछाये हुये सुन्दर आसन पर बैठ गए। राजा ककुत्स्थ के वंश में उत्पन्न रामचन्द्र ने सीता जी को हाथ से पकड़ कर पवित्र मैरेय नामक मद्य को जैसे इन्द्र शची को पिलाते हैं वैसे ही पिलाया। चाकर उत्तम पकाये हुए मांस तथा नाना प्रकार के फल रामचन्द्र के भोजनार्थ शीघ्र लाये। रामचन्द्र के समीप जाकर नाच-गान में प्रवीण अप्सराएँ, नाग-कन्याएँ, किन्नरियाँ तथा अन्य गुणी और रूपवती स्त्रियाँ मदिरा के नशे में मतवाली होकर नाचने लगीं।

यह तो हुआ एक ईश्वरावतार का मद्य-मांस सेवन द्वारा आमोद-प्रमोद का वर्णन। अब दूसरे ईश्वरावतार बलराम जी का मद्य-सेवन तथा सुन्दरियों के साथ विहार-वर्णन जानने के लिये श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ६७ पढ़िए, जिसमें बलराम द्वारा द्विविद बानर का वध लिखा है। यह बानर रामावतार में सुग्रीव का मन्त्री तथा रामचन्द्र का सहायक था और असुर सेना के साथ इसका घोर युद्ध हुआ था। पर कृष्णावतार में कृष्ण का घोर शत्रु बन गया था, कारण कि उन्होंने उसके परम मित्र भौमासुर को मार डाला था। अतः वह अपने मरे हुये मित्र का बदला चुकाने के लिये राष्ट्रविप्लव करने पर उतारू हुआ। वह नगरों को भस्म करता, निरीह स्त्रियों और पुरुषों को पकड़कर कन्दरों में बन्द करता, कुल-नारियों को दूषित करता तथा अन्यान्य घोर उत्पात मचाता हुआ मधुर संगीत

विद्वत्ता में यदि किसी को सन्देह नहीं है तो उनके 'उत्तर रामचरित' के नाटकत्व में भी तनिक भी सन्देह किसी को नहीं होना चाहिये। इस दशा में हमें यह मानना पड़ेगा कि भवभूति ने अपने इस नाटक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह रामचन्द्र कालीन हिन्दू-समाज का सच्चा चित्र है। सौधातकि और भांडायन भले ही उक्त महाकवि के काल्पनिक पात्र हों; पर उन्होंने उन काल्पनिक पात्रों के बीच एक सम्वाद रचकर गोमांस भोजन का तत्कालीन हिन्दुओं में प्रचलित होना पूर्णरूप से सिद्ध कर दिया है। इसकी पुष्टि हमें महर्षि वशिष्ठ की स्मृति से भी मिलती है। वे अपनी स्मृति के चतुर्थ अध्याय में लिखते हैं—

अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वा अभ्यागताय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत् । एवमस्यातिथ्यं कुर्व्वन्तीति ।

अर्थ—और अपने यहाँ यदि ब्राह्मण अथवा राजा अतिथि आवे तो उसके लिये एक बड़ा बैल वा बड़ा बकरा पकाना चाहिये। उस अतिथि का सत्कार इसी प्रकार करते हैं।

किसी-किसी का मत है कि यहाँ पर महोक्ष तथा महाज शब्दों के अर्थ क्रमशः बड़ा बैल (उक्षन्) तथा बड़ा बकरा (अज) न लेकर उनके अर्थ वैद्यक शास्त्रोक्त औषधिविशेष यहाँ महोक्षादि लेनी चाहिये और मधुपर्क को उन औषधियों के औषधिविशेष नहीं ही, न कि किसी बैल वा बकरे के, माँस (गूदे) से युक्तकर अतिथि सत्कार करना चाहिये। ऋषभ शब्द को, जो उक्षन् शब्द का पर्याय है, साधारणतः बैल के अर्थ में लेते हैं। पर ऋषभ एक औषधि का भी नाम है। अतः जितने पर्याय बैल-अर्थ में ऋषभ शब्द के होंगे, उतने ही पर्याय उसके औषधिविशेष-अर्थ में होंगे। इसी

प्रकार अज शब्द के साधारण अर्थ बकरे के अतिरिक्त उसका अर्थ एक औषधिविशेष भी होता है और एक ही पर्याय-सूची प्रसंगवश दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है। 'ऋषभो वृषभो धीरो विषाणीद्राक्ष इत्यपि' अर्थात् ऋषभ, वृषभ, धीर, विषाणी और द्राक्ष, ये नाम ऋषभ नामक महौषधि के हैं। यह हिमालय के जंगलों में पाई जाती है; बैल की सींग के समान होती है; इसके पत्ते छोटे-छोटे होते हैं। यह शीतल गुणवाली तथा बल-वीर्य-वर्द्धनी है; स्वाद में मीठी तथा वात-क्षय प्रभृति रोगों का नाश करनेवाली है। अथर्ववेद में एक मंत्र आया है जिससे पता चलता है कि गर्भाधान के समय जो ऋषभ खाने को इस श्रुति में लिखा है वह बैल के अर्थ में नहीं, किन्तु महौषधि-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

यानि भद्राणि बीजानि ऋषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसू धेनुका भव॥

अर्थ—हे पुत्र की कामना रखने वाले मनुष्यो! ऋषभ महौषधियाँ जिन-जिन कल्याणकारी बीजों को उत्पन्न करती हैं उनकी सहायता से तुम लोग पुत्र प्राप्त करो और वे तुम्हारी स्त्रियाँ पुत्रवती और स्तनों में खूब दूधवाली होवें।

इसी प्रकार अज वा अजा भी एक प्रकार की महौषधि है। इसके ये लक्षण सुश्रुत में लिखे हैं—

अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी।
अजा महौषधिर्ज्ञेया शंखकुन्देन्दु पांडुरा॥

अर्थ—दूध भरे हुये बकरा के थन के समान अजा नाम की एक महौषधि होती है। यह क्षुपसंज्ञक उद्भिदों में गिनी जाती है और शंख, कुन्द तथा चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण की होती है। पुनः चरक में लिखा है—'अजा नामौषधिः राजश्रृंगीति विज्ञायते'

अर्थात् अजा नाम की एक औषधि होती है जो राजशृंगी कही जाती है। इसी प्रकार अश्व (अश्वगन्धा), मेष (मेषपर्णी, चकवड़) मृग (सहदेई), महिष (गुग्गुल), पशु (मोथा) आदि जानना चाहिये।

अब मांस शब्द के औषधि-परक अर्थ पर भी विचार करना चाहिये। यह कोई आवश्यक नहीं है कि मांस शब्द से केवल जंगम प्राणियों का ही मांस समझा जाए। जंगमों की तरह स्थावरों में भी मांस, रुधिर, अस्थि आदि सभी धातु माने जाते हैं। यथा—'चूतफले-परिपक्वे केशर मांसास्थिमज्जानः पृथग् दृश्यन्ते', अर्थात् आम के पकने पर उसके केशर (रेशे), मांस (गूदा), हड्डी (गुठली) और मज्जा (रस) अलग-अलग दिखाई देते हैं। यह तो पूर्वपक्ष हुआ। अब उत्तरपक्ष सुनिए—

यह तो ठीक है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; पर अर्थ प्रसंगानुसार ही करना चाहिये। अर्थ करने का यही नियम है। इसी नियम के अनुसार हमें उत्तर रामचरित तथा वशिष्ठ स्मृति के पूर्वोक्त उद्धरणों में आये 'महोक्ष' और 'महाज' शब्दों का अर्थ करना चाहिए। महर्षि वशिष्ठ यदि किसी औषधि का गूदा खाए होते तो सौधातकि उनकी उपमा बाघ और भेड़िया जैसे घोर पशुहिंसक तथा पशु-मांसभक्षक जन्तुओं से नहीं देता और न तो भांडायन को ही एक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान द्वारा उसकी बार-बार उठती हुई शंकाओं का समाधान करने की आवश्यकता होती। अतः यह अवश्य है कि महर्षि वशिष्ठ ने गोवत्सरी (गाय की छोटी बछिया) का मांस ही, न कि ऋषभ नामक किसी औषधि-विशेष का गूदा खाया था। इसी प्रकार वशिष्ठ स्मृति में 'महोक्ष' और 'महाज' शब्द पशुवध के प्रसंग में ही आये हैं; अतः वहाँ भी उक्त दोनों शब्दों के अर्थ किसी औषधि-

विशेष न कर पशुविशेष ही करना चाहिए। वशिष्ठ-स्मृति के पूर्वोक्त उद्धरण के प्रासंगिक श्लोक ये हैं जो ठीक उसके पहले आए हैं—

पितृदेवातिथिपूजायां पशुं हिंस्यात्। मधुपर्के न यज्ञे च, पितृदैवतकर्म्मणि। अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्य ब्रवीन्मनुः॥ ना कृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणि वधः स्वर्ग्य स्तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

अर्थ—पितरों, अतिथियों तथा देवताओं की पूजा में पशुहिंसा कर सकते हैं। मधुपर्क में, यज्ञ में और पितरों तथा देवताओं के कर्म में ही पशु-वध करे; दूसरी जगह नहीं; यह मनु ने कहा है॥ प्राणियों का बिना वध किये कहीं भी मांस नही मिल सकता और प्राणि-वध स्वर्ग का देनेवाला नहीं है; अतः पशु-वध करे तो यज्ञ में ही करे; क्योंकि यज्ञ में किया हुआ वध वध नहीं है।

देव-पूजादि में माँस-व्यवहार के उदाहरण

यह तो हुआ मधुपर्क में पशुमांस के व्यवहार होने का उदाहरण। अब देवपूजा तथा पितृ-श्राद्ध में उसके व्यवहार के उदाहरण दिए जाते हैं। अध्यात्म रामायण, अयोध्या काण्ड, छठा सर्ग, श्लोक २१ और २२ पढ़िए और देखिए कि भगवती सीता अपने पतिदेव तथा देवर के साथ वन जाती हुई गंगा जी से क्या प्रार्थना करती हैं—

गंगामध्ये गता गंगां प्रार्थयामास जानकी।
देवि गंगे नमस्तुभ्यं निवृत्ता वनवासतः।
रामेण सहिताऽहं त्वां लक्ष्मणेन च पूजये।
सुरामांसोपहारैश्च नाना वलिभिरादृता॥२१, २२॥

अर्थ—जब सीता जी गंगा जी के बीच में पहुँचीं तो उन्होंने गंगा जी से प्रार्थना को—'हे गंगे! तुम्हारे लिए नमस्कार है। जब मैं अपने पतिदेव श्री रामचन्द्र तथा देवर लक्ष्मण के साथ वनवास से लौट

ध्वनि को सुनकर द्वारका के समीपस्थ रैवतक पर्वत पर चढ़ गया और वहाँ बलराम को विहार करते देखा—

तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम्।
सुदर्शनीयसर्व्वांगं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥
गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम्।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥

अर्थ—वहाँ उसने यदुपति बलराम जी को देखा। उनके गले में नील कमलों की माला पड़ी हुई है। उनके सभी अंग देखने में सुन्दर हैं। वे सुन्दर रमणियों के बीच में बैठे वारुणी मदिरा पीकर गा रहे हैं। उनकी आँखें मारे नशे के संक्षुब्ध हो रही हैं और उनका शरीर ऐसा चमक रहा है कि मानो कोई मदमत्त गजराज हथिनियों के साथ विहार कर रहा है।

ये ही बलराम जी हैं जिन्होंने एक बार द्वारका से नन्द के गोकुल में जाकर वहाँ की गोपियों के साथ यमुना के उपवनों में वारुणी मद्य स्वयं पी-पीकर और उन्हें भी पिला-पिलाकर रास-विलास किया था और यमुना जल में जल-क्रीड़ा भी की थी। क्यों न करें ? आखिर ठहरे श्रीकृष्ण के बड़े भाई ! श्रावण से भाद्रपद क्यों दुर्बल रहे ! यह है दशा हमारे ईश्वरावतारों की तो हम-आप जैसे प्राकृत जन की क्या बात है।

ये तो हुये श्राद्ध कार्यार्थ या यों ही केवल भोजनार्थ पशु-पक्षियों के वध के उदाहरण। अब यज्ञ कार्यार्थ पश्वादि प्राणियों के वध के उदाहरण सुनिये। पशु-यज्ञों में अश्वमेध तथा गोमेध, ये दो यज्ञ मुख्य हैं जिन्हें प्राचीन हिन्दू धर्मोपार्जनार्थ किया करते थे। वर्त्तमान काल में कालीमैया के प्रसादनार्थ जो बकरों तथा भैंसों का वध किया जाता है उसे क्रमशः छागमेध तथा महिषमेध कह सकते हैं। सर्व-प्रथम अश्वमेध पर ही विचार किया जायेगा।

अश्वमेध शब्द का अर्थ है 'अश्वः प्रधानतया मेध्यते हिंस्यतेऽत्र, मेध् हिंसने घञ्' अर्थात् जिसमें मुख्य करके घोड़े का वध किया जाए वह अश्वमेध है; मेध् धातु से, जिसका अर्थ मारना है, घञ् प्रत्यय लगाने पर मेध शब्द सिद्ध होता है। यह अर्थ आप्टे के संस्कृत-अंग्रेज़ी कोष में लिखा है और शब्दकल्पद्रुम के अनुसार अश्वमेध शब्द का विवरण इस प्रकार है—

अश्वमेध

'यत्र लक्षणविशेषाक्रान्तमश्वं
संप्रोक्ष्य कपाले जयपत्रं बद्ध्वा त्यजेत्।
तद्रक्षार्थं पुरुषविशेषं नियोजयेत्
संवत्सरान्ते अश्वे आगते सति
अथवा केनापि संबद्धे युद्धं कृत्वा तमानीय
यथाविधि वधं कृत्वा तद्वपया होमः कर्त्तव्यः।
कामनानुसारेण तत्फलम्; मोक्षः,
ब्रह्महत्यापापक्षयः, स्वर्गश्च।

अर्थ—जिस यज्ञ में लक्षण-विशेषों से युक्त घोड़े को, उस पर पवित्र करने वाले जल को मंत्रोच्चारणपूर्वक छिड़ककर तथा उसके कपाल पर जयपत्र बाँधकर छोड़ दिया जाता है। उसकी रक्षा के लिए पुरुष-विशेष को नियुक्त कर दिया जाता है। वर्ष के अन्त में घोड़े के लौट आने पर वा यदि किसी ने उस घोड़े को बाँध रखा, तो उस बाँधनेवाले को युद्ध में हराकर घोड़े को वापस लाने पर उसे शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मारकर उसकी चर्बी से होम किया जाता है। कामना के अनुसार फल की प्राप्ति होती है। मोक्ष, ब्रह्महत्या जनित पाप का नाश, स्वर्ग आदि इसके फल हैं।

वैदिक काल में पुत्र-प्राप्ति की कामना रखनेवाले राजा लोग अश्वमेध यज्ञ किया करते थे; पर बाद में केवल वही राजा इसे करता था

। अन्य सभी राजाओं पर अपना आधिपत्य जमाकर सम्राट् (मंडलेश्वर, चक्रवर्ती, सार्वभौम आदि) जैसे सर्वोच्च पद-प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा रखता था। राजा दशरथ ने भी पुत्र कामना से प्रेरित होकर यह यज्ञ किया था, जिसका वीभत्स वर्णन वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, चतुर्दश सर्ग में पढ़कर हृदय सन्न हो जाता है और अपने पूजनीय पूर्वजों की तथाकथित विलक्षण सभ्यता, जिसका ढिंढोरा हम सदा और सर्वत्र पीटा करते हैं, हमारे मस्तक को गर्व से ऊँचा रखने की जगह एक दुर्वह लज्जा-भार से दबा देता है। पाठकगण ! निम्नोद्धृत श्लोकों को पढ़िए और अपने हृदय पर हाथ रखकर निष्पक्ष तथा शान्त भाव से विचार कीजिए—

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन्प्राप्ते तुरङ्गमे ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ॥ १ ॥
ऋष्यशृंगं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः ।
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ॥ २ ॥
नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम् ।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ ३० ॥
शामित्रेतु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये ।
ऋषिभिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा ॥ ३१ ॥
पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा ।
अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह ॥ ३२ ॥
कौशल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः ।
कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमयामुदा ॥ ३३ ॥
पतत्रिणा तदा सार्द्धं सुस्थितेन च चेतसा ।
अवसद्रजनीमेकां कौशल्या धर्म्मकाम्यया ॥ ३४ ॥
होताध्वर्युरतथोद्गाता हयेन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्याथ वावातामपरां तथा ॥ ३५ ॥

पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक् परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥ ३६ ॥
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रतिस्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ॥ ३७ ॥
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोड़शर्त्विजः ॥ ३८ ॥

श्लोक ३—२९ अनावश्यक समझकर छोड़ दिए गए हैं।

अर्थ—तत्पश्चात् एक वर्ष पूरा होने पर घोड़ा लौट आया और सरयू नदी के उत्तर तीर पर राजा का यज्ञ प्रारंभ हुआ ॥१॥ बड़े महात्मा इन राजा (दशरथ) के अश्वमेध नामक महायज्ञ में श्रेष्ठ ब्राह्मणगण ऋष्यशृंग को अपना मुखिया बनाकर यज्ञ-सम्बन्धी कर्म करने लगे ॥२॥ पशुओं, पक्षियों और सर्पों को, जिन्हें रखने की आज्ञा शास्त्र देता है, उनके अधिष्ठाता देवताओं के नाम पर, वहाँ रखा गया ॥३०॥ ऋषियों ने यज्ञ में वध करने के लिए घोड़े तथा जलचर प्राणियों को यूपों में बाँधा ॥३१॥ उस यज्ञ में तीन सौ पशु यूपों में बाँधे गए। राजा दशरथ का वह श्रेष्ठ घोड़ा (जो पृथ्वी में सर्वत्र घूमकर वापस आ गया था) भी बाँधा गया ॥३२॥ कौशल्या ने बड़ी खुशी के साथ उस घोड़े की प्रदक्षिणा चारों ओर से करके उसे तलवार के तीन वार से मार डाला ॥३३॥ कौशल्या देवी ने उस वध किए हुए घोड़े के पास सावधान चित्त होकर धर्म की कामना से एक रात निवास किया ॥३४॥ तदनन्तर होता, अध्वर्यु और उद्गाता ने महिषी, परिवृत्ति तथा वावाता, इन तीन श्रेणी की रानियों को उस घोड़े से स्पर्श द्वारा मिला दिया ॥३५॥ नोट—महिषी उस रानी की संज्ञा है जिसका राजा के साथ राज्याभिषेक किया गया हो; राजा की शूद्रा स्त्री परिवृत्ति तथा वैश्या स्त्री वावाता कही जाती है। जितेन्द्रिय तथा श्रौत-प्रयोग में कुशल ऋत्विक ने उस घोड़े की चर्बी निकाली और शास्त्रानुसार उसे पकाया ॥३६॥

राजा दशरथ ने हवन की हुई उस चर्बी की गन्ध उचित समय पर विधान के अनुसार सूँघी जिससे उनके पाप दूर हो गए ॥३७॥ सोलह ऋत्विक् ब्राह्मणों ने मिलकर उस घोड़े के जितने अंग थे उन सभी अंगों को अग्नि में हवन किया ॥३८॥

यह है परम धर्मात्मा तथा परम पवित्र कीर्त्ति महाराज दशरथ के पशु-रक्त-रंजित अश्वमेध यज्ञ का रोमांचकारी वर्णन, जिसकी वीभत्सता के सामने किसी बड़े से भी बड़े बूचड़खाने की वीभत्सता भी हार मानेगी। अब पशु-रक्त-प्लावित उस परम पवित्र यज्ञस्थली के हृदय थर्रानेवाले भयानक दृश्य की कल्पना कीजिए जहाँ असंख्य मूक तथा निरीह पशु-पक्षियों को धर्म के नाम पर तलवारों तथा ज़बह करनेवाली छुरियों के घाट उतार-उतारकर उन्हें भस्मीकरणार्थ एक प्रकाण्ड तथा अपनी अनेक जिह्वोपम अग्नि-शिखाओं को चारों ओर लपलपाते हुए हवनकुण्ड में डाला जा रहा होगा, और नृशंस तथा बूचड़ निर्विशेष ऋत्विजों के जयजयकारों एवं दान पानेवालों तथा कचर-कूट करनेवाले भोजन-भट्टों की वाहवाहियों की तुमुल ध्वनि से नभोमंडल विदीर्ण हो रहा होगा, जिसे सुन-सुनकर आर्य-कुल-रत्न महाराज दशरथ अपने को कृतकृत्य मान रहे होंगे। तथा इसी कल्पना के साथ-साथ उस पवित्राचरणा शान्त स्वभावा, भावी राममाता, मुख्य महिषी कौशल्यादेवी की भी कल्पना कीजिए जो महिषासुर मारणोन्मुखी त्रिशूलधारिणी श्री दुर्गादेवी की छटा का अपहरणकर यज्ञ-यूप में बँधे अतः विवश आश्वमेधिक घोड़े के गले पर तलवार के आघात कर रही होंगी। हम अपनी कपोल कल्पित सभ्यता के मद में सदा चूर रहते हुए वेद-विरुद्ध धर्मावलम्बियों को 'म्लेच्छ' कहने में तनिक भी नहीं हिचकते; पर सच पूछिए तो हमारी म्लेच्छता अन्यों की म्लेच्छता को मात कर देती है! इसके अतिरिक्त हमारे परमाराध्य भगवान् विष्णु भी निरीह प्राणियों के रक्तपात में ही आनन्द लूटने-

वाले जीव जान पड़ते हैं; क्योंकि तभी तो उन्होंने असंख्य पशुघाती दम्पति राजा दशरथ और रानी कौशल्या की कोख में ही अंशावतार धारण करने का निश्चय किया ! और सबसे बड़े भारी खेद की बात तो यह है कि इस बीसवीं शताब्दी में भी, जब शिक्षा का प्रकाश सब ओर फैल गया है, हमारे कितने शिक्षित पर भोले-भाले सनातनी हिन्दू भाई धूर्तों के बहकाने में पड़कर यह कहा करते हैं कि अरे भाई ! उस युग में हमारे ऋषि-मुनियों की ऐसी महिमा थी कि यज्ञों में हवन किए हुए पशु फिर जीकर उठ खड़े हो जाते और सशरीर स्वर्ग को चले जाते थे। बुद्धि का कितना घोर पतन और शास्त्रों की कितनी दयनीय अनभिज्ञता है !!

वाममार्गियों पर कलंक लगाना व्यर्थ है

इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि अजी ऐसे-ऐसे श्लोक जिनके द्वारा हमारे अहिंसा व्रतधारी, शुद्धाहार विहारी तथा प्राणिमात्र पर दया दृष्टि रखनेवाले पूज्य पूर्वजों पर मद्य-मांस-सेवन तथा यज्ञादि धार्मिक कृत्यों के सम्पादनार्थ पशु-हत्या करने का अभियोग लगाया जाता है, हमारे पवित्र ग्रन्थों में वाममार्गियों के घुसेड़े हुए हैं, जिसमें वे इन श्लोकों के प्रमाण दिखा-दिखाकर अपने पंचमकारी मत को पुष्ट कर सकें। इस पर मुझे ऐसी थोथी तथा लचर दलील करने वालों से केवल इतना ही पूछना है कि क्या वे सभी ग्रन्थ जिनमें ऐसे जाली कहे जानेवाले श्लोक वाममार्गियों के द्वारा प्रक्षिप्त बताए जाते हैं, केवल उनके ही घर थे जिनमें चुपके से उन्होंने ऐसी जालसाज़ी कर दी ? और ग्रन्थों को थोड़ी देर के लिए छोड़कर केवल वाल्मीकीय रामायण का ही उदाहरण लीजिए। प्राचीन काल में मुद्रण-यंत्रों के अभाव से पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं। अतः इतना मान लिया जा सकता है कि उक्त रामायण की जो हस्तलिखित प्रति जिसके घर में थी, उसमें उसका जाल कर देना एक अति ही सुकर तथा

निरापद कार्य था; क्योंकि उस काल में मुद्रण के अभाव के कारण उसको इस बात का तनिक भी डर न था कि उसकी जाली प्रति के किसी प्रेस में छपकर प्रकाशित हो जाने पर उसकी चोरी सर्वसाधारण द्वारा पकड़ ली जाएगी। पर उक्त रामायण की जो प्रतियाँ दूसरों के घर (जिन्हें हम तर्कशैली की सुगमता के लिए दक्षिण-मार्गी कह सकते हैं) थीं, उनमें तो वाममार्गियों की चोंच अवश्य ही नहीं लगी होगी। पर प्रत्यक्ष देखने में आता है कि उक्त रामायण के सभी संस्करणों तथा प्रतियों में ही, जो प्राचीन काल की हस्तलिखित और वर्त्तमान काल की मुद्रित उपलब्ध हैं, राजा दशरथ का अश्वमेध यज्ञ, रामचन्द्र का किया हुआ जटायू का श्राद्ध तथा उनका मद्य-मांस-सेवन पूर्वक उपवन-विहार, ये सभी निंद्य घटनायें न केवल वर्णित मिलती ही हैं, बल्कि एक ही प्रकार से और ठीक उन्हीं श्लोकों के द्वारा वर्णित मिलती हैं जिनका उद्धरण मैं कर चुका हूँ। तो क्या मैं इससे यही मान लूँ कि वाल्मीकीय रामायण की सभी प्रतियाँ वाममार्गियों के ही अधिकार में थीं; दक्षिण-मार्गियों के अधिकार में एक भी नहीं; क्योंकि यदि होती तो उसका भी संस्करण वाममार्गीय संस्करण के साथ-साथ आज भी प्रचलित देख पड़ता, जिसमें अश्वमेध यज्ञादि के पूर्वोक्त वीभत्स वर्णन हमें देखने को नहीं मिलते? उक्त ग्रन्थ के दक्षिण-मार्गीय संस्करण के नितान्त अदर्शन होने से क्या मैं यही मानकर सन्तोष कर लूँ कि दक्षिण-मार्गियों की सभी प्रतियाँ दीमक चाट गईं, अथवा नहीं तो विधर्मियों ने उन्हें भस्म कर दिया! पर ऐसा मान लेने पर एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वाममार्गियों की प्रतियों ने अपने प्राक्तन जन्म में कौन-सा पुण्य-कर्म किया था जिसके फलस्वरूप वे उक्त उपद्रवों से बाल-बाल बच गईं? हमारे पवित्र ग्रन्थों में पाए जानेवाले आपत्तिजनक श्लोकों को वाममार्गियों द्वारा प्रक्षिप्त मान लेने पर हमारे सम्मुख ऐसे ही कितने प्रश्न हठात्

उठ खड़े हो जाते हैं जिनका संतोषजनक उत्तर मिलना नितान्त कठिन ही नहीं, वरन् पूर्णतः असंभव है। अतः सच्ची बात यही है कि भ्रमवश वा स्वार्थवश प्रक्षिप्त माने वा कहे जानेवाले श्लोक किसी के द्वारा प्रक्षिप्त न होकर मूल ग्रंथकारों की ही रचनाएँ हैं, और उन्होंने उनके द्वारा तत्कालीन हिन्दू-समाज का एक सच्चा चित्र अंकित किया है। प्रक्षेपों का गुजारा केवल वहीं हो सकता है जहाँ उनके कोई विरोधी न हों वा कम से कम उनके प्रति अन्य लोग उदासीन हों। आश्चर्य तो इस बात पर है कि इन ग्रन्थों को बने आज कई सहस्राब्दियाँ बीत गईं और तब से आज तक इस देश में धर्मशास्त्रों के अनेक धुरन्धर विद्वान् उत्पन्न हुए; पर उनमें से किसी को भी प्रक्षेप नहीं सूझ पड़ा जो सभा-शास्त्रार्थ द्वारा ठीक करके निकाल दिया जाता और जो इस बीसवीं शताब्दी में बरसाती कीड़ों की तरह फुदकनेवाले विद्वन्मन्यों को प्रस्फुरित हुआ। इसके अतिरिक्त प्रक्षेप मानने का अधिकार सब को है। यदि एक के मत में मांस-भक्षण प्रक्षेप है तो दूसरे के मत में नियोग। इस तरह हमारा सारा धर्मशास्त्र प्रक्षेपों का आकार होकर मिट्टी में मिल जाएगा।

पुनः एक दूसरा प्रतिवादी कहता है कि 'अश्वमेध' शब्द में जो 'अश्व' शब्द है उसका अर्थ घोड़ा नामक पशु-विशेष नहीं है जैसा कि सामान्यतः प्रचलित है; बल्कि अश्वगन्धा नामक औषधि (जड़ी) विशेष है और वही जड़ी ऋषभ, मेष (मेषपर्णी), अजा (राजशृङ्गी), मृग (सहदेई) आदि पशु-नाम-धारिणी जड़ियों के साथ अश्वमेध के अवसर पर हवन-कुंड में डाली जाती थी, जिनकी सुगन्ध से देवता लोग प्रसन्न होते थे और जिनके धूएँ से विविध रोगों के कीटाणु (Germ) नष्ट हो जाते थे, जिससे प्रजा स्वस्थ और सुखी रहती थी। क्या मैं इन लालबुझक्कड़ों से नम्रतापूर्वक पूछ सकता हूँ कि अश्वमेध यज्ञ सम्पादनार्थ सम्राट्पद प्राप्ति रूप महत्त्वाकांक्षी राजाओं के द्वारा दिग्विजयार्थ

सैनिकों के साथ जो 'अश्व' छोड़ा जाता था वह सचमुच घोड़ा न होकर अश्वगन्धा नाम की जड़ी थी जिसे किसी भृत्य के माथे पर एक टोकरी में रखकर सर्वत्र घुमाया जाता था और वही अश्वगन्धा जड़ी सब ओर से घुमा-फिराकर वापस लाई जाती और हवनकुण्ड में काट-काटकर डाल दी जाती थी ? पर वाल्मीकीय रामायण में वर्णित राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ-सम्बन्धी कतिपय श्लोकों को उद्धृत कर पहले बता आया हूँ कि रानी कौशल्या ने जिस आश्वमेधिक 'अश्व' का वध अपनी तलवार के तीन प्रहारों से पूर्ण किया था वह यज्ञ-यूप में बँधा था। यज्ञ में वध होनेवाले पशुओं को यूपों में इसलिए बाँधते हैं कि वे प्रहार करते समय भाग न जाएँ। अतः अश्वमेध यज्ञ में वध किए जानेवाले 'अश्व' से घोड़ा नामक जंगम प्राणी को ही ग्रहण करना बुद्धिसंगत प्रतीत होता है; न कि अश्वगन्धा नामक औषधि-विशेष को; क्योंकि यदि अश्वगन्धा जड़ी होती तो उसे किसी यूप में, उसके जड़ तथा स्थावर होने के कारण, बाँधने की आवश्यकता न होती और न तो उसे तलवार से काटने की ही आवश्यकता होती; बल्कि वह तो यों ही ईंधन की तरह हवन-कुंड में झोंक दी जाती और यदि वह जलाने योग्य लकड़ी के बड़े-बड़े कुन्दों की तरह होती तो उसे कुल्हाड़े से हवन-कुण्ड में डालने के पूर्व फाड़ देने की आवश्यकता होती। अतः यह अवश्य है कि अश्वमेधादि यज्ञों में तत्तन्नामधारी जंगम प्राणी ही वध किए जाते थे और वे ही हवन-कुण्ड में जलाए भी जाते थे। यदि कोई यह शंका करे कि आग में जंगम प्राणियों के मांस जलाने पर उसमें से सुगन्ध निकलने के बजाय एक ऐसी घिनौनी तथा उत्कट दुर्गन्ध निकलती है कि कोई देवता क्या, कोई मनुष्य भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। तो इसका समाधान यह है कि हमारे मानव प्राणियों में कितने ऐसे जीव हैं जिनकी नाक में आग पर पकते हुए मांस की दुर्गन्ध के पहुँचते ही वे उससे कोसों भागते हैं; पर उन्हीं

प्राणियों में कितने ऐसे भी जीव विद्यमान हैं जिनका हृदय लोहे के सिकचों पर पकते हुए कबाब की खुशबू (!) सूँघकर मेघध्वनि श्रवण-कर मत्त मयूर की तरह अनिर्वचनीय आनन्द से नाच उठता है। हमारे देवगण भी इस विश्वव्यापक तथा नैसर्गिक नियम से बाहर नहीं हैं। हमारी दुर्गादेवी स्वखड्ग से सद्योनिपातित असुरों का गरमा-गरम रक्त बार-बार पीकर भी नहीं अघातीं ! औढरदानी भगवान् शंकर से सिर्फ़-एक चिलम गाँजे, नहीं तो, बस दो घूँट भंग पर तिन्दक-तिन्दक थैया नाच नचवा लीजिए और उनसे अपनी सारी मुराद पूरी करा लीजिए !! पर इन्हीं के सुपुत्र देवाधिदेव भगवान् लम्बोदर जी को बिना पाँचोंरास मिठाई तथा पंचमेवा की थाल परोसे आप प्रसन्न नहीं कर सकते !!! सृष्टि का यही नियम है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और हमारे पूर्वज इस नियम के अपवाद नहीं हो सकते। अतः अपने पूर्वजों के अन्धविश्वासजन्य काले कारनामों की कालिमा छिपाने के लिए उस पर कपोल-कल्पित तथा अप्रासंगिक शब्दार्थों की कलई चाहे जितनी बार चढ़ाई जाए, वह आलोचना की आँच पर टिक नहीं सकती। हमारे पूर्वजों में कौन सा सुर्खाब का पर लगा हुआ था कि वे कुन्दन की भाँति सर्वथा निष्कलंक तथा सर्वथा निर्दोष मान लिए जाएँ ? जिन हमारे पूर्वजों (भारतीय आर्यों) ने किसी शीत-प्रधान भूभाग से इस नीतिशीतोष्ण देश पर एक प्रचंड वातावर्त्त के रूप में आक्रमणकर स्वमातृभूमि की रक्षा में व्यस्त यहाँ के मूलनिवसियों को दास, दस्यु आदि घृणा-व्यंजक नामों से पुकारते तथा युद्ध में हराते हुए उनका धन-जन आदि सर्वस्व छीन लिया जिसके फलस्वरूप आज भी उनके कतिपय वंशधर जंगलों और गिरिकन्दरों की शरण ले अपने पशुप्राय जीवन बिता रहे हैं, तथा कितने लाचारी से हमारी दासता स्वीकार कर हमारे घर के नीच से भी नीच टहल करते और अस्पृश्य कहाते हुए अपने भाग्य को कोस

रहे हैं; जिन हमारे पूर्वजों ने वर्णव्यवस्था जैसी स्वार्थमयी पाप-व्यवस्था का प्रचारकर हिन्दू समाज में फूट की वह आग लगा दी जिसकी ज्वाला धाँय-धाँय जलती हुई अपने दुर्दमनीय रूप में आज भी लप-लपा रही है और उस समाज के शरीर को जर्जर बनाकर उसे संगठित नहीं होने देती जिसमें वह अपने शत्रुओं का मुक़ाबला कर सके; जिन हमारे पूर्वजों की स्त्रियाँ सन्तानाभाव में नियोग जैसे कुकर्म्म का आश्रय लेती हुई पुरुषान्तर के साथ मैथुनकर सन्तान उत्पन्न कर लेना धर्मानुकूल मानती थीं; जिन हमारे पूर्वजों के यहाँ राक्षस पैशाच जैसे घोर अपराध-मूलक विवाह भी वैध विवाह तथा क्षेत्रज, गूढ़ोत्पन्न, कानीन, सहोड़, पौनर्भव आदि पापजात पुत्र भी जायज सन्तान माने जाते थे; उन हमारे पूर्वजों के विषय में जितना ही थोड़ा लिखा और कहा जाए उतना ही अच्छा है !

गोमेध

अश्वमेध यज्ञ पर विचारकर अब गोमेध यज्ञ पर विचार किया जाता है। शब्दकल्पद्रुम में 'गोमेध' शब्द के विषय में यह विवरण दिया है—

"यज्ञ विशेषः। अत्र स्त्रीगोपशुः मंत्रेषु स्त्रीलिङ्ग पाठात्। तस्य लक्षणम्-सप्तशफत्व-नवशफत्व-भग्नशृङ्गत्व-काणत्व-छिन्नकर्णत्वादि दोष-राहित्यम्। तस्य प्रयोगः सर्व्वोऽपिछागपशुवत्। यजमानस्य स्वर्गः फलम्, गोश्च गोलोकप्राप्तिः। तस्य च कलौनिषेधो यथा—'अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौपंच विवर्ज्जयेत्' इति आपस्तम्भ कल्पसूत्र पुराणे।"

अर्थ—यह एक यज्ञविशेष है। यहाँ पर 'गो' शब्द से स्त्री गोपशु अर्थात् गाय, न कि साँड़, बैल वा बाछा, अभिप्रेत है; क्योंकि मंत्रों में स्त्रीलिङ्ग का पाठ है। उस गाय का यह लक्षण होना चाहिए कि वह सात खुरवाली, वा नव खुरवाली वा टूटी सींगवाली वा कानी वा कनकटी आदि न हो; अर्थात् उसमें ये दोष नहीं होने चाहिए। उसका

समूचा प्रयोग छाग पशु (बकरा) की तरह होना चाहिए, अर्थात् गाय के साथ वध आदि सब वे ही व्यवहार होने चाहिए जो बकरे के साथ होते हैं। गोमेध का फल यजमान के लिए स्वर्ग और गाय के लिए गोलोक की प्राप्ति है। गोमेध यज्ञ का कलि में निषेध है जैसे—'अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, मांस द्वारा पितरों को श्राद्ध, तथा देवर के साथ नियोगकर पुत्र उत्पन्न करना, ये पाँच काम कलियुग में वर्जित हैं।' यह आपस्तम्भ कल्पसूत्र पुराण का वचन है।

आपस्तम्भ कल्पसूत्र के उपर्युक्त उद्धरण में 'अश्वालम्भ' और 'गवालम्भ' शब्दों के अर्थ क्रमशः अश्वमेध और गोमेध इस कारण किये गये कि उक्त शब्दों में आये हुए 'आलम्भ' शब्द का अर्थ है मारना; अतः बहुव्रीहि समास के अनुसार 'अश्वालम्भ' शब्द का अर्थ हुआ वह कर्म जिसमें अश्व (घोड़ा) का आलम्भ (वध) होता है; अर्थात् अश्वमेध नामक यज्ञ विशेष। इसी प्रकार गवालम्भ शब्द का अर्थ हुआ गोमेध नामक यज्ञ विशेष। मेरे इस अर्थ की पुष्टि बृहन्नारदीय भी करता है जिसमें कलियुग में कतिपय अन्य कर्मों के साथ-साथ अश्वमेध और गोमेध को भी वर्जित किया गया है—

समुद्रयात्रा-स्वीकारः, कमण्डलु-विधारणम्, द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमः, तथा देवरेण सुतोत्पत्तिः मधुपर्के पशोर्वधः, मांसोदनं तथा श्राद्धे, वानप्रस्थाश्रमः, तथा दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्यच, दीर्घकालं ब्रह्मचर्य्यम्, नरमेधाश्वमेधकौ, महाप्रस्थानगमनम्, गोमेधं च मखं तथा, इमान् धर्म्मान् कलियुगेवर्ज्यानाहुः मनीषिणः।

अर्थ—समुद्रयात्रा, संन्यासग्रहण, द्विजातियों का असवर्ण कन्याओं के साथ विवाह, देवर से सुतोत्पादन, मधुपर्क में पशु का वध, श्राद्ध में माँस का पिण्डदान, वान-प्रस्थाश्रम, जो कन्या एक बार दान कर दी गई पुनः उसको किसी दूसरे वर को दान करना, दीर्घ काल तक

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना, नरमेध तथा अश्वमेध, महाप्रस्थानगमन* अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से आत्मघात, एवं गोमेध, इन धर्मों को आचार्यों ने कलियुग में वर्जित किया है।

शब्द कल्पद्रुम में अमरकोष का हवाला देते हुए 'आलम्भ' शब्द के अर्थ मारण तथा वध लिखे हैं; पर आप्टेजी के संस्कृत-अंग्रेज़ी कोषानुसार 'आलम्भ' (आ+लभ्+घञ्+मुम्) शब्द के Taking hold of (पकड़ना), touching (स्पर्श करना) uprooting (जड़ से उखाड़ फेंकना), killing (मारना, वध करना) आदि कई अर्थ होते हैं। अतः 'आलम्भ' शब्द के विविध अर्थ होते हुए भी प्रसंगानुसार जो अर्थ 'गोमेध' शब्द का है वही अर्थ 'गवालम्भ' शब्द का भी है और वह अर्थ गोवध-परक है; क्योंकि यदि ऐसा अर्थ नहीं होता तो पूर्वोक्त आपस्तम्भ कल्पसूत्र गोमेध यज्ञ को 'गवालम्भ' शब्द के द्वारा और बृहन्नारदीय स्पष्ट रूप से 'गोमेध' शब्द के ही द्वारा कलियुग के लिये मना क्यों करते ? और गोमेध यज्ञ में गाय के लिए जो गोलोक प्राप्तिरूप फल बनाया गया है उसकी संगति गोवध-परक अर्थ के अभाव में कैसे लगेगी ? अतएव यह निश्चित है कि 'अश्वालम्भ' और 'गवालम्भ' शब्दों में 'आलम्भ' शब्द का अर्थ वध ही है।

गोमेध यज्ञ का विख्यात उदाहरण हमें चन्द्रवंशीय नरेशरत्न तथा राजा दुष्यन्त और रानी शकुन्तला के वंशधर राजा रन्तिदेव का

*मनु ६।३१ देखिये—"अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः। आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः।" अर्थ—असाध्य रोगादि उत्पन्न होने पर ईशाण कोण की ओर योगनिष्ठ होकर तथा जल और वायु का आहार करता हुआ शरीर के पतन होने तक सीधे चला जाये। यही महाप्रस्थान है।

किया हुआ तथा अन्य सभी यज्ञों को मात करनेवाला गोमेध यज्ञ मिलता है जिसमें इतनी गाएँ काटी गईं कि कहते हैं कि उनके चाम के ढेर से निकले हुए लोहू की धारा से चर्मण्वती नाम की एक नदी ही उत्पन्न हो गई। इस चर्मण्वती को आजकल चम्बल कहते हैं जो बुन्देलखंड में बहती है। महाकवि कालिदासकृत मेघदूत, पूर्वार्द्ध, श्लोक ४५ तथा उसकी मल्लीनाथकृत टीका का सम्बन्धित अंश पढ़िये—

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लंघिताध्वा। सिद्धद्वन्द्वैर्जलकण-भयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः। व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्। स्रोतोमूर्त्या भुविपरिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् ॥४५॥

अर्थ—यक्ष मेघ से कहता है—कुछ दूर जाकर स्कन्ददेव की आराधना करना। वीणा धारण किए हुए सिद्धों की जोड़ियाँ (जो वीणा बजाकर गान करते हुए उक्त देव की आराधना के लिये आए रहेंगे) जलकण के भय से तुम्हारे रास्ते पर से हट जाएँगे (क्योंकि जलकण पड़ने पर वीणा का शब्द शिथिल हो जाता है)। पुनः गायों के वध करने से उत्पन्न तथा भूलोक में नदी (चर्मण्वती) के रूप में परिणत राजा रन्तिदेव* की कीर्त्ति का सम्मान करने के अभिप्राय से लटककर उतर जाना।

---

*राजा रन्तिदेव की पाकशाला में अतिथि-सेवार्थ प्रतिदिन दो सहस्र गायें कटती थीं, महाभारत, वनपर्व, अध्याय २०८ पढ़िए—

राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
अहन्यहीनवध्येते द्वेसहस्रेगवां तथा ॥८॥
समांसं ददतोह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः।
अतुलाकीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम ॥९॥

अर्थ—राजा रन्तिदेव की पाकशाला में प्रतिदिन २००० गाएँ कटती थीं। मांस के साथ अन्न का दान करते-करते रन्तिदेव की कीर्त्ति अद्वितीय हो गई।

अब इस श्लोक की मल्लीनाथकृत टीका का सम्बन्धित अंश पढ़िये—'सुरभितनयानां गवामालम्भेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम्। भुवि लोके स्रोतोमूर्त्या प्रवाहरूपेण परिणतां रूपविशेषमापन्नां रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य कीर्त्तिम्। चर्मण्वत्याख्यां नदीमित्यर्थः। मानयिष्यन् सत्करिष्यन् व्यालम्बेथाः आलम्ब्यावतरेरित्यर्थः। पुराकिलराज्ञः रन्तिदेवस्य गवालम्भेष्वेकत्र संभृता द्रक्त निष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदीसस्यन्दे। चर्मण्वतीत्याख्यायत इति

अर्थ—गायों के वध करने से उत्पन्न तथा लोक में प्रवाह रूप में बदली हुई दशपुराधिपति महाराज रन्तिदेव की कीर्ति को अर्थात् चर्मण्वती नाम की नदी का सत्कार करने के अभिप्राय से लटककर उतर जाना। कहते हैं कि प्राचीन काल में राजा रन्तिदेव के गोमेध यज्ञों में इकट्ठे किए तथा खून निकलते हुए चाम के ढेर से एक नदी बह निकली जो चर्मण्वती कही जाती है।

गोरक्त से चर्मण्वती नदी की उत्पत्ति मानने पर एक प्रतिवादी आक्षेप करता है कि पशुओं वा किन्हीं भी प्राणियों के रक्त से किसी नदी की उत्पत्ति मानना निरी मूर्खता है; क्योंकि प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल होने के कारण ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। गत यूरोपीय महासमर में न मालूम कितने घोड़े और योधा मारे गए; परन्तु उनके खून से कोई भी नदी नहीं निकली। पुराणों में प्रक्षिप्त ऐसे-ऐसे गपोड़े वाममार्गियों की लीलाएँ हैं। चर्मण्वती (चम्बल) तो विन्ध्यपर्वत से निकली है।

इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यदि पुराण-वर्णित ऐसी-ऐसी घटनाओं को असंभव कहकर टाल दोगे 'तो तुम्हारे श्रुति, स्मृति, उपनिषद्; ब्राह्मण आदि सभी ग्रंथ इस प्रकार के दोष से दूषित होने के कारण उनके भी कतिपय अंशों को तुम्हें असंभव बातों के वर्णन

करने के कारण, छोड़ देना पड़ेगा। अथर्ववेद, काण्ड ८, अनुवाक ५, सूक्त ११, मंत्र १।२।१०।११। पर, जो नीचे दिए गए हैं, विचार करो—

सोदक्रमात् सा सुरनागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥१॥ तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥ २ ॥ तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥ तां पृथिवीं वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥ १० ॥

अर्थ—वह गोरूपधरा पृथ्वी असुरों के पास गई। 'इधर आओ,' ऐसा कहकर असुरों ने उसे बुलाया ॥ १ ॥ प्रह्लाद का पुत्र विरोचन उसका बछड़ा बना और पृथ्वी पात्र बनी ॥ २ ॥ फिर उस पृथ्वी का वैवस्वत मनु बछड़ा और पृथ्वी पात्र बनी ॥ १० ॥ वेन के पुत्र पृथु ने उस गोरूपधरा पृथ्वी से खेती और तृणादि को दुहा ॥११॥ अथर्ववेद के इन मंत्रों में जो पृथ्वी का गोरूप तथा विरोचन और वैवस्वत मनु का बछड़ा बनना; फिर पृथु का उस गोरूपधरा पृथ्वी से कृषि और फ़सल को दुहकर निकाल लेना लिखा है यह सब असंभव होने के कारण अमान्य है।

पुनः मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ७२, में लिखा है—'यस्माद्बीज प्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥७२

अर्थ—चूँकि पशुओं से भी उत्पन्न लोग बीज के प्रभाव से पूजित और श्रेष्ठ ऋषि हो गए, अतः क्षेत्र से बीज श्रेष्ठ है। 'तिर्यग्जाः' पर कुल्लूक भट्ट की टीका पढ़िए। 'तिर्यग्जाति हरिण्यादि जाता अपि ऋष्यशृंगादयो मुनित्वं प्राप्ताः', अर्थात् पशु जाति हरिणी आदि में उत्पन्न ऋष्यशृंगादि मुनित्व को प्राप्त हो गए। यहाँ हरिणी आदि पशुओं में जो ऋष्यशृंगादिकों का उत्पन्न होना लिखा है वह प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल तथा असंभव होने के

कारण मानने योग्य नहीं है। वज्रसूच्योपनिषद् में भी, जिसका हवाला पूर्व में दे आया हूँ कतिपय अन्य ऋषियों की भी उत्पत्ति इसी प्रकार असंभव तथा अप्राकृतिक ढंग से हुई बताई गई है जो प्रतिवादी के आक्षेपानुसार मानने योग्य नहीं है। यदि ऐसे-ऐसे आक्षेपों पर ध्यान दिया जाए तो श्रुति, स्मृति, उपनिषद् आदि सभी ग्रन्थ अप्राकृतिक प्रतीत होने वाली घटनाओं को समझने के लिए कुछ अपनी अक्ल से भी काम लेना चाहिए। पहले चर्मण्वती नदी की ही उत्पत्ति-विषयक कथा लीजिए। राजा रन्तिदेव ने जिस स्थान पर गोमेध यज्ञ किया था वहाँ पर विन्ध्यपर्वत से निकला हुआ कोई अप्रसिद्ध तथा नाम-रहित सोता बहता होगा, जिसमें वध की हुई गायों के चाम फेंक दिए गए होंगे जिनसे बहते हुए रक्त के कारण वह सोता सर्वत्र रक्तमय हो गया होगा। राजा रन्तिदेव जैसे जगत्प्रसिद्ध राजा के उस सोते के तट पर गोमेध यज्ञ करने के कारण उस सोते का महत्त्व तभी से बढ़ गया होगा और उसमें चाम फेंके जाने के कारण उस नामरहित सोते का नाम तभी से चर्मण्वती पड़ गया होगा। यही इस असंभव तथा अप्राकृतिक समझी जाने वाली घटना की सरल तथा बुद्धिगम्य व्याख्या है। इसी प्रकार राजा पृथु का गोरूपधरा पृथ्वी के वैवस्वत मनु को बछड़ा बनाकर तृण और कृषि दुहने का यह अर्थ है कि उन्होंने वैवस्वत मनु के द्वारा पृथ्वी पर लगे हुये जंगलों और झाड़ियों को साफ़ कराकर तथा उसे जोत-बोकर उसमें फ़सल उत्पन्न की और हरिणी आदि तिर्यग् योनि में ऋष्यशृंगादिकों के उत्पन्न होने का यह अर्थ है कि हरिणी आदि नामों से अनार्य तथा असभ्य जातियों की स्त्रियाँ अभिप्रेत हैं जो उनकी माताएँ थीं। आजकल भी संस्कृति-हीन जातियों में स्त्रियों तथा पुरुषों के भी नाम पशु-पक्षियों की तरह रखे जाते हैं, जैसे—सुगिया, कबुतरी, बिलैया, नेउर, बिल्लर आदि। अतः गोचर्म के

रक्त से चर्मण्वती नदी की उत्पत्ति का यही तात्त्विक अर्थ है जो अभी किया है और जो सर्वथा संभव, सर्वथा प्राकृतिक, सर्वथा बुद्धिगम्य अतः सर्वथा मान्य है।

पुनः एक दूसरा प्रतिवादी कहता है कि 'अश्वालम्भ' तथा गवालम्भ' शब्दों के अन्तर्गत 'आलम्भ' शब्द का अर्थ मारना वा वध करना नहीं है; बल्कि इसका अर्थ है प्राप्त करना वा संग्रह करना और अपने इस मत की पुष्टि में तैत्तिरीय ब्राह्मण, काण्ड ३, प्रपाठक ६, अनुवाक् ८ को सायण भाष्य के साथ पेश करता है—

(१) अश्वमालभते। प्राजापत्यो वा अश्वः। प्रजापतिमेवालभते। अथो श्रीर्वा एकशर्फ श्रियमेवावरुन्धे।

अर्थ—यजमान अश्व को मर्यादापूर्वक प्राप्त करे। अथवा अश्व का अधिष्ठाता देवता प्रजापति है; अतः अश्व को प्राप्त करने से यजमान मानो प्रजापति को ही प्राप्त करता है। अथवा एक खुर वाले जन्तु, जैसे अश्व, अश्वतर (खच्चर) और गधा, लक्ष्मीस्वरूप हैं; अतः अश्व को प्राप्त करने से यजमान मानो लक्ष्मी का ही संग्रह करता है। इस पर सायण-भाष्य पढ़िए—

प्रजा (अश्वः) प्रत्यक्ष जन्यत्वात् प्राजापत्यः। तदालम्भेन प्रजापतिमेवालब्धवान् भवति। अपिच एकशफम् अश्वाश्वतरगर्दभरूपं श्रीस्वरूपं धनिकानां गृहेषु, मनुष्य-धनादि-वहनायाश्वादीनां दर्शनात्। तस्मात् श्रियमेव प्राप्नोति।

अर्थ—अश्व, जो एक प्रजा है, प्रजापति से प्रत्यक्षतः उत्पन्न होने के कारण प्राजापत्य है। भाव यह कि प्रजा का प्रजापति के साथ तादात्म्य है। अतः अश्व को प्राप्त करने से मानो प्रजापति ही प्राप्त हो जाते हैं। तथा धनिकों के घर मनुष्य, धन आदि ढोने के लिए अश्वादि के देखे जाने से एक खुरवाले जन्तु, जैसे अश्व, अश्वतर

(खच्चर) और गधा, लक्ष्मीस्वरूप हैं। अतः अश्व को प्राप्त करने से यजमान मानो लक्ष्मी को ही प्राप्त करता है।

पुनः तैत्तिरीय ब्राह्मण के उक्त निर्देश पर ही गोपशु-विषयक निम्नलिखित कथन देखिये—

(२) गामालभते। यज्ञोवैगौः। यज्ञ मेवालभते। अथो अन्नं वै गौः। अन्नमेवावरुन्धे।

अर्थ—यजमान गोपशु को मर्यादापूर्वक संग्रह करे। गोपशु यज्ञ का कारण होने से यज्ञ-स्वरूप है। अतः गोपशु को प्राप्त करने से यजमान मानो यज्ञ का ही प्राप्त करता है। और गोपशु दूध, घी आदि की प्राप्ति का कारण होने से अन्न (भोजन-द्रव्य) स्वरूप है। अतः गोपशु को प्राप्त करने से यजमान मानो अन्न को ही प्राप्त करता है। इस पर सायण-भाष्य पढ़िए—

'द्वे धेनू भौमी' इत्यादौ पशुत्वेन गौर्विहिता। सा च यज्ञ निष्पादकत्वात् यज्ञस्वरूपा। अतः गवालम्भेन यज्ञ एवालब्धो भवति। अपि च क्षीरादिद्वारेण गोरन्नत्वात् अन्नमेव प्राप्नोति।

अर्थ—'द्वे धेनू भौमी' इत्यादि, इस वचन में गोशब्द से गोपशु का ही विधान है। वह गोपशु यज्ञ का कारण होने से यज्ञ स्वरूप है। अतः गोपशु की प्राप्ति से यजमान को मानो यज्ञ ही प्राप्त हो जाता है। और दूध आदि के द्वारा गोपशु के प्राण-पोषक अन्न (भोजन-द्रव्य) स्वरूप होने से यजमान गोप्राप्ति से मानो अन्न को ही प्राप्त कर लेता है।

यह है 'आलम्भ' शब्द के हिंसा-परक अर्थ पर प्रतिवादी का आक्षेप। उसने कहा तो ठीक; किन्तु उसकी समझ में कुछ फेर आ गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण के उक्त वचनों से उसे यह समझना चाहता था कि उक्त ब्राह्मण के कर्त्ता ऋषि ने उन वचनों से अश्व जाति तथा

गो जाति का महत्त्व एवं उपयोगिता बार-बार दिखाते हुए यजमान को उन्हें संग्रह करने के लिए आदेश करता है। किसी वस्तु की उपयोगिता तथा महत्त्व दिखाने के प्रसंग में उस वस्तु को नष्ट कर देने के लिए नहीं कहा जाता ; बल्कि उसको संग्रह करने के ही लिए कहा जाता है । अतः अश्व और गोपशुओं का महत्त्व दिखाने के प्रसंग में 'आलम्भ' शब्द का अर्थ प्राप्त करना वा संग्रह करना ही युक्ति-युक्त तथा तर्क-संगत है ; मारना वा वध करना नहीं ।

इस पर यह शंका हो सकती है कि यदि घोड़ा और गाय इतने उपयोगी और महत्त्व-पूर्ण प्राणी हैं तो उन्हें यज्ञ में मारा क्यों जाता था ? इस शंका का सरल समाधान यही है कि यह मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह अपनी असीम श्रद्धा-भक्ति के पात्रभूत देवता को प्रसन्न करने के लिए अपनी सबसे अच्छी तथा प्यारी वस्तु को ही अर्पण करता है ; न किसी हेय वस्तु को । प्राचीन हिन्दुओं का यह पूरा विश्वास था, जैसा कि आजकल भी दुर्गादेवी के मन्दिरों में बकरा काटने तथा कटवाने वाले हिन्दुओं का है, कि उनके इष्टदेव प्रसन्न होंगे तो उन्हें एक घोड़े वा एक गाय के बदले हज़ारों घोड़ों तथा गायों की लागत का लाभ पहुँचाएँगे । प्राचीन काल के राजा लोग इस आशा तथा विश्वास पर १०० अश्वमेध यज्ञ किया करते थे कि उन्हें इन्द्र का पद जो उक्त यज्ञों में वध किए हुए १०० घोड़ों की तुलना में उनसे असंख्य गुना मूल्यवान् पदार्थ समझा जाता था, प्राप्त होगा । वैदिक ग्रन्थों के अर्थ करने में पूरी सावधानी रखनी चाहिए । इस विषय पर इस परिच्छेद के अन्त में कुछ विचार किया जाएगा ।

अश्वमेध और गोमेध यज्ञों पर विचार करने के पश्चात् अब नरमेध नामक यज्ञ पर विचार किया जाता है जिसे प्राचीन हिन्दू किया करते थे और जो ब्रिटिश-शासन के आने के

नरमेध

पूर्व कहीं-कहीं अर्वाचीन काल में भी इस देश में

प्रचलित था। इस यज्ञ का आधार ऋग्वेदीय शुनः शेफ सूक्त माना जाता था। इस निष्ठुर प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने ई० सन् १८४५ के ऐक्ट २१ द्वारा बन्द कर दिया।

नरमेध की चर्चा के साथ हो हृदय मारे भय के सिहर उठता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हिन्दुओं के पूर्वज, जो अपने को जगद्गुरू होने का डींग हाँकते थे, इस पैशाचिक कृत्य को धर्म के नाम पर किया करते थे और अब तक भी यह अमानुषिक कृत्य इस भारत में होता रहता यदि ब्रिटिश सरकार इसे कानून द्वारा नहीं उठाती।

अभी कह आये हैं कि नरमेध यज्ञ का आधार ऋग्वेदीय शुनः शेफ सूत्र माना जाता था। इस शुनःशेफ की संक्षिप्त कथा जो ऋग्वेद के ऐतरेय-ब्राह्मण में विस्तृत रूप से लिखी गई है और जो नरमेध यज्ञ का एक भयंकर नमूना हमारे सन्मुख उपस्थित करती है, इस प्रकार है—

हरिश्चन्द्र नामक एक राजा की सौ स्त्रियाँ थीं; किन्तु पुत्राभाव के कारण वह सदा दुःखी रहता था। उसने पर्वतनारद नामक ऋषि की सलाह से वरुण देव की यह मनौती की कि, 'यदि मुझे पुत्र प्राप्त होगा तो मैं उसे वरुण देव को बलि चढ़ा दूँगा।' निदान वरुण की कृपा से हरिश्चन्द्र को एक पुत्र हुआ जिसका नाम उसने रोहित रखा। बड़े होने पर जब रोहित को यह मालूम हुआ कि उसके पिता ने उसे बलि चढ़ाने की मनौती की है तो वह प्राण के भय से जंगल में भाग निकला और वहाँ उसने अजीगर्त नामक एक क्षुधा-पीड़ित ऋषि को सौ गाएँ देकर उसके शुनःशेफ नामक एक पुत्र को अपने बदले बलि देने के लिये मोल ले लिया और उसे वरुण देव को भेंट चढ़ाने के लिये अपने पिता राजा हरिश्चन्द्र के हाथों में सौंप दिया। राजा ने यज्ञ प्रारम्भ किया और जब शुनःशेफ को यज्ञ-यूप से बाँधने के लिये

कोई आगे नहीं बढ़ा, तो उसके पिता ने पुनः सौ गाएँ लेकर उसे यज्ञ-यूप से बाँध दिया। पर जब शुनःशेफ का वध करने का किसी का साहस न हुआ तो उसके पिता ही पुनः सौ गाएँ लेकर इस क्रूर कर्म को करने के लिए खड्ग लिये उसके समीप आ खड़ा हुआ। अन्तिम समय में शुनःशेफ ने अपने सूक्त से अग्नि, प्रजापति आदि देवों की प्रार्थना की जिससे उस संकट से छुटकारा मिला और वह अपने नृशंस माता-पिता का परित्याग कर विश्वामित्र ऋषि का देवरात नामक स्वयंदत्त पुत्र हो गया।

शुनःशेफ ने जिस सूक्त द्वारा देवताओं को प्रसन्नकर अपने प्राण बचाये थे उसके कतिपय मंत्रों को पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ उद्धृत करता हूँ। ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त २४ देखिये—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
कोनोमह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृश्येयं मातरं च ॥१॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
सनो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृश्येयं मातरं च ॥२॥
अमीय ऋक्षा निहितास उच्चानक्तं ददृश्रे कुहचिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचकासच्चन्द्रमा नक्तं मेति ॥४॥
शुनःशेपोह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वां अदब्धोविमुमोक्तुपाशान् ॥१३॥

अर्थ—यज्ञ-यूप में जकड़ा हुआ शुनःशेफ कहता है—मैं भला किसके, अमरों में से किस देवता के, पवित्र नाम का स्मरण करूँ? भला कौन (मेरे बन्धनों को काटकर) मुझे महनीय मुक्तिदेवी के पास पुनः पहुँचा देगा जिससे मैं अपने पिता और माता को पुनः देख सकूँ ॥१॥ देवताओं में श्रेष्ठ जो अग्निदेव हैं उनके पवित्र नाम को हम लोग स्मरण करें। वे ही हम लोगों को महनीय मुक्तिदेवी के पास

पुनः पहुँचा देंगे जिसमें हम लोग अपने पिता और माता को पुनः देख सकेंगे ॥२॥ ये जो नक्षत्रगण ऊपर आकाश में निश्चल रूप से स्थापित हैं, वे रात को दिखाई पड़ते हैं और दिन को कहीं चले जाते हैं अर्थात लुप्त हो जाते हैं। और विशेष प्रकार से चमकता हुआ चन्द्रमा रात को उदय लेता है। वरुण देव के ये नियम नष्ट नहीं होते ॥४॥ तीन यज्ञ-यूपों में जकड़ा हुआ शुनःशेफ वरुण को पुकारता है। देवताओं के राजा वरुण, जो ज्ञान-स्वरूप तथा अनश्वर हैं, उसको बन्धनों से छुड़ाकर मुक्त कर दें ॥१३॥

नोट—मंत्र १ में शुनःशेफ (जिसे शुनःशेप भी कहते हैं) अपने माता-पिता के दर्शन के लिए लालायित जान पड़ता है; पर उसके माता-पिता ही ने तो उसे वधार्थ बेचा था; अतः वह ऐसे नृशंस माता पिता का दर्शनाभिलाषी नहीं हो सकता। अनुमान से मालूम होता है कि वह किसी ऐसे दम्पति को प्राप्त करना चाहता था जो उसके साथ सच्चे माता-पिता की नाईं पालन-पोषण तथा लाड़-प्यार आदि उचित व्यवहार कर सके और निदान वह महर्षि विश्वामित्र का स्वयंदत्त पुत्र बनकर अपने मनोरथ में सफल हुआ। मंत्र १३, में 'आदित्य' शब्द का अर्थ 'वरुण' किया गया है; कारण कि बारह आदित्यों में वरुण ही प्रमुख हैं और पहले तो 'आदित्य' नाम वरुण के ही लिए सीमित था।

शुनःशेफ का उपाख्यान रामायण, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत में भी आया है। भागवत में राजा हरिश्चन्द्र के किए हुए नरमेध को पुरुषमेध यज्ञ कहा गया है जो नरमेध का ही एक विशेष प्रकार का भेद है। यह वसन्त ऋतु में किया जाता है और ४० दिनों तक चलता है। भागवत, नवम स्कन्ध, सातवाँ अध्याय पढ़िए—

शुनःशेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत।
ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः ॥२१॥

मुक्तोदरोऽयजद्देवान् वरुणादीन् महत्कथः ।

अर्थ—रोहित ने अपने बदले में शुनःशेफ को ही यज्ञपशु बनाकर पिता को दिया और उनकी वन्दना की तब हरिश्चन्द्र ने, जो बड़े यशस्वी थे और जिनकी कीर्त्ति बड़े-बड़े लोग वर्णन किया करते थे, जलोदर रोग से मुक्त होकर वरुणादिक देवताओं का पुरुषमेध के द्वारा पूजन किया।

मनु-स्मृति में भी पुत्र शुनःशेफ का वध करने के लिए उद्यत अजीगर्त्त की चर्चा आई है। दशम अध्याय का १०५वाँ श्लोक पढ़िए—

अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन, क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥१०५॥

अर्थ—अजीगर्त्त नामक ऋषि क्षुधातुर होकर अपने पुत्र का वध करने चला; परन्तु क्षुधा को दूर करने के लिए ऐसा करता हुआ वह पाप से लिप्त नहीं हुआ।

कतिपय आधुनिक विद्वान ऋग्वेद के पूर्वोक्त शुनःशेफ-सूक्त में नरमेधयज्ञ-संबंधी किसी वास्तविक घटना का लेशमात्र भी नहीं पाते। उनके मत में यह उपाख्यान प्रकृति के सत्, रजस् और तमस् इन तीन यज्ञ-यूपों में माया-पाश से बँधा हुआ मुमुक्षुजीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह उसके माया-पाश को काटकर उसे निस्त्रैगुण्य तथा माया-मुक्त कर दे, बस इसी कथन का एक आलंकारिक रूप (Allegorical form) मात्र है। पर याद रहे कि वेद-मंत्रों को अलग-अलग विषयानुसार ऋग्वेदादि संहिताओं के रूप में वर्गीकरण करनेवाले और महाभारत एवं भागवत पुराण के रचयिता एक ही व्यक्ति अर्थात् कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास हैं। अवश्य ही उन्हें वेद-मंत्रों का वास्तविक अर्थ जिस स्पष्टता के साथ मालूम

रहा होगा उस स्पष्टता के साथ आधुनिक विद्वानों को, जो काल की दृष्टि से वैदिक काल से कई सहस्राब्दियाँ दूर चले आए हैं तथा जिनके समय में वेदों के अध्ययनाध्यापन का इस प्रकार भीषण ह्रास हो गया है, मालूम होना असंभव है। इसी प्रकार रामायण के रचयिता तपःस्वाध्याय निरत स्वयं महर्षि वाल्मीकि हैं जो काल की दृष्टि से वैदिक काल के, महर्षि व्यास की भी अपेक्षा, अधिक समीप थे; उन्हें तो वेदों का ज्ञान व्यास से भी बढ़कर होगा। अतः जब स्वयं वाल्मीकि और व्यास को भी शुनःशेफ के सूक्त में कोई रूपक नहीं सूझ पड़ा, तो उसे रूपक बतानेवाले आधुनिक विद्वान् किस खेत की मूली हैं कि उनमें मौलिकता कुछ भी न रहते हुए भी उनके वचनों पर विश्वास किया जाय। इसके अतिरिक्त एक और भी बात है जिस पर विद्वानों को मनन करना चाहिए। यदि वेदों में निबद्ध शुनःशेफ विषयक जैसी ऐतिहासिक घटनाओं को हम रूपक मान लें तो रामायण तथा महाभारत में निबद्ध सभी ऐतिहासिक घटनाएँ रूपक क्यों नहीं? यदि ये भी रूपक मात्र हुए तो राम, सीता, कृष्ण, अर्जुन आदि इन सभी उक्त इतिहास-ग्रन्थों के पात्रों का अस्तित्व भी काल्पनिक होता हुआ हमारे पूर्वजों के सारे इतिहास पर एकदम पानी फेर देगा। आखिर इस प्रश्न का भी कोई उत्तर होना चाहिए कि यदि ऋग्वेदोक्त शुनःशेफ का सूक्त रूपक है तो व्यास और वाल्मीकि जैसे वेदों के प्रकाण्ड विद्वानों ने उसकी रूपकता क्यों नहीं समझी और उसे भागवत, रामायण आदि अपनी-अपनी निजी कृतियों में ऐतिहासिक रूप क्यों दे दिया? असल बात तो यह है कि वेदों जैसे प्राचीनतम ग्रंथरत्नों में भी हमारी सारी सभ्यता एवं सारी संस्कृति का वास्तविक इतिहास निबद्ध है। किसी वेद-संहिता को उठाकर देखिए, उसमें आप को प्रचुर मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री मिलेगी। किसी भी पक्षपातरहित तत्त्वान्व-

वेषक की दृष्टि में हमारी सभी वेद-संहिताएँ, सारे ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थ इतिहास से भरे पड़े हैं। वेदों को नित्य तथा परमात्मा का निःश्वास माननेवाले सायण, भट्टभास्कर, स्कन्द स्वामी, शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि सभी आचार्यगण संहितादि वैदिक ग्रन्थों में इतिहास मानते हैं। यास्क ने भी वैदिक इतिहासों का कई बार उल्लेख किया है। अतः इन सब बातों पर अच्छी तरह विचारकर हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि शुनःशेफ सूक्त किसी ब्रह्मज्ञान के कथन का रूपक न होकर नरमेध जैसी एक सच्ची घटना का उल्लेख है, जिसे प्राचीन हिन्दू एक धार्मिक कृत्य समझकर किया करते थे और जिसका सिलसिला अर्वाचीन हिन्दुओं में भी अब तक कहीं-कहीं प्रचलित था जिसे ब्रिटिश सरकार को कानून द्वारा रोकना पड़ा।

अब वेदमंत्रों के अर्थ करने की शैली पर कुछ विचारकर इस परिच्छेद को समाप्त करता हूँ। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने स्वदृष्ट मंत्रों के अर्थज्ञान के लिए अपनी ओर से उन पर कोई टीका या भाष्य नहीं रचा जिनके सहारे हम उन मंत्रों में निबद्ध किए हुए सम्बन्धित ऋषियों के वास्तविक भाव को समझ सकें। अतः यह आवश्यक है कि हम वेदमंत्रों तथा किसी अन्य वेद-सम्बन्धी ग्रन्थों का अर्थ करने के लिए किसी दूसरी वस्तु का आश्रय लें। प्रायः लोग यास्कादि के निरुक्त तथा निघण्टु का आश्रय लेकर वेदों के मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यकादि विभागों का अर्थ किया करते हैं। पर निरुक्त तथा निघण्टु रूपी एक ही कुंजी से एक ही मंत्र के भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न भाव निकाले जाते हैं। यह तो हो नहीं सकता कि मंत्र द्रष्टा ऋषियों के मन में किसी मंत्र के दर्शन-काल में वे सभी भाव उपस्थित हों। यदि होगा तो कोई एक ही भाव मौजूद होगा, और

वेदार्थ करने की शैली

यह भी संभव है कि दूसरों के निकाले हुए विविध भावों में से कोई भी भाव उपस्थित न हों और द्रष्टाओं का कोई अपना विलक्षण भाव हो जो किसी अन्य के भाव से नहीं मिलता हो। पर ऐसा मानकर वेदमंत्रों के अर्थज्ञान के विषय में हमें निराश होना उचित नहीं जान पड़ता; प्रत्युत उन अर्थों को ढूँढ़ निकालने का कोई न कोई उपाय करना हमारा एक आवश्यक कर्त्तव्य जान पड़ता है; अन्यथा हमारा सारा वैदिक साहित्य निकम्मा अतः रद्दी की टोकरी में फेंकने योग्य हो जाएगा। अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १।१६४।३६) की व्याख्या तीन प्रकार से करता हुआ निरुक्त (१३।११) कहता है—

'अयं मंत्राभ्यूहोऽभ्यूड्होऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः।
नतु पृथक्त्वेन मंत्रानिर्वक्तव्याः ; प्रकरणवश एव निर्वक्तव्याः।'

अर्थ—मंत्र का यह विचार परम्परागत श्रुति और तर्क द्वारा निरूपित किया गया है मंत्रों की व्याख्या पृथक्-पृथक् न कर प्रसंगानुसार की जानी चाहिए।

अतः निरुक्तानुसार तीन साधन हैं जिनके द्वारा हमें वेदों का अर्थ मालूम हो सकता है—(१) श्रुति अर्थात् आचार्यों के मुख से परम्परा से सुने हुए ज्ञान वा उनके संग्रह-ग्रन्थ जैसे ब्राह्मण आदि; (२) तर्क यानी अनुमान। वाल्मीकि, व्यास, मनु आदि जिन विद्वानों को वेदों के अध्ययनाध्यापन तथा मनन करने के अधिक सुअवसर प्राप्त थे उनकी निजी कृतियों में जो धर्मनिरूपण किए गए हैं वे अवश्य वेदानुकूल हैं तथा जिन्हें (जैसे आधुनिक विद्वान्) उक्त सुअवसर प्राप्त नहीं हुए उनके धार्मिक मन्तव्य मन्वादिकों के अनुकूल होने पर ही माननीय हैं; अन्यथा नहीं, ऐसा विचार तर्क या अनुमान है और (३) प्रकरण या प्रसंग। इन तीन प्रकार के साधनों के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये हैं—

(१) परम्पराश्रुत अर्थ-ज्ञान के उदाहरण के लिये वाजसनेय-संहिता की ईशोपनिषद् के इस वचन को लीजिये—

कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरैः॥'

अर्थ—कर्म करते हुए भी सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इसी प्रकार तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी; दूसरी तरह से नहीं। कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता। अब ईशोपनिषद् के उक्त वचन के साथ भगवद्गीता के इस वचन को मिलाइए—

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफलेस्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्नसवध्यते॥"

अर्थ—कर्म मुझे लिप्त नहीं करते और न कर्म-फल में मेरी स्पृहा रहती है। मुझे ऐसा जो जानता है, वह कर्मों से नहीं बाँधा जाता। क्या गीता का यह वचन ईशोपनिषद् के उक्त वचन की व्याख्या नहीं है?

पुनः वृहदारण्यक तथा कठोपनिषद् का यह वाक्य लीजिए—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यथ ब्रह्म समश्नुते॥"

अर्थ—जब इसके हृदयस्थित सभी कामनाएँ छूट जाती हैं तब मरण-शील (मनुष्य) अमर होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है। इसके साथ गीता का यह श्लोक मिलाइए—

"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकाराः स शान्तिमधिगच्छति॥"

अर्थ—जो मनुष्य सभी कामनाओं को छोड़कर तथा इच्छा, ममता और अहंकार से रहित होकर आचरण करता है वही शान्ति-

पाता है। क्या गीता का यह वाक्य उक्त उपनिषद्वाक्य की व्याख्या नहीं है।

खोजने पर और भी ऐसे-ऐसे कितने उदाहरण मिलेंगे जहाँ वेद-सम्बन्धी वचनों की व्याख्या अन्य ग्रन्थों में मिलेगी। वस्तुतः पुराण और धर्मशास्त्र एवं रामायण, महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थ परम्परा प्राप्त अर्थों की खानें हैं जिनसे वैदिक वचनों की व्याख्या करने में यथेष्ट सहायता मिल सकती है। पुराण आदि विविध उक्त ग्रन्थों की सहायता वेदों के अर्थ जानने के लिए ठीक वैसी ही है जैसी लौकिक संस्कृत की सहायता वेदों की भाषा समझने के लिए। हाँ, वेदों के अर्थ-ज्ञान के लिए उन ग्रन्थों में निबद्ध परम्परा प्राप्त ज्ञान के साथ-साथ इन्डो-यूरोपियन भाषाओं के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की सहायता, एक दूसरे के शोधक के रूप में ली जाए, तो सोने में सुगन्ध वाली कहावत चरितार्थ हो।

(२) तर्क यानी अनुमान। इस साधन की आवश्यकता वहाँ पड़ती है जहाँ एक ही वेद-वचन के अनेक युक्ति-युक्त अर्थ होते हों; पर यह न स्पष्ट होता हो कि मंत्रद्रष्टा वा लेखक ऋषि का वास्तविक भाव क्या है। जैसे अभी पहले कहा गया है कि ऋग्वेदीय शुनःशेप-सूक्त रूपक न होकर एक वास्तविक घटना का वर्णन है; कारण कि वाल्मीकि, व्यास आदि महर्षियों ने अपने ग्रन्थों में इसे ऐसा ही माना है। इन महर्षियों ने उक्त सूक्त की कुछ व्याख्या नहीं की है; बल्कि उसके विषय में जो नाना प्रकार की संभावनाएँ थीं उन सब का निपटाराकर उसके वास्तविक भाव को निरूपित कर दिया है। इस निर्णय पर हम लोग इस तर्क से पहुँचते हैं कि उक्त महर्षियों को वेदार्थ साक्षात्कार की जो सुविधाएँ प्राप्त थीं वे आधुनिक विद्वानों को नहीं हैं। इसके अतिरिक्त इस साधन का वहाँ भी काम

पड़ता है जहाँ संबंधित वेद-वचन की उपलब्धि नहीं होती जैसा कि आगे दिखाया गया है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। वेदों में कई जगह यह लिखा मिलता है—"यजमानस्य पशून् पाहि; अविं मा हिंसीः; गां मा हिंसीः; एकशफं मा हिंसीः" इत्यादि।

अर्थ—यजमान के पशुओं की रक्षा करो; भेड़ मत मारो; गाय मत मारो; एक खुरवाले पशु को मत मारो इत्यादि। पर यहाँ व्यर्थ वा केवल उदर-पूर्त्ति के लिए पशु-वध का निषेध है; यज्ञ तथा श्राद्ध के लिए नहीं; क्योंकि मनु इसमें प्रमाण हैं—"मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः" (५।४१)। पुनश्च—"या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ" (५।४४)। इन श्लोकों का अर्थ मांस-भक्षण-प्रसंग में पहले ही कर चुका हूँ। वहाँ देख लीजिए। इनके अतिरिक्त मनु के और भी वचन हैं जिनके अनुसार यज्ञ में पशुओं का बध बध नहीं है। इस बात को सभी मानते हैं कि मनु-स्मृति वेदार्थों की पुष्टि करनेवाली सर्वप्रधान स्मृति है। बृहस्पति कहते हैं—

"वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते ॥"

अर्थ—वेदार्थों को निबद्ध करने के कारण मनुस्मृति प्रधान मानी गई है। जो स्मृति मनु की विरोधिनी है वह प्रशस्त नहीं है। और भी कहा है—

"तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ॥"

अर्थ—तर्क व्याकरणादि सभी शास्त्र तभी तक शोभा देते हैं जब

तक धर्म, अर्थ और मोक्ष का उपदेश करनेवाला मनु नहीं देख पड़ता । महाभारत में भी लिखा है—

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥"

अर्थ—पुराण, मानव-धर्म (मनुप्रोक्त धर्मशास्त्र), षडङ्ग सहित वेद और चिकित्सा-शास्त्र, ये चारों आज्ञासिद्ध हैं, अर्थात् ये जो कहें उसे मान लेना चाहिए। इन पर तर्क-वितर्क करके इन्हें अन्यथा नहीं करना चाहिए। इन सब प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मनुस्मृति ही सब स्मृतियों में प्रधान है और वह वेदार्थों को ही बतलाती है; अर्थात् उसमें जो कुछ लिखा है वह वेद-सम्मत है। इसका कोई भी अंश प्रक्षिप्त कहकर नहीं उड़ाया जा सकता।

अब यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि वेदार्थ जानने के पहले (श्रुति) और दूसरे (तर्क वा अनुमान) साधनों में अन्तर ही क्या है ? इस शंका का समाधान यह है कि पहले में वेद-भिन्न ग्रन्थों के वचनों के मूलभूत वेद-वाक्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है; और दूसरे में वेद-वाक्यों की वा उनके वास्तविक भावों की अनुपलब्धि में उनके अस्तित्व वा वास्तविक भाव का तर्क द्वारा अनुमान कर लिया जाता है; अर्थात् यह समझ लिया जाता है कि वेदों की भी मंशा अवश्य यही होगी; अन्यथा मनु अपने धर्मशास्त्र में उसको क्यों स्थान देते ?

(२) प्रकरण वा प्रसंग। वेदों का अर्थ सदा प्रसंगानुकूल होना चाहिए। यह नहीं कि जहाँ-जहाँ 'अश्व' शब्द मिले वहाँ-वहाँ उसका केवल घोड़ा ही, वा केवल अश्वगन्धा नाम की औषधि ही अर्थ लिया जाए। प्रसंगानुसार उसके दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। जैसे पूर्व में कह आया हूँ कि गो तथा अश्व के उपयोगितावर्णन-प्रसंग में

'आलभते' का अर्थ संग्रह कर लेना चाहिए; पर गोमेध तथा अश्वमेध यज्ञों के प्रसंग में उसका अर्थ हिंसा-परक ही लेना चाहिए।

उक्त साधन-त्रय के अतिरिक्त एक चौथा साधन भी है जो किसी भी ग्रन्थ के अर्थ-निर्णय में काम आ सकता है। वह है पूर्वापर-परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अर्थों का संगति-करण। जैसे मनु ने कहा है कि मांस-भक्षण तथा मैथुन में दोष नहीं है; क्योंकि इनमें प्राणियों की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। इस पर कोई यह आक्षेप करने लगे कि यदि मांस खाने में दोष नहीं तो कुत्ते, बिल्ली और गधे का मांस क्यों नहीं खाते ? यदि मैथुन में दोष नहीं तो माता, बहिन आदि के साथ मैथुन में क्यों दोष समझा जाता है ? इस आक्षेप का उत्तर यह है कि कुत्ते, बिल्ली आदि का मांस कुस्वाद तथा स्वास्थ्य-हानिकर समझ उसे पंचनखों और एकशफों में निषिद्ध किया गया है और माता आदि के साथ मैथुन इस कारण निषिद्ध किया गया है कि इससे समाज का उच्छेद होगा; यौन-सम्बन्ध का कोई नियम नहीं रहने के कारण समाज में व्यभिचार बढ़ेगा, जिसके फलस्वरूप किसी को सुख शान्ति न मिलेगी, लोगों का जीवन पशु-जीवन हो जाएगा जिससे किसी प्रकार की उन्नति न हो सकेगी इत्यादि। अतः यदि मनु ने कहा है कि मांस-भक्षण करने में दोष नहीं तो उन्होंने यह भी नियम कर दिया है कि किस प्राणी का मांस-भक्ष्य है और किसका अभक्ष्य है। और यदि उन्होंने मैथुन में दोष नहीं माना है तो उन्होंने यह भी कह दिया है कि विवाहिता-भिन्न स्त्रियों के साथ मैथुन करने से प्रायश्चित्त करना पड़ता है। अभिप्राय यह कि किसी भी ग्रन्थ के वाक्यों का अर्थ पूर्वापर मिलाकर करना चाहिये।

यदि उक्त आक्षेप को उलट कर यह प्रत्याक्षेप किया जाए कि यदि मांस खाने में दोष है तो आहाराभाव के कारण जान जाते

हुए भी मनुष्य का, वा व्याधि-विशेष में प्राणरक्षार्थ मांस-भक्षण की नितान्त आवश्यकता होते हुए भी सम्बन्धित रोगी का मांस खाना सदोष है। पर यह धर्म और नीति दोनों के प्रतिकूल होने के कारण अमान्य है। इसी प्रकार यदि मैथुन में दोष है तो अपनी विवाहिता स्त्री के भी साथ मैथुन करने में दोष होगा। पर ऐसा मानने से मानव वंश का उच्छेद होगा; अतः यह भी अमान्य है।

अब 'प्रवृत्ति' शब्द पर थोड़ा विचार कीजिए। यदि मांस खाना वा मैथुन करना मनुष्य-मात्र का स्वाभाविक धर्म है तो सभी को मांसाहारी तथा कामुक होना चाहिए। पर हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि मनुष्यों में से कितने मांसाहारी नहीं हैं। वे मांस का नाम सुनते ही मारे घृणा के मुँहफेर लेते हैं। वे अपना जीवन-निर्वाह केवल शाकाहार द्वारा करते हैं। तथा कितने षंड वा नपुंसक हैं जिनमें काम का विकार तनिक भी नहीं है जिससे वे मैथुन के प्रति बिल्कुल निःस्पृह रहते हैं। पर शाकाहारियों तथा षंडों की संख्या बहुत ही कम है; अतः वे गणना योग्य नहीं हैं और मनु का वचन अक्षरशः सत्य मालूम पड़ता है। जब वे कहते हैं कि मद्य, मांस और मैथुन में प्राणियों को प्रवृत्ति स्वाभाविक है।

अन्त में थोड़ा कुछ और कहकर इस परिच्छेद का उपसंहार कर देना है। प्रश्न यह नहीं था कि मद्य-मांस का सेवन करना चाहिए वा नहीं; और यदि मेरी सम्मति पूछी जाए तो मैं यही कहूँगा कि भारत जैसे उष्णप्राय देश में जहाँ प्रचुर-मात्रा में खाने योग्य अन्न, दूध पैदा होता है, मद्य-मांस से बिल्कुल परहेज़ रखना चाहिए; बल्कि प्रश्न यह था कि प्राचीन हिन्दू क्या खाते-पीते थे और श्रुति, स्मृति तथा पुराणादिकों के द्वारा यह दिखला दिया गया कि उनमें मद्य-मांस का प्रचार था। उनमें किसी विशेष प्रकार की विशेषता नहीं थी कि वे इन दोषों से दूर रह

सकें। इतना ही नहीं; बल्कि यज्ञों में वे गोवध तक किया करते तथा गोमांस भी खाया करते थे। सायण-भाष्य के साथ ऋग्वेद का अध्ययन कीजिए और अपने पूर्वजों के काले कारनामों की सूची तैयार कीजिए—वे घोड़े, गाय, बैल, सुअर, भेड़ें तथा भैंसे का मांस खाते थे (ऋ० १०।८६।१३ तथा १०।२८।३); एक स्थान पर इन्द्र ने अपने भोजन के लिए २० बैल मारने को कहा है (ऋ० १०।८६।१४); एक-एक बार सौ-सौ भैंस भी काटे जाते थे (ऋ० ६।१७।११); घोड़े, बैल, भेंड़ और गायों की आहुति होती थी (ऋ० १०।६।१।१४ तथा (१०।१६६।३); जगह-जगह क़साईखाने भी थे (१०।८६।१४); सोमलता को गोचर्म पर रखकर उसे पत्थर से कूटा जाता था (ऋ० ६।७२।४) पाठकगण क्रमशः निम्नोद्धृत उक्त वेदमंत्रों का अवलोकन करें—

(१) वृषाकपायि रेवती सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित् करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
ऋ० १०।८६।१३॥

अर्थ—हे वृषाकपि (तन्नामधारी इन्द्र-पुत्र) की स्त्री! तुम धन-शालिनी, उत्तम पुत्रवाली और सुन्दर पुत्र-वधू हो। तुम्हारे वृषों (साँड़ों) को इन्द्र खा जाएँ। तुम्हारे प्रिय और सुखकर हवि का वे भक्षण करें। इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं।

(२) अद्रिणाते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान् पिवसित्वमेषाम्।
पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमानः॥
ऋ० १०।२८।३॥

अर्थ—हे इन्द्र! अन्न कामना से जिस समय तुम्हारे लिए हवन किया जाता है, उस समय यजमान शीघ्र-शीघ्र प्रस्तर-फलकों पर मादक सोमरस तैयार करते हैं। उसे तुम पीते हो। यजमान बैल (साँड़) पकाते हैं। तुम उन्हें खाते हो।

(३) उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमग्नि पीव इन्दुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥
ऋ० १०।८६।१४ ॥

अर्थ—इन्द्र कहते हैं—मेरे लिए इन्द्राणी के द्वारा प्रेरित याज्ञिक लोग पन्द्रह-बीस साँड़ वा बैल पकाते हैं। उन्हें खाकर मैं मोटा होता हूँ। मेरे दोनों कुक्षियों को याज्ञिक लोग सोम से भरते हैं। इन्द्र सर्व-श्रेष्ठ हैं।

(४) वर्द्धान् यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्रतुभ्यम् !
पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै ॥
ऋ० ६।१७।११ ॥

अर्थ— हे इन्द्र ! सम्पूर्ण मरुद्गण समान प्रीतिभाजन होकर स्तोत्र द्वारा तुम्हें वर्द्धित करते हैं और तुम्हारे निमित्त पूषा तथा विष्णु देव शतसंख्यक महिषों का पाक करते एवं तीन पात्रों को पूर्ण करने के लिए मादक और वृत्र-नाशक सोम ढालते हैं।

(५) यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशामेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिंजनये चारुमग्नये ॥
ऋ० १०।९१।१४ ॥

अर्थ—जिन अग्नि में घोड़ों, बली वृषों और पौरुषहीन मेषों की अश्वमेध यज्ञ में आहुति दी जाती है, जो जल पीते हैं, जिनके ऊपर सोम रहता है और जो यज्ञानुष्ठाता है, उन अग्नि के लिए मैं हृदय से कल्याणकारी स्तुति बनाता हूँ।

(६) या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीह ॥
ऋ०१०।१६९।३॥

अर्थ—जो गाएँ अपने शरीर को देवों के यज्ञ के लिए दिया

करती हैं; जिन गायों की आहुतियाँ सोम जानते हैं; हे इन्द्र ! उन गायों को दूध से परिपूर्ण करके और सन्तानयुक्त बनाकर हमारे लिए गोष्ठ में भेज दो।

(७) कर्हिस्वित् सात इन्द्र चेत्यासदघस्य यद्भिनदो रक्ष एषत्।
मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते ॥
ऋ० १०।८९।१४॥

अर्थ—हे इन्द्र ! जिस अस्त्र वा वाण को फेंककर तुमने पापी राक्षस को काटा था, वह कहाँ फेंकने योग्य है ? जैसे गोहत्या के स्थान में गाएँ काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्र से निहत होकर मित्रद्वेषी राक्षस लोग पृथ्वी पर गिरकर सदा के लिए सो जाते हैं।

(८) दिवि ते नाभा परमो य आददे पृथिव्यास्ते रुरुहुः सानविक्षिपः।
अद्रयस्त्वा बप्सति गोरधित्वच्यप्सुत्वा हस्तै र्दुदुहुर्मनीषिणः ॥
ऋ० ९।७९।४ ॥

अर्थ—हे सोम ! तुम्हारा परम अंश द्युलोक में है। वहाँ से तुम्हारे अंश पृथ्वी के उन्नत प्रदेश (पर्वत) पर गिरे और वहाँ वृक्ष हो गए। मेधावी लोग तुम्हें हाथों से गोचर्म पर पत्थरों से कूटते हैं और जल में निचोड़ते हैं। ऋ० ९।१०१।११ भी देखिए।

इन वेदमंत्रों के अतिरिक्त पाठकगण ऋग्वेद, प्रथम मण्डल का १६२ वाँ सूक्त पढ़ें जिससे उन्हें मालूम होगा कि किस प्रकार वैदिक ऋषिगण अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञाग्नि में छागों और घोड़ों की आहुति देते थे। उक्त सूक्त के कुछ मंत्र यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

(१) एषच्छागः पुरो अश्वेन वाजिनापूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः
अभिप्रियं यत्पुरोलाशमर्वता त्वष्टे देवं सौश्रवसाय जिन्वति ॥
ऋ० १। १६२।३ ॥

अर्थ—सब देवों के लिए उपयुक्त छाग पूषा के ही अंश में पड़ता है। उसे शीघ्रगामी अश्व के साथ सामने लाया जाता है। अतएव त्वष्टा देवता के सुन्दर भोजन के लिए, अश्व के साथ, इस छाग से सुखाद्य पुरोडाश तैयार किया जाए।

(२) यद्वाजिनो दामसन्दानमवतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वाघास्य प्रभृतमास्ये तृणं सर्वाता ते अपि देवेष्वस्तु॥
ऋ० १।१६२।८॥

अर्थ—जिस रस्सी से घोड़े की गर्दन बाँधी जाती है; जिससे उसके पैर बाँधे जाते हैं; जिस रस्सी से उसका सिर बाँधा जाता है, वे सब रस्सियाँ और अश्व के मुँह में डाली जानेवाली घासें देवों के पास आवें।

(३) यदश्वस्य क्रविषा मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वाता ते अपि देवेष्वस्तु॥
ऋ० १।१६२।९॥

अर्थ—अश्व का जो कच्चा मांस मक्खी खाती है, काटने अथवा साफ़ करने के समय जो हथियार में लग जाता है तथा काटने वाले के हाथों और नखों में जो लग जाता है, वह सब देवताओं के पास जाय।

(४) यत्तेगात्रादग्निना पच्यमानादभिशूलं निहतस्यावधावति।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु॥
ऋ० १।१६२।११॥

अर्थ—हे अश्व! आग में पकाते समय तुम्हारे शरीर से जो रस निकलता है और जो अंश शूल में आबद्ध रहता है वह मिट्टी में गिरकर तिनकों में मिल न जाए। देवता लोग लालायित हुए हैं। उन्हें सारा हवि प्रदान किया जाए।

(५) ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्कं य इमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥

ऋ० १।१६२। २ ॥

अर्थ—जो लोग चारों ओर से अश्व का पकना देखते हैं; जो कहते हैं कि गन्ध मनोहर है, देवताओं को दो; और जो मांस-भिक्षा की अपेक्षा करते हैं अर्थात् उसे पाने की आशा से वहाँ बैठे हैं, उनका संकल्प हमारा ही हो।

(६) निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः ।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वाता ते अपि देवेष्वस्तु ॥

ऋ० १।१६२।१४॥

अर्थ—अश्व जहाँ गया था, जहाँ बैठा था, जहाँ लोटा था, जिससे उसके पैर बाँधे गए थे, जो उसने पिया था तथा जो घास उसने खाई थी, सो सब देवों के पास जाए।

(७) यदश्वाय वास उपस्तृणंत्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै ।
संदानमर्वंतं पड्वीशं प्रिया देवेष्वायामयन्ति ॥

ऋ० १।१६२।१६॥

अर्थ—जिस आच्छादन-योग्य वस्त्र से अश्व को आच्छादित किया जाता है, उसको जो सोने के गहने दिए जाते हैं, जिससे उसके सिर और पैर बाँधे जाते हैं, सब देवों के लिए प्रिय हैं। ऋत्विक् लोग देवों को ये सब प्रदान करते हैं।

(८) यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद ।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वाता ते ब्रह्मणा सूदयामि ॥

ऋ० १।१६२।१७॥

अर्थ—अश्व को, ज़ोर से नासा-ध्वनि करते हुए गमन करने

पर, चाबुक के आघात से जो व्यथा उत्पन्न हुई थी, उसे मैं मंत्र द्वारा उसी प्रकार आहुति में देता हूँ जैसे स्रुक द्वारा हव्य दिया जाता है।

जो लोग इन वेदमंत्रों में 'छाग' और 'अश्व' शब्दों से तन्नामधारी पशुओं का अर्थ न लेकर क्रमशः अजा और अश्वगन्धा वा अश्वपर्णी नामक औषधियों का अर्थ लेते हैं वे जान बूझकर सत्य पर पर्दा डालना चाहते हैं। यज्ञों में पशुओं का ही बध होता था, यह श्रीमद्भागवत से भी प्रमाणित है। चौथे स्कन्ध का २५ वाँ अध्याय पढ़िए। राजा प्राचीनबर्हि, जो प्रचेताओं के पिता थे, कर्मकाण्ड में तत्पर होकर यज्ञों में पशुओं का संहार करने लगे। महर्षि नारद को उनकी बुद्धि पर दया आई; अतएव उन्होंने राजा के पास जाकर ज्ञान का उपदेश दिया—

भो भो प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञापितान् जीवसंघान् निर्घृणेन सहस्रशः ॥७॥
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
संपरेतमयः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥८॥

अर्थ—नारद ने कहा कि हे प्रजाओं के पालन करने वाले राजा, तुमने निर्दय होकर यज्ञों में हज़ारों पशुओं की हत्या की है। ये सब तुम्हारे मरने की राह देख रहे हैं ॥७॥ जब तुम मरोगे तब ये सब तुम्हारी दी हुई पीड़ा का स्मरणकर उसका बदला लेंगे। ये सब कुपित होकर यमराज के यहाँ अपने वज्र-तीक्ष्ण सींगों से तुम्हारे शरीर को छिन्न-भिन्न करेंगे ॥८॥ जान पड़ता है कि महर्षि व्यास के समय में पशुवध रूपी बर्बरता के कारण लोगों की श्रद्धा वैदिक कर्मकाण्ड से उठ चली थी। तभी तो हमें इसका संकेत भगवद्गीता के 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्ज्जुन' इस वेद-विरोधी वचन से मिलता है। महाभारत, शान्ति-पर्व, अध्याय ३३७ में, भीष्म ने

युधिष्ठिर से ऋषियों और देवताओं का विवाद कहा है। देवताओं का पक्ष था कि यज्ञों में पशुओं का ही हवन होना चाहिए। इसका विरोध करते हुए ऋषियों ने कहा—

'बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमितिवै वैदिकी श्रुतिः।
अज संज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ॥४॥

अर्थ—यज्ञों में धान्यादि अन्नों के द्वारा हवन करना चाहिए; यह वैदिक श्रुति है; क्योंकि सभी बीजों (अन्नों) को 'अज' कहते हैं। इसलिए बकरों को मारना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। जान पड़ता है कि ये कोई अधकचरे ऋषि थे, जिन्हें वेदों का अधूरा ज्ञान था; अन्यथा धर्मराज (!) युधिष्ठिर पर भीष्म द्वारा प्राप्त उनके इस सदुपदेश का कुछ भी प्रभाव क्यों नहीं पड़ा ? और युधिष्ठिर ने इसे जानकर भी अपने अश्वमेधयज्ञ से असंख्य पशुओं की जान क्यों ली ? महाभारत, अश्वमेधपर्व, अध्याय ८६ को पढ़िए। मज़ा तो यह कि यह हिंसात्मक यज्ञ अद्वितीय वेदज्ञ महर्षि वेद व्यास के समय तथा उनकी ही सलाह से हुआ था। उक्त पर्व का अध्याय ७१ पढ़िए।

यज्ञ-निहत पशुओं के विविध अंगों का बटवारा यज्ञ करानेवाले पुरोहितों में किस प्रकार होना चाहिए, यह हमें गोपथ-ब्राह्मण ३।१८ से मालूम होता है—

अथातः सवनीयस्य पशोर्विभागं व्याख्यास्यमः। उद्धृत्यावदानि हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः कंठः सककुदः प्रतिहर्त्तुः, श्येनपक्ष उद्गातुः दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः इत्यादि।

अर्थ—अब इसके बाद यज्ञीय पशु का विभाग कहते हैं। जीभ के साथ दोनों जबड़े प्रस्तोता के, ककुद् (मौर) के साथ कंठ प्रतिहर्त्ता के, श्येनाकार वक्षःस्थल उद्गाता के, कन्धे के साथ दहना पार्श्व

(युगल) अध्वर्यु के होते हैं इत्यादि। स्थानाभाव के कारण गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्धित अंश पूर्णतः उद्धृत ही हुआ। उदाहरण स्वरूप उसकी कुछ आरंभिक पंक्तियाँ ही उद्धृतकार शेष छोड़ दिया गया। यज्ञ-निहत पशु का इसी प्रकार का विभाजन ऐतरेय ब्राह्मण में भी बतलाया गया है। यह विभाजन गोमेध यज्ञ के प्रसंग में आया है; अतः यहाँ पशु शब्द से गो पशु का ही विभाजन समझना चाहिए। नियम यह था कि यज्ञनिहत गोपशु की लाश में से उसके ३६ अंगों को काटकर उन्हें यज्ञ में भाग लेनेवाले प्रस्तोता आदि पुरोहितों एवं यजमान और उसकी स्त्री में बाँट दिया जाता था। इन ३६ अंगों में जबड़े, जीभ, गर्दन, ककुद्, सीना, रीढ़, कन्धा, चूतड़, कूल्हा, जाँघ, पेड़ू, कमर, आमाशय, हृत्पिंड, गुर्दा, टाँग, आँठ, मूत्राशय, सिर, खाल, पैर, हलक, तालू, कुरकुरी, मणिका आदि हैं और इन्हें पानेवालों में प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, उद्गाता, अध्वर्यु, उपगाता, प्रतिप्रस्थाता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंशी, पोता, होता, मैत्रावरुण, कच्छावाक, नेष्टा, सदस्य, गृहस्वामी और उसकी स्त्री, अग्निध, अत्रेय, चमसाध्वर्यु, सुब्रह्मण्य आदि हैं। यज्ञस्थली क्या थी, मानो पूरा बूचड़-खाना थी।

पशु-यज्ञ के विषय में पहले बहुत कुछ लिखा गया है; किन्तु फिर भी कुछ लिखना बाकी रह गया है, जिसे पाठकों की सेवा में निवेदन कर देना ही उचित मालूम होता है। वर्त्तमान काल में वेद प्रतिपादित धर्म के माननेवालों में मुख्यतः दो सम्प्रदाय देखने में आते हैं—(१) सनातनी तथा (२) आर्यसमाजी। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि दोनों ही उक्त धर्म के असली रूप को छिपाना चाहते हैं। उन्हें सदा यह भय बना रहता है कि कहीं वैदिक धर्म का असली रूप जनता को मालूम हुआ तो वह उनके पूर्वजों को कहीं असभ्य तथा जंगली कहने लगेगी। सनातनी तो यह कहकर

अपने पूर्वजों की बर्बरता को छिपाते हैं कि भाई, हमारे वैदिक ऋषिगण ऐसी दिव्य-शक्ति रखते थे कि उनके प्रताप से यज्ञ में मारे गए पशु पुनः जी उठते थे और अपने भौतिक शरीर के साथ ही सीधे स्वर्ग में चले जाते थे। आजकल इस कलियुग में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि हम वैसा चमत्कार दिखा सकें; अतः हमें इस कलिकाल में यज्ञ-सम्पादनार्थ पशुओं का वध नहीं करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि सनातनी तो अश्व, गो, छाग, महिष, मेष नामधारी वास्तविक पशुओं का ही मारा जाना स्वीकार करते हैं; पर वे भोली-भाली जनता को यह कहकर बहकाया करते हैं कि यज्ञनिहत पशु ऋषियों के मंत्र-बल से पुनः जी उठते थे और स्वर्ग को चले जाते थे। इस धूर्ततापूर्ण सफ़ाई के खंडन में केवल यही कहना पर्याप्त है कि यदि यज्ञ-निहत पशु पुनरुज्जीवन होकर सशरीर स्वर्ग को चले जाते थे तो, फिर उनके किस शरीर को बूचड़ की तरह काट-काटकर विभाग किया जाता था, यह सनातनियों को बतलाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें इस बात का प्रमाण भी देना चाहिए कि यज्ञ-निहत पशु पुनः जी उठते थे। पर आज तक उन लोगों ने दोनों में कोई भी काम नहीं किया।

आर्यसमाजी सम्प्रदाय तो और भी विचित्र है। स्वामी दयानन्द के चेले होने के कारण इसके सदस्य कतर-ब्योंत करने तथा वाक्-छल का आश्रय लेने में सिद्ध हैं। बस, जहाँ हुआ वहाँ चट अर्थ बदल दिया और हठपूर्वक अपने पक्ष पर डटे रहे। इसका कुछ भी विचार नहीं रहता कि उनका अर्थ कहाँ तक प्रासंगिक है। ये तथा इनके फेर में पड़े हुए अन्य अशिक्षित तथा कुशिक्षित जन भी, जिनके अध्ययन की परिधि-जीवन पर्यन्त 'सत्यार्थ-प्रकाश' की चहार-दीवारी के भीतर सीमित रही, पर जो सर्वत्र 'वेद-वेद' चिल्लाया करते हैं, वैदिक यज्ञों की बीभत्सता पर यह कहकर पर्दा डालते हैं कि अश्वादि

शब्द तन्नामधारी पशुओं के बोधक न होकर अश्वगन्धा आदि औषधियों के बोधक हैं, जिनकी आहुति अग्निकुंड में होती थी। इसका फल यह होता था कि उनकी सुगन्ध तथा धुएँ से वायुमंडल शुद्ध हो जाता था और उसमें उड़नेवाले रोग-कीटाणु नष्ट हो जाते थे, जिससे प्रजा स्वस्थ तथा सुखी रहती थी। उनका कथन है कि जिस प्रकार पशुओं के चर्म, मांस, अस्थि आदि होते हैं उसी प्रकार ये औषधियों के भी होते हैं। औषधियों का छिलका उनका चर्म, उनका गूदा, उनका मांस, उनका रस, उनका रक्त और उनकी गुठली उनकी अस्थि है। सायण आदि भाष्यकारों ने ऋषियों के गूढ़ाशय न समझकर और अर्थ का अनर्थकर वैदिक यज्ञों को कलंकित कर दिया है इत्यादि। यह तो हुआ पूर्व-पक्ष। अब इसका उत्तर-पक्ष सुनिए—

यह तो ठीक है कि औषधियों के छिलके, गूदे, गुठली उनके क्रमशः चर्म, मांस, अस्थि आदि कहे जा सकते हैं। पर ऐसी कल्पना के आधार हैं। वे आधार हैं पशुओं तथा औषधियों के विविध शरीरावयवों के बीच उनके आकार, गुण, क्रिया तथा शरीरान्तर्गत स्थान का सादृश्य एवं उन अवययों में आकारादि की पारस्परिक भिन्नता। सादृश्य यह कि आवरण तथा रक्षण का काम करने के कारण छिलके वा त्वच् को चर्म, तरलत्व और पोषकत्व गुण के कारण रस को रक्त, इसी प्रकार कठिन्य गुण के कारण गुठली को अस्थि कह सकते हैं। भिन्नता यह कि जो आकार, गुण, क्रिया और स्थान छिलके के हैं वे गुठली के नहीं हैं। इसी प्रकार जो आकारादि गुठली के हैं वे गूदे, रसादि के नहीं हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई एक ही अवयव वा इन्द्रिय किसी अन्य अवयव का भी काम दे। यदि ऐसा होने लगे तो औषधियों का, पशुओं के साथ, कुछ भी तुलना नहीं हो सकती। पहले गोपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मणों का हवाला देते हुए यह सिद्ध कर

आया हूँ कि यज्ञीय पशु के जबड़े, जीभ आदि ३६ अंगों को अलग-अलग काटकर उन्हें प्रस्तोता आदि ३६ व्यक्तियों में बाँटते थे। क्या कोई भी स्वामी दयानन्द के मतानुयायी मुझे सन्तोषजनक रूप से यह बतलाने की कृपा कर सकता है कि यदि वेदमंत्रों में आए हुए अश्व, मेष, महिष, उक्षण, वृषभ, वृष, ऋषभ, गो, छाग आदि शब्द औषधियों के द्योतक हैं तो इन औषधियों के कौन-कौन से अंग, कौन-कौन-सी इन्द्रियाँ तथा कौन-कौन से अवयव जबड़े आदि अलग-अलग ३६ अंग हैं जिनका बँटवारा किया जाता था? यों ही कुछ अनर्गल-बक देने से काम नहीं चल सकता। सन्तोषजनक तथा सप्रमाण उत्तर देना होगा। यदि ऐसा उत्तर वे नहीं दे सकते तो यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि यज्ञों में पशुओं का ही होम किया जाता था और उन्हीं के अंगों का बँटवारा होता था, न कि औषधियों का। मैं मानता हूँ कि वेदों पर स्वामी दयानन्द* की अटल श्रद्धा थी, अतः वे उसका उद्धार करना चाहते थे। पर उनकी अटल श्रद्धा ही उनके भ्रम का कारण हुई। वस्तुत: वेद, जो पूर्वोक्त प्रकार की हिंसा की शिक्षा देनेवाले हैं वैसी श्रद्धा तथा भक्ति के पात्र नहीं हैं जैसा स्वामीजी मान बैठे थे। हाँ, दुनिया की सबसे प्राचीनतम पुस्तकें होने के कारण; उन्हें प्राचीन हिन्दुओं की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था मालूम करने के लिये पढ़ सकते हैं। पर यह मान बैठना कि वैदिक धर्म ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है भारी भूल है। यदि स्वामीजी जान-बूझकर वेद-मंत्रों का अर्थ बदलते हों तो, यह उनके जैसे एक महाविद्वान् को शोभा नहीं देता। ग़लती तो किसमें नहीं है; पर ग़लतियों का स्वीकारपूर्वक सुधार करना ही यथार्थ पुरुषार्थ तथा नैतिक साहस का लक्षण है।

---

*स्वामी दयानन्द की वेद-विषयक धारणाएँ जानने के लिए इस परिच्छेद का अन्त देखिए।

आर्यसमाजी बाल्मीकीय रामायण को मानते हैं। पर जब उनको यह दिखाया गया कि राजा दशरथ के अश्वमेधयज्ञ में रानी कौसल्या ने स्वयं यज्ञा-दीक्षित अश्व का बध किया था तथा स्वयं रामचन्द्र तथा महारानी सीताजी ने उत्तरकाण्ड में वर्णित उपवन-विहार करते समय नाना प्रकार के मद्य-मांसों का सेवन किया था तो, वे चट कह बैठे कि अजी, यह सब बाममार्गियों की लीला है। उन लोगों ने ही हमारे पवित्र ग्रन्थों को कलुषित करने के लिए उनमें ऐसी-ऐसी गप्पें घुसेड़ दी हैं। पर बाम-मार्गवाले सिद्धान्त का खंडन मैं इसी परिच्छेद में पहले कर आया हूँ। देख लीजिए। सबको आप मना सकते हैं; पर हठी और दुराग्रहियों को नहीं। इसीलिए नीति-शास्त्र में कहा गया है—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञान-लव-दुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति ॥३॥
भ० नीतिशतकम् ॥

अर्थ—जो विचारे अनजान हैं उन्हें तो आप आसानी से मना सकते हैं। और जो विद्वान् हैं उन्हें तो आप और भी आसानी से मना सकते हैं। पर जो अधकचरे हैं उन्हें ब्रह्मा भी नहीं मना सकते।

अब यहाँ गो-चर्म के ऊपर कुछ कह देना चाहता हूँ। आधुनिक हिन्दू जिस घृणा की दृष्टि से गो-चर्म को देखते हैं उस दृष्टि से उनके पूर्वज नहीं देखते थे। वे तो उसका उपयोग पवित्र से भी पवित्र अवसरों पर किया करते थे; यहाँ तक कि, जैसे अभी पहले कहा गया है, सोमलता को गो-चर्म पर ही रखकर वे उसे पत्थर से कूटते और उसका रस निकालते थे। गृह्यसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि विवाह जैसे पवित्र कृत्य के अवसर पर भी गो-चर्म से काम लिया जाता था। पारस्कर-गृहसूत्र के विवाह-प्रकरण में लिखा है—

'तां दृढ़ः पुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वानुगुप्तागारे अनुडुहोरोहिते चर्मण्युपवेशयति' । अर्थ—उस कन्या को कोई हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति उठाकर (विवाह-मंडप से) पूर्व वा उत्तर की ओर (स्थित) किसी सुरक्षित गृह में लाल बैल के चमड़े पर बैठा देवे। कोई-कोई 'प्रग्वोदग्वानुगुप्तागारे' का अर्थ 'पूर्व वा उत्तर से आच्छादित गृह' करते हैं।

'दशकर्म पद्धति' नामक संस्कार-ग्रन्थ में भी यही बात लिखी है—'अथ वधूँ बलवान् कश्चिद्ब्राह्मण उत्थाप्य प्रागुदग्वानुगुप्तागारे लोहितानडुहचर्म्मणि प्रतिलोमास्तीर्णे उपवेशयेत्वरोवा ।'' अर्थ—तत्पश्चात् कोई बलवान् ब्राह्मण अथवा वर वधू को उठाकर पूर्व वा उत्तर की ओर किसी गुप्त घर में लाल रंग के बैल की खाल उल्टा बिछाकर उस पर उसको बैठा देवे।

'पारस्कर गृह्यसूत्र' तथा 'दशकर्म पद्धति' में यह कृत्य कन्या के पिता के घर पर ही करने को लिखा है। पर 'आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र' में वर को यह कर्म वधू को अपने घर ले जाकर करने को लिखा है—"लोहितं चर्म्मानडुहं प्राचीन-ग्रीवमुत्तरलोम मध्येऽगारस्योत्तरयास्तीर्य गृहान्प्रपादयन्नुत्तरां वाचयति दक्षिणेन पदा' ॥६।८॥ अर्थ—वर अपने घर में प्रवेशकर जो कमरा पति-पत्नी के निवास का हो, उसके बीच में लाल बैल की खाल को, जिसका शिरोभाग पूर्व की ओर हो और रोम ऊपर को हों, बिछाकर दहने पग से वधू को उसमें ले जाए। पुनः आगे चलकर लिखा है—"परि षेचनान्तं कृत्वोत्तरया चर्मण्युपविशत उत्तरोवरः ॥६।१०॥ अर्थ—वहाँ पर अग्न्याधान से लेकर परिषेचन पर्यन्त कर्म करके वर और वधू दोनों उस खाल पर पूर्वाभिमुख बैठें। उत्तर में वर और दक्षिण में वधू बैठे।

पारस्कर गृह्यसूत्रों का अध्ययन करने से कुछ ऐसी भी विचित्र बातें पाठकों को मालूम होंगी जिसे पढ़कर वे चौंक उठेंगे और प्राचीन

हिन्दुओं के सभ्य होने में शंका करेंगे। उदाहरणतः स्नातक लोग मल-त्याग के बाद आबदस्त न लेकर केवल एक सूखे काठ वा ढेले से गुदा को पोंछ देते थे। लिखा है—'प्रशीर्णेन काष्ठेन गुदंप्रमृजोत। इस पर पं० वेणीराम शर्माजी की संस्कृत-विवृति पढ़िए—'यत्नं विना पतितेन अयज्ञिय काष्ठेन गुदं प्रोञ्छेत्। एनच्च लोष्ठादीनामप्युपलक्षणम्' (पृ० ११३); अर्थात् इस प्रकार के अयज्ञिय सूखे काठ से, जो आप से आप वृक्ष से गिरा हो, स्नातक अपने गुदा को पोंछ लेवे। काष्ठ कहने से ढेला आदि भी ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह कि उक्त प्रकार के सूखे काठ के अभाव में ढेले आदि से भी काम चला लेना चाहिए। कोई-कोई अपने पूर्वजों के इस दुर्गुण को छिपाने के लिए यह कह देते हैं कि स्नातक लोग सूखे काठ वा ढेले से गुदा को पोंछ लेने के बाद उसे जल से सफ़ा कर देते थे। पर मुझे प्राचीन ग्रन्थों में इसका प्रमाण कहीं पर नहीं मिला।

कल्पसूत्रों के अध्ययन करने से प्राचीन हिन्दुओं तथा आस्तिकमन्य कतिपय आधुनिक हिन्दुओं के महाअन्धविश्वासी तथा अपने बहुमूल्य समय को वृथा नष्ट करनेवाले होने में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता। नाना प्रकार के यज्ञों तथा संस्कारों के सम्पादन करने में वे कितना निरर्थक तूल किया करते थे; कितने कपोल-कल्पित देवताओं की मंत्रों के द्वारा प्रार्थना किया करते थे तथा कितनी सामग्रियों को इकट्ठा करते थे कि जिसका ठिकाना नहीं। मालूम होता था कि मानों दुनिया में उन्हें और कुछ करना है ही नहीं। उदाहरण के लिए गर्भाधान को लीजिए। पारस्कर-गृह्यसूत्र में लिखा है—

'प्रजाकामः दक्षिणेन पाणिना ऊरू प्रसार्य प्रजास्थानभिमृशति पूषा भगँ-सविता मे ददातु, इत्यादि। अर्थ—सन्तान चाहनेवाला अपने दहने हाथ से स्त्री की जंघों को पसारकर उसकी जननेन्द्रिय को 'पूषा भगँ-सविता मे ददातु' इत्यादि मन्त्र का जाप करता हुआ मले।

पुनः आगे चलकर लिखा है—'प्राङ्मुख उदङ्मुखो वोप विष्टो मन्त्रे द्रतो मूत्रमिति चैके स्रावणं कुर्यात्।' अर्थ—पूर्व वा उत्तर की ओर मुँह किए हुए बैठकर 'रेतो मूत्रम्' इत्यादि मंत्र का जाप करता हुआ मैथुन करके वीर्य-क्षरण करे। गर्भाधान-संस्कार क्या है मानो पूरा कोकशास्त्र है। प्राणियों की, मैथुन में, स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मैथुन करते समय किसी देवता का मन्त्र जपने से क्या लाभ? यदि कहो कि ऐसा करने से उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है तो ऐसे प्रलाप करनेवालों से क्या मैं पूछ सकता हूँ कि वशिष्ठ, पराशर; वेद-व्यास, भरद्वाज, गौतम, ऋष्यशृंग, अगस्त्य, मांडव्य, आदि महर्षियों के गर्भाधान काल में, जिनकी उत्पत्ति मैं पहले लिख आया हूँ तथा जिन्हें आज भी यह हिन्दू जाति परमपूज्य मानती है, किस संस्कार-विधि का पालन किया गया था? इसी प्रकार का एक मूर्खता-पूर्ण संस्कार सीमन्तोन्नयन है जिसमें पति कुछ मन्त्र बड़बड़ाता हुआ अपनी पत्नी का माँग गर्भ के छठे वा आठवें मास में काढ़ता है। भला कहीं इस स्त्रैणता का भी ठिकाना है! यज्ञों का भी यही हाल जानिए। वहाँ भी प्रत्येक यज्ञ कार्य के लिये अलग-अलग मंत्र है। गाय को दुहने के समय उनकी जाँघों को छान से बाँधने का मंत्र, उसके थन में बाछा लगाने का मंत्र, दूध दुहने का मंत्र, उसे जमाकर दही और घी तैयार करने के मंत्र तथा अन्यान्य कार्यों के मंत्र दिए गए हैं।

स्वामी दयानन्द और अन्ध-विश्वास

स्वामी दयानन्द तथा उनके चेले अपने को अन्धविश्वास से पूर्णतः मुक्त मानते होंगे। पर स्वामीजी कृत 'संस्कार-विधि', 'पंचयज्ञ महाविधि' तथा वेदों के भाष्य पढ़ने पर आपको मालूम होगा कि वे मूर्खतापूर्ण रूढ़ियों में सनातनियों की अपेक्षा कुछ भी कम नहीं फँसे हैं। स्वामीजी ने अपने चेलों से देव-मूर्त्तियों की जगह ओखली, मूसल, पटेला, छुरा आदि को पुजवाकर ही छोड़ा

स्वामी दयानन्द और नियोग

है। इतना ही नहीं; आपने उन्हें नियोग जैसे 'पशु-धर्म्म' में भी फँसाने का बीड़ा उठाया और इसे सिद्ध करने के लिए यद्यपि महाभारत में काफ़ी सबूत है, पर आपने उन्हें छोड़ सीधे वेदों तक दौड़ लगाई और उनके कतिपय मंत्रों के मुह में थप्पड़ लगा और उनके कान ऐंठ उनसे अपनी बात कहवानी चाही जो सरासर झूठ थीं। उदाहरणतः आपको ऋग्वेद के यम-यमी सम्वादान्तर्गत "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" इस वाक्य में 'मुनिहिं हरि अरी सूझ' की तरह नियोग का प्रमाण मिला, यद्यपि वास्तव में वहाँ नियोग का गन्ध-मात्र भी नहीं हैं। वहाँ तो यमी (बहन) अपने भाई (यम) के साथ प्रसंग करने का प्रस्ताव करती है; पर यम इसे पाप-कर्म बता यमी को, उक्त मंत्र में किसी पुरुषान्तर के साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेने का उपदेश देता है। यदि स्वामीजी को उक्त सम्वाद में नियोग का भ्रम हुआ तो यह भ्रम आप के वेद-विषयक छिछले ज्ञान (Superficial knowledge) का भंडाफोड़ कर देते हैं और यदि जान-बूझकर अपने-अपने चेलों को गुमराह किया तो आप जैसे एक सुधारक को यह शोभा नहीं देता। भारत में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राम मोहन राय प्रभृति कतिपय समाज-सुधारक हुए, पर इन लोगों ने भूलकर भीं नियोग का नाम तक नहीं लिया; भले ही ये विधवा-विवाह के समर्थक तथा प्रचारक हुए और ब्रिटिश सरकार के द्वारा इसके लिए कानून भी बनवाया। वर्त्तमान काल में किसी भी सभ्य-मन्य देश में नियोग नहीं देख पड़ता; न मालूम स्वामी जी को इस पशु धर्म में इतनी दिलचस्पी क्यों हुई। उक्त मंत्र में पति शब्द आया है और पति के साथ नियोग नहीं होता।

स्वामी दयानन्द की यह धारणा थी कि वेद निःशेष विद्याओं की जड़ हैं। इसी मिथ्या धारणाके वशीभूत होकर, सर्वत्र पीला

स्वामी दयानन्द और वेद

ही पीला देखनेवाले पाण्डु-रोगी की तरह, आपने रेल, तार आदि विद्याओं को भी वेदों में देख ली। और ऋग्वेद के "युवं पेदवे पुरुवार मश्विना" इत्यादि (ऋ० मं १, सूक्त ११८ मंत्र ९) इस मंत्र की कपोल-कल्पित व्याख्याकर इसमें से तार-विद्या घसीट निकाली। यदि वेद निःशेष विद्याओं की जड़ हैं तो तार-विद्या की तरह आप ने सिनेमा, ग्रामोफोन, लाउड-स्पीकर, रेडियो, टेलीविज़न आदि विद्याओं का भी पता वेदों में से क्यों नहीं खोज निकाला? वास्तविक बात तो यह है कि आप के समय में ही भारत में तार और रेल का प्रचार हो चुका था; अतः उन्हीं को देखकर उक्त वेद मंत्र में आए हुए 'तरुवारं' आदि शब्दों के बल पर आपने तार विद्या की कल्पना कर ली। पर चूँकि सिनेमा आदि विद्याओं का प्रचार आप के समय तक नहीं हुआ था; अतः आपने इन विद्याओं के विषय में कान तक भी नहीं पटपटाए; अन्यथा इन्हें भी आप वेदों के किसी कोने में स्थान देकर कितने मंत्रों की मिट्टी पलीद जरूर कर दिए होते।

इसका, आपका एक चेला यह कहकर, प्रतिवाद करता है कि प्राचीन भारत में विमान आदि यंत्रों का प्रचार अवश्य था जैसा कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में लिखा पाते हैं और यह तो दस्तूर की बात है कि जब किसी वस्तु का प्रचार बन्द हो जाता है तो तत्सम्बन्धित शब्दों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगता; पुनः वैसी वस्तु जब सामने आती है तो उक्त शब्दों का यथार्थ अभिप्राय समझ में आ जाता है। यदि ऐसी बात है तो सिनेमा आदि विद्याओं का पता, जिनका प्रचार आज घर-घर देखने में आता है, आपके चेले अथवा कम से कम उनमें से वे जो अपने को वैदिक अनुसन्धानों के विद्वान् (Vedic Research Scholars) होने का दम भरते हैं, वेदों में से खोज-

कर क्यों नहीं बतला देते ? यह तो हुई एक बात। दूसरी बात यह है कि यदि पदार्थ को देखे बिना तद्बोधक शब्दों का ठीक अर्थ स्फुरित नहीं होता तो स्वामी जी का किया हुआ केवल उन्हीं वेद मंत्रों का भाष्य ठीक है जिनमें आप की देखी हुई वस्तुओं के सदृश वस्तुओं का वर्णन है; पर आपका किया हुआ अन्य वेद मंत्रों का भाष्य, जिनमें सिनेमा आदि विद्याओं का वर्णन है, संदिग्ध है; क्योंकि आपने सिनेमा आदि नहीं देखा था और चूँकि इन मंत्रों को छाँट-कर अन्य मंत्रों से अलग करना असंभव है; क्योंकि इसका पता नहीं है कि किन मंत्रों में सिनेमा आदि का वर्णन है और किनमें नहीं है; अतः इस अनिश्चयता के कारण आप का किया हुआ सारा वेद् भाष्य संदिग्ध एवं अमान्य है। यही कारण है कि आपके भाष्य को केवल आपके चेले ही मानते हैं, अन्य नहीं। इसके अतिरिक्त मैं यह कभी भी मानने को तैयार नहीं कि प्राचीन भारत-वासी विमान बनाना जानते थे। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में विमानों का वर्णन या तो कवियों की कोरी कल्पनाएँ हैं, या नहीं तो उनके बनाने वाले अभारतीय थे जिन्हें देवता और असुर कहा गया है।

स्वामी दयानन्द और वेदों में इतिहास

स्वामी दयानन्द का वेद-सम्बन्धी एक और भी विचित्र मत था। वे कहते थे कि वेदों में इतिहास कहीं भी नहीं है। वेद शब्द से आपका अभिप्राय संहिता-त्रयी (ऋक्, यजुस् और सामन्) से था। इस विषय में आपका यह तर्क था कि यदि वेदों में इतिहास मिल गया तो वे कदापि नित्य नहीं माने जा सकते; क्योंकि इस दशा में वेद उनमें लिखित इतिहासों से पहले के कदापि नहीं हो सकते। यदि वेदों को नित्य मानते हो तो उनमें इतिहास मत मानो और यदि उनमें इतिहास मानते हो तो उन्हें नित्य मत मानो। आप का कथन है कि वेदों में आए हुए व्यक्ति

वाचक जैसी दीख पड़ने वाली संज्ञाएँ कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं जिनसे किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन समझा जाए; बल्कि वे सब की सब यौगिक हैं। ये शब्द आदि में धात्वर्थक थे और उन सभी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते थे जिनसे उनके अर्थों की झलक निकलती थी। बाद में वे ऐतिहासिक रूप धारणकर व्यक्ति-वाचक संज्ञाएँ बन गए। इसके सबूत में आप शतपथ ब्राह्मण के आठवें काण्ड में की हुई वसिष्ठ आदि नामों की व्याख्या पेश करते हैं जिसके अनुसार वसिष्ठ का अर्थ प्राण; विश्वामित्र का अर्थ कान और भरद्वाज का अर्थ मन है। माना कि किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए शतपथ कार ने वसिष्ठ आदि शब्दों में उक्त अर्थों की कल्पना कर ली हो; पर सर्वत्र ऐसी ही कल्पना करना अनुचित होगा। और नहीं; यदि वेदों में आए हुए वसिष्ठ आदि शब्द सचमुच यौगिक है तो वसिष्ठ, विश्वामित्र, नहुष, इला, पुरुरवा, उर्वशी आदि की कथाओं की क्या गति होगी और दाशराज्ञ युद्ध कहाँ हवा खाने जाएगा ? यदि कहो कि ये कथाएँ रूपक हैं तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि वैदिक कथाएँ रूपक हैं तो उक्त ऋषियों को रामायणीय तथा महाभारतीय कथाएँ रूपक क्यों नहीं और इसी प्रकार हमारा सारा ऐतिहासिक साहित्य रूपक क्यों नहीं ? परन्तु इस तरह किसी भी जाति के सारे इतिहास को रूपक मान लेना अन्याय है। सायण, रामानुज, स्कन्द स्वामी, भट्टभास्कर, शंकर, वल्लभ, यास्क आदि सभी आचार्य वेदों में इतिहास मानते हैं। दूसरे धर्म्मावलंबियों के अनुकरण में, जो अपने-अपने धर्म्म ग्रन्थों को नित्य तथा ईश्वर-कृत मानते हैं वेदों को नित्य तथा अपौरुषेय मानने से कोई लाभ नहीं। वेदों को अनित्य और पौरुषेय मानने से भी उन पर हिन्दू जाति की श्रद्धा ठीक वैसे ही अक्षुण्ण रह सकती है जैसे कि अनित्य और पौरुषेय रामायण, महाभारत और भगवद्गीता पर।

अब प्रसंग-प्राप्त, वेद पौरुषेय हैं वा अपौरुषेय, इस विषय पर कुछ प्रकाश डालकर इस परिच्छेद को समाप्त करता हूँ। मनुष्य-कृत को पौरुषेय और अमनुष्य (ईश्वर) कृत को अपौरुषेय कहते हैं। स्वामी दयानन्द सरीखे कतिपय जीवों की धारणा है कि वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरकृत हैं। पर स्वयं वेद ही इस कपोल कल्पना को 'मुद्दई सुस्त पर गवाह चुस्त' वाले मसले की तरह, समूलोच्छिन्न कर देते हैं। आप किसी भी वेद-मंत्र को लीजिए; आप को साफ़ मालूम हो जाएगा कि कोई प्रार्थी जीव उक्त मंत्र के द्वारा अपने इष्ट देव से किसी वस्तु की याचना कर रहा है। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र के द्वारा बुद्धि की प्रेरणा माँगी गई है। इसी प्रकार ऋ० ३।६२।३ के द्वारा धन, पुत्र और गृहादि शरण स्थान; ऋ० ३।६२।११ के द्वारा पुनः धन; ऋ० ३।६२।१४ के द्वारा दो पैर वाले (भृत्य) चार पैर वाले (गो-आदि पशु) एवं रोगरहित अन्न तथा ऋ० ३।६२।१५ के द्वारा आयु की वृद्धि और शत्रु का नाश इत्यादि अभिलषित पदार्थ माँगे गए हैं। और तो और, यजुर्वेद, अध्याय ३०, मंत्र ३ के द्वारा अपने सभी दुःखों और दुर्गुणों के नाश और कल्याण-कारी पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है। ईश्वर को किस वस्तु की कमी है जो उक्त पदार्थों की भीख किसी से माँगेगा? अतः अवश्य ही उक्त प्रार्थनाएँ मनुष्य की हैं; ईश्वर की नहीं। यदि कहो कि ईश्वर उक्त मंत्रों के द्वारा हमें प्रार्थना करने का ढंग बतलाता है तो यह ठीक नहीं; कारण कि इस दशा में वेदों की रचना भगवद्गीता की तरह श्रोता-वक्ता के सम्वाद के रूप में हुई होती। वस्तुतः प्रार्थना करने वाले मंत्र-कर्त्ता ऋषि हैं जिन्हें 'मंत्र-द्रष्टा' कहा जाता है। इन ऋषियों के लिए लौकिक तथा वैदिक साहित्य में मंत्रकृत, संस्कार, आदि शब्द अनेक जगह प्रयुक्त हुए हैं।

वेद पौरुषेय हैं वा अपौरुषेय

पंचम परिच्छेद

सामर्थ्य और दोष

अपने प्रातःस्मरणीय तथा परमपूज्य वशिष्ठ, पराशर, भरद्वाज, विश्वामित्र, व्यास आदि प्राचीन महर्षियों, एवं सर्वशक्तिमान् तथा षड़ैश्वर्य्य सम्पन्न माने जानेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि पौराणिक देवताओं, तथा दशरथ, शान्तनु, धृतराष्ट्र, पाण्डु, युधिष्ठिर आदि बड़े-बड़े प्राचीन राजाओं, और अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती आदि जैसी प्रसिद्ध ऋषिपत्नियों और राजमहर्षियों के ऊपर चरित्र दोष का आक्षेप होने पर धूर्तों के बहकाए हुए हमारे भोले भाई उक्त पूज्य व्यक्तियों के बचाव में चट यह कह उठते हैं कि सुनो वे समर्थ प्राणी थे; उनमें दोष कैसा ? उनमें दोष लगाना महापाप है। हमारे जैसे पामर जीवों की अल्प बुद्धि में उनके आचरण त्रुटिपूर्ण लगते हैं अन्यथा वे सर्वथा निष्कलंक हैं। हमारी क्षुद्र बुद्धि में इतनी शक्ति कहाँ कि वह उन्हें ठीक-ठीक समझ ले, हमारा उनके चरित्र में त्रुटि दिखाना 'छोटा मुँह बड़ी बात' वाली कहावत को चरितार्थ कराना है इत्यादि; और अपने इस उत्तर की पुष्टि में गोस्वामी तुलसीदासजी की वही सर्वश्रुत चौपाई 'समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥' की दुहाई दिया करते हैं। इस परिच्छेद में इस बात पर गवेषणापूर्ण विचार किया जायेगा कि समर्थ व्यक्तियों में चरित्र की त्रुटि दोष मानी जा सकती है या नहीं।

सर्वप्रथम गोसाईंजी की उक्त चौपाई पर ही विचार होना चाहिए जिससे यह मालूम हो जाए कि उनकी बातें कहाँ तक तर्क तथा

बुद्धि के अनुकूल हैं। इस चौपाई को उन्होंने देवर्षि नारद के मुँह से उस समय कहलवाया है जब उन्होंने शैलराजपुत्री उमा की हस्त-रेखा देखते हुए उनके भावी पति शिव के दोषों का वर्णन किया है और इस आशंका से कि शायद शैल-सम्राट् हिमालय अपने भावी जामाता के दोषों को सुनकर दुःखी तथा हताश न हो जाएँ, उन्हें सान्त्वना देने के लिए इसी प्रकार की और भी बातें कही हैं—

जो विवाह संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सबु कोई॥
जौं अहि सेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिनकर दोषु न धरहीं॥
भानु कृसानु सर्व रस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥
सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥
समरथ *कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥

अर्थ—नारद कहते हैं कि यदि उमा का विवाह शंकर से हो जाए तो (कोई हानि नहीं); क्योंकि सभी लोग उनके दोषों को भी गुण कहते हैं। विष्णु का सर्प-शयन पर सोना पंडितों की दृष्टि में दोष नहीं है। सूर्य और अग्नि में सभी प्रकार के भले-बुरे रस पचते हैं; पर उन्हें कोई भी दूषित नहीं कहता। गंगाजी अपने जल से भली-बुरी सभी चीज़ों को बहा ले जाती हैं, पर उन्हें कोई भी अपवित्र नहीं कहता। हे गोसाईं! समर्थ व्यक्तियों में सूर्य, अग्नि और गंगा की तरह दोष नहीं रहता।

अन्तिम चौपाई के 'नाईं' शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ समर्थ

---

*पर गोसाईं जी ने अपनी सतसई में निम्नलिखित दोहा लिख कर मानो उक्त चौपाइयों को वापस लेते हुए सभी को असमर्थ बना कर छोड़ दिया है जिससे सभी दोषी ठहरते हैं—

दो०—तुलसी यह जग आइके, कोउ न भयो समरत्थ।
इक कंचन है कुच, पै को न पसारेउ हत्थ॥

व्यक्तियों की तुलना गंगा-जल, सूर्य की धूप तथा आग से की गई है जो तत्तदाभिमानी देवताओं के जड़रूप हैं तथा जो जड़रूप वस्तुतः स्वयं ही सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। अतः यहाँ पर गोसाईं जी ने दो भूलें की हैं—(१) चेतन की तुलना जड़ से करना और (२) उस जड़ को सर्वथा निर्दोष मानना। हम लोग पूर्वोक्त महर्षियों तथा देवताओं आदि के चरित्र पर विचार करने चले हैं जो चेतन व्यक्ति हैं या माने जाते हैं और उनकी तुलना की जाती है जड़ पदार्थों से जिनके सम्बन्ध में चरित्र का कोई प्रश्न उठता ही नहीं। भले ही गंगा-जल, सूर्य की धूप तथा आग में दोष न माना जाए; पर चेतन व्यक्तियों के चरित्र में त्रुटि होने पर उनको समर्थ मानते हुए भी उनमें दोष अवश्य माना जाएगा। इतना ही नहीं; बल्कि सामर्थ्य के अनुपात से ही दोष का न्यूनाधिक्य समझा जाएगा। तात्पर्य यह कि किसी भी व्यक्ति में सामर्थ्य की मात्रा जितनी ही अधिक या कम होगी उसका दोष भी उतना ही अधिक या कम माना जाएगा; कारण कि सामर्थ्य की ह्रास-वृद्धि के साथ ही उत्तरदायित्व की ह्रास-वृद्धि होती है। यह एक ऐसा सर्वसम्मत-सिद्धान्त है जिस पर ननु-नच करने का किसी को अधिकार नहीं है। इस बात को सभी जानते और मानते हैं कि यदि कोई अबोध बालक या कोई विक्षिप्त मनुष्य किसी को गाली भी दे दे तो वह उनकी गाली की उपेक्षा यह कहकर कर देता है कि बालकों या पागलों को उचित अनुचित का विचार कहाँ ? और दूसरे लोग भी उसे यही कहकर सान्त्वना देते हैं कि जाने दो भाई ! यह तो अभी नादान बच्चा है या तो पागल है; इसकी गाली की परवाह करना ही पागलपन है इत्यादि। हमारे ताजिरात हिन्द में (Indian Penal Code) भी तो इसी का समर्थन है। उसकी निम्नलिखित धाराओं पर दृष्टिपात कीजिए—

82. Nothing is an offence which is done

by a child under seven years of age.

83. Nothing is an offence which is done by a child above seven years of age and under twelve, who has not attained sufficient maturity of understanding to judge of the nature and consequences of his conduct on that occasion.

84 Nothing is an offence which is done by a person who, at the time of doing it, by reason of unsoundness of mind, is incapable of knowing the nature of the act, or that he is doing what is either wrong or contrary to law.

85. Nothing is an offence which is done by a person who, at the time of doing it, is, by reason of intoxication, incapable of knowing the nature of the act, or that he is doing what is either wrong, or contrary to law: provided that the thing which intoxicated him was administered to him without his knowledge or against his will.

अर्थ—८२. सात वर्ष से कम अवस्थावाले बच्चे का कोई भी व्यापार अपराध नहीं है। ८३. सात वर्ष से ऊपर और बारह वर्ष के नीचे की अवस्थावाले ऐसे बच्चे का कोई भी व्यापार अपराध

नहीं है जिसकी बुद्धि इतनी परिपक्व नहीं है कि वह उस कार्य के करते समय अपने आचरण की प्रकृति और परिणाम समझ सके। ८४. ऐसे व्यक्ति का किया हुआ कोई भी व्यापार अपराध नहीं है जो उस व्यापार के करते समय विक्षिप्त होने के कारण अपने व्यापार की प्रकृति अथवा यह समझने में असमर्थ है कि जो कुछ वह कर रहा है वह अनुचित या कानून के विरुद्ध है। ८५. ऐसे व्यक्ति का किया हुआ कोई भी व्यापार अपराध नहीं है जो उस व्यापार के करते समय नशे में चूर होने के कारण अपने व्यापार की प्रकृति अथवा यह समझने में असमर्थ है कि जो कुछ वह कर रहा है वह अनुचित या कानून के विरुद्ध है; पर शर्त यह है कि वह नशीली वस्तु, बिना उसकी जानकारी वा इच्छा के विरुद्ध उसे दी गई हो।

अतः इस प्रकार न्यायपूर्वक विचार करने से यही सिद्धान्त निकलता है कि समर्थों को नहीं, बल्कि असमर्थों को ही दोष नहीं होता; समर्थों की तो बल-बुद्धि इतनी परिपक्व रहती है कि वे अपने आचरण की अच्छाई वा बुराई भली भाँति समझ सकते हैं, जिससे उनका यह एक अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने शुद्ध आचरण के द्वारा प्रकृत जनता के लिए एक अनुकरणीय आदर्श सदा बने रहें, क्योंकि साधारण लोग तो अपने पथ प्रदर्शकों का ही अनुसरण करते हैं। भगवद्गीता भी इसी सिद्धान्त का अनुमोदन करती है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥३।२१॥

अर्थ—एक माननीय व्यक्ति जो कुछ करता है उसी को दूसरे लोग भी करते हैं। और वह जो आदर्श खड़ा करता है उसी का अनुसरण जनता करती है।

समर्थ जीवों में सबसे पहले देवताओं की कोटि है; क्योंकि उन्हीं को हम लोग परमाराध्य, परमपूज्य तथा सर्वाभीष्ट फलप्रद मानते हुए उनके पवित्र नामों की रट इस विश्वास के साथ निरन्तर लगाए रहते हैं कि ऐसा करने से ही हमारी ताप त्रय से मुक्ति हो सकेगी तथा हमारे ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण का मार्ग भी निष्कंटक होगा। अतः सर्वप्रथम हमें इन देवताओं के आचरण का ही अध्ययनकर इस बात का निर्णय करना चाहिए कि यथार्थ में इनके आचार-व्यवहार इस प्रकार के थे कि ये समर्थ या हमारे आदर्श बनने के योग्य माने जा सकें। देवताओं में सर्वप्रधान ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं, जो त्रिमूर्त्ति कहलाते हैं। हिन्दू पौराणिकों का कथन है कि ये तीनों परमात्मा के ही अवस्था-भेद से तीन रूप हैं; अर्थात् एक ही परमात्मा जगत्स्रष्टा के रूप में ब्रह्मा, जगत्पालक के रूप में विष्णु तथा जगत्संहर्त्ता के रूप में महेश कहा जाता है। इन त्रिदेवों के विषय में पौराणिकों की कल्पना चाहे जो कुछ हो; पर सच पूछिए तो एक निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि में इनमें परमात्मा के कुछ भी लक्षण नहीं देख पड़ते। विष्णु महाराज तो एक पार्टी विशेष (देव-पार्टी) के नेतामात्र मालूम पड़ते हैं, जिन्हें अपने दल का अभ्युदय-साधन के लिए नीचातिनीच उपाय का भी आश्रय लेते हुए तनिक भी संकोच नहीं होता। असुरों का उत्पीड़न जब-जब देवगण पर हुआ तब-तब वे बुढ़ऊ बाबा ब्रह्मा-जी को लेकर विष्णुजी के दरबार में जा पहुँचे और उनको अपनी फरियाद सुना उनकी सहायता ली। विष्णु के बचाव में यदि यह कहा जाए कि परमात्मा सदा अच्छों का ही पक्ष लेता है; बुरों का नहीं, तो यह कथन सरासर अन्याय और पक्षपात से भरा है; कारण कि पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि देवताओं में भी बुरे से बुरे तथा असुरों में भी अच्छे से अच्छे व्यक्ति मौजूद थे। यह तो

स्वाभाविक है कि जब दो दलों में परस्पर वैमनस्य रहता है, तो वे एक दूसरे को कलंकित करते हैं। यदि देवताओं की दृष्टि में असुर बुरे थे तो असुरों की दृष्टि में भी देवता बुरे ही थे। पारसी जाति की धर्मपुस्तकों में असुर (अहुर) ही अच्छे और देवगण बुरे कहे गए हैं। अतः निष्पक्ष होकर न्याय करना चाहिए।

और देवताओं को तो अभी छोड़िए। सर्वप्रथम देवाधिदेव विष्णुजी के ही काले करनामों की सूची लीजिए। असुरों में राजा बलि एक बहुत ही प्रतापशाली तथा धर्मात्मा राजा हो गए हैं। इन्होंने अपनी दुर्द्धर्ष दैत्य सेना लेकर एक बार इन्द्र की राजधानी अमरावती (इन्द्रपुरी) को घेर लिया। देवगण इस दुर्दमनीय असुर-सेना का मुकाबला करने में अपने को असमर्थ जानकर अमरावती छोड़कर भाग गए और वह समृद्धिशालिनी विशाल देवनगरी बलि के हाथ लगी! बलि ने अपनी इस महाविजय के उपलक्ष में अश्वमेध-यज्ञ करना आरम्भ किया। देवताओं को अपनी हार पर महादुःख हुआ। तब विष्णु वामनरूप धारणकर बलि के उक्त यज्ञ में पहुँचे और उनसे भिक्षा-स्वरूप तीन पग पृथ्वी माँगने के बहाने से उनका सारा राज्य छल करके छीन लिया और उसे इन्द्र को दे दिया। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि विष्णु यदि सचमुच परमात्मा थे तो उन्हें इस प्रकार की ठगी करने की क्या जरूरत थी तथा उन्हों ने बलि जैसे उदारचित्त तथा धर्मात्मा का पक्ष न लेकर इन्द्र जैसे कपटी, कुटिल, इर्षालु तथा इन्द्रिय-लोलुप व्यक्ति का पक्ष क्यों ग्रहण किया? यह बात सभी पुराण-पाठकों को भली भाँति विदित है कि इन्द्र ने किस नीचता के साथ महर्षि गौतम की धर्म-पत्नी अहल्या का सतीत्व अपहरण किया था तथा वह किस प्रकार दूसरों की उन्नति को अपनी फूटी आँखों से न देख साधु-महात्माओं की तपस्या में विघ्न डाला करता

विष्णु

तथा चोर की तरह अश्वमेध के घोड़े को चुराया करता था। इसलिए तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसके बारे में लिखा है कि—"काक समान पाक रिपु रीती; छली मलीन कतहूँ न प्रतीती"; अर्थात् इन्द्र का तौर-तरीका काले कौए का-सा है ; वह छली है ; उसका हृदय मलिन है तथा किसी पर वह विश्वास नहीं करता। सच पूछा जाए तो बलि कि तुलना में इन्द्र उसके चरणों के धोअन-तुल्य भी न था; पर विष्णुदेव ने बलि की सारी सम्पत्ति छीनकर इन्द्र को दे दी और बेचारे बलि को रसातल में ढकेल दिया ! वाह रे अच्छों के पृष्ठ-पोषक हिन्दुओं के परमात्मा विष्णुदेव !

विष्णुजी की दूसरी काली करतूत समुद्र मन्थन के समय देखी गई। समुद्र-मन्थन में देवताओं और असुरों ने तुल्य ही परिश्रम किया था और यदि यथार्थ कहा जाए तो देवताओं की अपेक्षा असुरों को अधिक दुःख झेलने पड़े थे; कारण कि देवताओं ने मन्थन कार्य में मथानी भूत मन्दराचल में रस्सीवत् लिपटे वासुकि नाग को उसकी पूँछ की ओर, पर उनके विपक्षी असुरों ने उसे उसके मुँह की ओर पकड़ा था जिसका यह परिणाम हुआ कि विचारे असुरगण उन नाग के ज्वाला-मय फूत्कारों से बार-बार झुलस रहे थे। और जब इस प्रकार समुद्र-मन्थन से अमृत प्राप्त हुआ, तो विष्णु महाराज ने, इस भय से कि कहीं अमृत-पान कर लेने से विपक्षी असुरों का दल अजर-अमर न हो जाए, मोहिनी का रूप धारणकर अपनी मन्द मुस्कान तथा तिरछे चितवन से उन्हें इस प्रकार कामान्ध बना दिया कि उनकी सारी सुध-बुध जाती रही और उनके देखते-देखते देव-मंडली में मोहिनी-रूप-धारी विष्णु ने सारा अमृत बाँट कर पिला दिया। यहाँ पर मैं अपने पाठकों की जानकारी के लिए यह बतला देना चाहता हूँ कि विष्णु महाराज की सलाह से ही इन्द्रादिक देवगण समुद्र मथकर उसमें से अमृत निकाल लेने का प्रस्ताव लेकर दैत्येन्द्र बलि के पास

गए थे और बलि बेचारे सीधे-सादे साधु-स्वभाव के व्यक्ति थे जो देवताओं के छल-कपट को न समझकर उक्त प्रस्ताव पर उनके साथ सहमत हो गए थे। विष्णु किस प्रकार के चालबाज तथा कूटनीतिज्ञ नेता थे, वह श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ८, अध्याय ६, के निम्नलिखित श्लोकों से प्रकट होता है—

अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्य्यार्थ गौरवे ।
अहिमूषकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥२०॥
अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम् ।
यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरोभवेत् ॥२१॥

क्षिप्त्वा क्षीरो दधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वातु वासुकिम् ॥२२॥

सहायेन मयादेवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः ।
क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः ॥२३॥

यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः ।
न संरम्भेण सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा ॥२४॥

अर्थ—कार्य की सिद्धि कठिन देख पड़े तो अपना मतलब निकालने के लिए शत्रु से सन्धि उसी प्रकार कर लेनी चाहिए जिस प्रकार साँप ने चूहे के साथ कर ली थी ॥२०॥ अतः दैत्यों से मिलकर आप लोग अमृत निकालने का प्रयत्न शीघ्र करें जिसके पीने से मर प्राणी भी अमर हो जाता है ॥२१॥ आप लोग क्षीर-समुद्र में सभी वनस्पतियाँ, तृण, लताएँ तथा औषधियाँ डालकर एवं मन्दराचल को मथानी और वासुकि नाग को उस मथानी की रस्सी बनाकर मेरी सहायता से एकाग्रचित्त होकर उसे मथें। उसका फल, अर्थात् अमृत, आप लोगों को प्राप्त होगा और दैत्य लोग केवल परिश्रमरूपी क्लेश के भागी होंगे; अर्थात् वे अमृत न पी सकेंगे ॥२२-२३॥ हे देवगण !

इस समय असुरगण जो जो इच्छा करें उन सब में आप लोग सहमत हो जाइए; क्योंकि सभी कार्य लड़ाई करने से ही नहीं सिद्ध होते; कभी-कभी मेल से भी काम निकाला जाता है और मेल से जैसा काम बनता है वैसा झगड़े से नहीं बनता ॥२४॥

ये वचन देवताओं के प्रति विष्णु महाराज के हैं जिनसे उनकी विलक्षण कूटनीतिज्ञता तथा स्वार्थपरायणता फूट-फूटकर निकलती हैं। चूहे ने अपने शत्रु साँप के उसे नहीं खाने के वचन पर विश्वास-कर पेटी में छेद कर दिया और वह विश्वासघाती साँप उस चूहे को खाकर उसी छेद से निकल गया। विष्णु की इस कूटनीति का अभिप्राय यह था कि पहले दैत्यगण जो-जो बातें कहें उन्हें मान ली जाए; पीछे तो उन्हें बुद्धू बनाकर अपना उल्लू सीधा ही किया जाएगा। यदि दानवों के विरुद्ध और देवताओं के पक्ष में यह कहा जाए कि दानवों का मोहिनी के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो जाना ही उनके अमृत से वंचित हो जाने का कारण था, और चूँकि देवगण उसके माया-जाल में नहीं फँसे अतः वे अमृत प्राप्त करने में सफल हुए, तो इस आक्षेप का खंडन इस प्रकार हो जाता है कि जिस भुवन-मोहिनी मोहिनी की अनुपम छटा पर स्वयं भगवान् शंकर, जिन्होंने कामदेव को जलाकर खाक कर दिया था, न केवल आसक्त हो गए, बल्कि उस त्रिभुवन सुन्दरी को पकड़ने के लिए इस प्रकार कामान्ध होकर उसके पीछे-पीछे दौड़े कि जहाँ-जहाँ वे गये वहाँ-वहाँ उनका वीर्य्य, ऋतुमती हथिनी के पीछे-पीछे दौड़नेवाले कामोन्मत्तगजराज की तरह, स्खलित होता गया, उसी विशाल नितम्बिनी तथा पीनस्तनी सर्वाङ्ग सुन्दरी नारी के सामने बेचारे दैत्यगण किस खेत की मूली थे, और विष्णु ने तो देवताओं की ही स्वार्थ सिद्धि के लिए यह माया रची थी, अतः उन पर उसका प्रभाव कुछ भी न हुआ। वे उसके जादू से बाल-बाल बच गए।

विष्णु ने अपनी काली करतूतों का सर्वश्रेष्ठ नमूना उस समय दिखलाया जब वे असुरेन्द्र जलन्धर की स्त्री वृन्दा का सतीत्व अपहरण करने में तनिक भी नहीं हिचके। उसको वरदान था कि जब तक उसकी स्त्री का सतीत्व अक्षुण्ण बना रहेगा, तब तक उसे कोई भी मार नहीं सकेगा। पर वह इतना अत्याचारी निकला कि उसके वध के लिए विष्णु को परस्त्रीगमन जैसे घृणित उपाय का आश्रय लेना पड़ा। रुद्र-संहिता, युद्ध खंड, अध्याय २०, में लिखा—

विष्णुर्जालन्धरं गत्वा दैत्यस्य पुटभेदनम्।
पातिव्रतस्य भंगाय वृन्दायाश्चाकरोन्मतिम्॥

अर्थ—विष्णु ने जलन्धर दैत्य की राजधानी जाकर उसकी स्त्री वृन्दा का पातिव्रत्य नष्ट करने का विचार किया।

इधर शिव जलन्धर के साथ युद्ध कर रहे थे और उधर विष्णु महाराज ने जलन्धर का वेष धारणकर उसकी स्त्री वृन्दा का सतीत्व नष्ट कर दिया, जिससे वह दैत्य मारा गया। जब वृन्दा को विष्णु का यह छल मालूम हुआ, तो उसने विष्णु से कहा—

धिक् तदेवं हरे शीलं परदाराभिगामिनः।
ज्ञातोऽसि त्वं मयासम्यङ् मायी प्रत्यक्ष तापसः॥

अर्थ—हे विष्णु! पराई स्त्री के साथ व्यभिचार करनेवाले तुम्हारे ऐसे आचरण पर धिक्कार है। अब तुमको मैं भली भाँति जान गई। तुम देखने में तो महासाधु जान पड़ते हो; पर हो तुम मायावी, अर्थात् महाछली।। पुनश्च—

रे महाधम! दैत्यारे! परधर्मविदूषक।
गृह्णीष्व शठ! मद्दत्तं शापं सर्वविषोल्वणम्॥

अर्थ—अरे दैत्यों के शत्रु तथा दूसरे का धर्म बिगाड़नेवाले महानीच शठ! मेरे दिए हुए परम विषाक्त शाप को अंगीकार कर।

शाप का विवरण सभी को मालूम है। इसी शाप के वश सम्बन्धित कल्प के रामावतार में जलन्धर ने रावण होकर राम (विष्णु) की स्त्री सीता का हरण किया था। यह है करतूत हिन्दुओं के परमाराध्य देव परमात्मभूत श्रीविष्णुजी महाराज का, जिनसे बढ़कर छली, कपटी, मायावी तथा दुराचारी मानव-कल्पना के बाहर है। यदि विष्णु को बचाव में यह कहा जाए कि यदि उन्होंने नित्य-नित्य अनेक स्त्रियों के सतीत्व लूटनेवाले जलन्धर जैसे आततायी का बध करने के लिए उसकी स्त्री का सतीत्व नष्ट कर ही दिया, तो इसमें कौन-सा पाप किया ? बल्कि ऐसाकर उन्होंने तो एक महापुण्य का काम किया; क्योंकि एक स्त्री का सतीत्व नष्टकर उन्होंने असंख्य स्त्रियों के सतीत्व को सुरक्षित कर दिया। पर प्रश्न यह उठता है कि क्या विष्णु के पास कोई दूसरा उपाय न था ? यदि विष्णु सचमुच घटघट व्यापी सर्वशक्तिमान् परमात्मा रहते, तो वे अपनी प्रेरणामात्र से ही जलन्धर का अन्तःकरण शुद्धकर उसे दुर्जन से महासज्जन बना देते। उन्हें इस प्रकार की लम्पटता करने की ज़रूरत न होती। आश्चर्य और शोक तो इस बात पर है कि हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, जलन्धर, रावण, वाणासुर, तारक आदि जितने प्रसिद्ध असुर हो गए हैं उन्हें वरदान देकर उद्धत तथा दुर्द्धर्ष बनानेवाले ये त्रिदेव महाराज ही थे और फिर इन्हीं लोगों को उन असुरों के असह्य अत्याचारों से संक्षुब्ध होकर उन्हें किसी न किसी उपाय से, चाहे वह उपाय भले ही घृणित क्यों न हो, मारना पड़ता था। यदि सचमुच ये त्रिदेव त्रिकालज्ञ परमात्मा के रूप होते तो उन्हें अपनी त्रिकालज्ञता के कारण इस बात का पूर्वज्ञान अवश्य हो जाता कि ये असुर जिन्हें वे वरदान देने चले हैं उनके वरदान का असदुपयोग भविष्य में अवश्य करेंगे और ऐसा जानकर, यदि उनके दिमाग़ मुबारक में कुछ भी अक़्ल होती, तो उन्हें इस प्रकार के अजेय तथा

महाद्धत बनानेवाले वरदान कभी न देते, जिनसे लाचार होकर अन्त में उन असुरों का बध करने के लिए उन्हें किसी पापमय उपाय का आश्रय लेना पड़ता। यदि त्रिदेवों की इच्छामात्र से ये असुरगण दुर्द्धर्ष हो सकते थे तो उनकी इच्छामात्र से ही ये सदाचारी भी हो सकते थे।

शिव

त्रिदेवों में प्रधानता को दृष्टि से विष्णु के बाद शिव का ही स्थान है; कारण कि भारतवर्ष में विष्णु के बाद शिव के ही भक्तों, तीर्थस्थानों तथा मन्दिरों की संख्या देखने में आती है। पर बुढ़ऊ बाबा ब्रह्माजी से विशेष सम्बन्ध रखनेवाला न कोई भक्त ही दीख पड़ता, न कोई मन्दिर ही तथा न कोई तीर्थस्थान ही। यदि ब्रह्माजी से सम्बन्ध रखनेवाला कोई तीर्थस्थान (जैसा कि पुष्कर) हो भी, तो वह अप्रसिद्धि के कारण किसी गणना के योग्य नहीं। अतः त्रिदेवसामर्थ्य-वर्णन प्रसंग में वे फीसी में रखे गए।

अब शिव के सामर्थ्य पर ज़रा गौर कीजिए। जैसा कि इस परिच्छेद में कहा गया है, बाबा भोलानाथजी के सामर्थ्य की क़लई तो तभी खुल गई जब वे दैत्यों से छल करके अमृत ले लेनेवाली मोहिनी के कामीजनों को पागल बना देनेवाला रूप-लावण्य पर अपना सारा विवेक खो दिया। यदि पाठकों को भगवान् शङ्कर की तत्कालीन दयनीय अवस्था का चित्र देखना हो तो श्रीमद्भागवत, स्कन्द ८, अध्याय १२, देखने का कष्ट करें। जब बाबा विश्वनाथ ने सुना कि विष्णु ने मोहिनी का रूप धारणकर दैत्यों से अमृत ठग लिया है, तो उन्हें उनका रूप देखने की इच्छा हुई और वे झट नन्दीश्वर की पीठ पर सस्त्रीक सवार होकर सीधे वैकुण्ठ लोक में पहुँच गए और विष्णु से अपनी इच्छा प्रकट की। विष्णु शिव की

अभिलाषा पूरी करने के अभिप्राय से शीघ्र अदृश्य हो गए और एक उपवन में गेंद उछाल-उछालकर क्रीड़ा करती हुई मोहिनी दीख पड़ी। उस कामिनी के तीर जैसे तीक्ष्ण कटाक्षों की विषम चोट खाकर महादेव हतबुद्धि हो गए और दौड़कर उसे पकड़ा और अपने हृदय से लगा लिया। पर वह उनके बाहु-पाश से अपने को छुड़ाकर भाग निकली। श्रीमद्भागवत के उक्त स्थान पर लिखा है—

आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात् ।
प्राद्रवत्सापृथु श्रोणी माया देवविनिर्म्मिता ॥३०॥

तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्म्मणः ।
प्रत्यपद्दतकामेन वैरिणेव विनिर्जितः ॥३१॥

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः ।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनु धावतः ॥३२॥

अर्थ—हे महाराज! तदनन्तर देवों में श्रेष्ठ शंकर के दोनों भुजाओं के बीच से अपने को छुड़ाकर वह नारायणनिर्मिता विपुल नितंबिनी माया (मोहिनी) भाग चली ॥३०॥ अपने वैरी कामदेव से मानो परास्त होकर महादेवजी भी विचित्र चरित्रवाले विष्णु के मायामय मोहिनी रूप के पीछे-पीछे दौड़ने लगे ॥३१॥ पीछा करते-करते ऋतुमती हथिनी के अनुगामी हाथी की तरह अमोघ-वीर्य महादेव का वीर्य स्खलित होने लगा ॥३२॥

वीर्य के स्खलित होने के बाद महादेव का चित्त शान्त हुआ और उन्हें अपनी दशा पर पश्चात्ताप हुआ। ठीक है; यह तो प्राकृतिक नियम ही है कि वीर्यस्खलित के बाद काम का वेग निवृत्त हो जाता है और चित्त स्थिर हो जाता है। शोक और आश्चर्य तो इस बात को देखकर होता है कि महर्षि व्यास की जिस अमर लेखनी ने इन त्रिदेवों की बड़ाई गाते-गाते इनकी ईश्वरीय महिमा का पुल बाँध

दिया, फिर उसी लेखनी ने उन्हें नैतिक पतन के एक महागर्त्त में ढकेलकर उन्हें रसातल तक पहुँचा भी दिया। धन्य है रे व्यास तेरी लेखनी जो इन त्रिदेवों के पूर्णतः परस्पर विरोधी दो प्रकार के चरित्रों का चित्रण करते समय तनिक भी नहीं हिचकी !! यदि ये सचमुच एक ही परमात्मा के कार्यवश तीन भिन्न-भिन्न रूप मात्र हैं, तो वे पामर जीवों की तरह कामादि चित्त-विकारों के गुलाम कैसे बन गए ? यदि ये वस्तुतः समर्थ हैं, तो उनमें मनोनिग्रह की शक्ति क्यों नहीं ! ये कुछ ऐसे प्रश्न हम लोगों के हृदय में आपसे आप उठ जाते हैं जिनका सन्तोषजनक उत्तर मिलना कठिन हो जाता है।

ब्रह्मा

पर त्रिदेवों में बाजी मार ली फाँसी में रखे गए हमारे वृद्ध पितामह ब्रह्मा बाबा ने ही, जब उन्होंने कामोन्मत्त होकर अपनी ही पुत्री पर धावा बोल दिया और तभी से रतिनाथ कुसुमायुध को 'कंदर्प' नाम का भागी भी बना दिया; क्योंकि व्याकरणानुसार 'कंदर्प' शब्द की व्युत्पत्ति यों होती है—कं (ब्रह्माणं)दर्पयति (उन्मादयति) इति कन्दर्पः, अर्थात् जो ब्रह्मा को भी पागल बना देता है वह कन्दर्प है। कंदर्पः* = क + दृप् + णिच् + खच् + मुम्। आप्टे महाशय के संस्कृत-अंग्रेज़ी कोष में 'ब्रह्मन' शब्द के विविध अर्थ देते हुए लिखा है—

Mythologically Brahman is represented as being born in a lotus which sprang from the navel of Vishnu, and as creating the world by an illicit connection with his

*कंदर्प शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है। यहाँ की हुई व्युत्पत्ति अन्यों की अपेक्षा व्याकरण का कुछ व्यतिक्रम होते हुए भी, अधिक सुबोध तथा युक्ति-युक्त है। यह निपातन-सिद्ध है।

own daughter Saraswati. Brahman had originally five heads, but one of them was cut down by Siva with the ring-finger or burnt down by the fire from the third eye.

अर्थ—पुराणानुसार ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु की नाभि से निकले कमल से हुई बतलाई गई है। इन्होंने अपनी ही पुत्री सरस्वती के साथ अनुचित सम्बन्धकर इस जगत् की रचना की। पहले ब्रह्मा के पाँच सिर थे; किन्तु शिव ने उनमें से एक को अपनी अनामिका अँगुली से काट डाला वा अपनी तीसरी आँख से निकली हुई ज्वाला से जला दिया।

प्रियपाठक वृन्द ! ये हैं हमारे दाढ़ीवाले वृद्ध पितामह ब्रह्मा बाबा के करिश्मे ! अब आप ही लोग कृपा करके बतलाएँ कि ब्रह्माजी जगत् के पिता हैं वा मातामह; अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए, कि हम लोग ब्रह्माजी के पुत्र हैं वा दौहित्र !! श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय १२, में लिखा है—

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
आकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥२८॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचि मुख्या मुनयो विश्रंभात् प्रत्य बोधयन् ॥२९॥

अर्थ—मैत्रेय कहते हैं कि हे क्षत्ता (विदुर)! हम लोगों ने सुना है कि ब्रह्मा ने अपनी कामरहित मनोहर कन्या सरस्वती की कामना कामोन्मत्त होकर की ॥२८॥ पिता की इस अधर्म-बुद्धि को देखकर मरीच्यादि पुत्रों ने उन्हें विनयपूर्वक समझाया ॥२९॥ यहाँ किसी प्रकार का रूपक मानने पर ब्रह्मा आदि सभी के वास्तविक

अस्तित्व से हीन हो जाने के कारण सृष्टिमात्र रूपक हो जाएगी; कारण कि यहाँ सृष्टि-प्रसंग है; अतः यहाँ कोई रूपक नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि रूपक होता तो ब्रह्मा के विषय में 'अधर्मे कृत मतिम्' ऐसा कहने तथा मरीच्यादिकों को उन्हें समझाने की क्या ज़रूरत पड़ती? विदुर के दासी-पुत्र होने के कारण उन्हें क्षत्ता कहते हैं।

विष्णवादि त्रिदेवों के सामर्थ्य की समीक्षा इस प्रकार कर अब अन्यान्य देवों के, और तिनमें सर्वप्रथम उनके परमपूज्य गुरु श्री

वृहस्पति

वृहस्पतिजी के आचरण पर विचार किया जाता है। ये इन्द्रादि देवताओं के गुरु हैं। 'गुरु' शब्द का अर्थ है 'गृणाति धर्ममुपदिशतीतिगुरुः (गॄ × कु, धे), अर्थात् जो धर्म का उपदेश करता है, वह गुरु है। ये वृहस्पति स्वयं धर्म शास्त्रों के प्रवर्त्तकों में से हैं; क्योंकि इन्हीं की रची हुई एक स्मृति भी है जो वृहस्पति-स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। अब इनका हाल सुनिए। ये अपने बड़े भाई उतथ्य की गर्भवती स्त्री ममता के रूप माधुर्य को देखकर इस प्रकार कामोन्मत्त हो गए कि ये अपना सारा धर्म-कर्म भाड़ में झोंक, ममता के लाख मना करने पर भी, उस पर चढ़ बैठे, जिस कुकर्म से भरद्वाज नामक एक बालक का जन्म हुआ, जिसे मरुत् देवों ने शकुन्तला-दुष्यन्त पुत्र राजा भरत को, जिन्होंने पुत्रहीन होने के कारण पुत्र-प्राप्त्यर्थ मरुत्सोम यज्ञ किया था, पुत्रवत् प्रदान कर दिया। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९, अध्याय २०, पढ़िए—

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम्।
मरुत्सोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥३५॥
अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय वृहस्पतिः।

प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत् ॥३६॥
त्यक्तकामां ममतां भर्तृत्यागविशंकिताम् ।
नाम निर्वचनंतस्य श्लोक मेनं सुराजगुः ॥३७॥
मूढे भरद्वाजमिमं भरद्वाजं बृहस्पते ।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाज स्ततस्त्वयम् ॥३८॥
चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वावितथमात्मजम् ।
व्यासृजन्मरुतो विभ्रन्दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥३६॥

अर्थ—स्ववंश के इस प्रकार नष्ट हो जाने पर राजा भरत ने मरुत्सोम नामक यज्ञ का अनुष्ठान किया। उस यज्ञ में मरुत्-देवों ने राजा को भरद्वाज नामक पुत्र दिया ॥३५॥ एक समय बृहस्पतिजी कामातुर होकर अपने भाई की गर्भवती स्त्री के साथ, मना किए जाने पर भी, मैथुन करने में प्रवृत्त हुए और गर्भ को शाप देकर अपना वीर्य छोड़ दिया ॥३६॥ जब ममता ने पति के द्वारा त्यागी जाने के भय से बृहस्पति के वीर्य से उत्पन्न हुए बालक को छोड़ देना चाहा तो, उस बालक के नामकरण का निरूपण करते हुए देवगण ने यह श्लोक गाया ॥३७॥ चूँकि बृहस्पति ने ममता से कहा कि हे मूढे ! इस दो के द्वारा अर्थात् एक के क्षेत्र में दूसरे के वीर्य से उत्पन्न पुत्र का पालन कर और ममता ने भी बृहस्पति से कहा कि हे बृहस्पति तुम इस 'द्वाज' पुत्र का पालन करो और ऐसा कहकर माता (ममता) और पिता (बृहस्पति) दोनों चले गए; अतः इस बालक का नाम 'भरद्वाज' है ॥३८॥ हे महाराज ! देवताओं के ऐसा कहने पर भी उतथ्य ने उसबालक को 'वितथ' अर्थात् व्यर्थ (क्योंकि व्यभिचारजात पुत्र का पिण्डदान क्षेत्री पिता को नहीं मिलता) जानकर वहीं छोड़ दिया तब मरुत्-देवों ने उसका पालन किया और जिस समय राजा भरत का वंश वितथ (व्यर्थ अर्थात् विनष्ट) हो रहा था, उस समय उसको उन्हें दे दिया ॥३६॥

ये भरद्वाज उन भरद्वाज से भिन्न मालूम होते हैं जो शूद्री पुत्र होते हुए भी अपने उत्तम ज्ञानविशेष के कारण ब्रह्मर्षियों में परिगणित हो गए; क्योंकि ये भरद्वाज तो एक क्षत्रिय-नरेश के द्वारा पुत्रवत् स्वीकृत हो जाने के कारण सदा के लिए क्षत्रिय कुल में लिए गए और वितथ नाम से प्रसिद्ध हुए।

सामर्थ्य की जाँच, आग में सोना तपाने की तरह, अति ही कठोर है। इस जाँच में उत्तीर्ण होना कुछ लड़कों का खेल नहीं है! मनुष्य की इन्द्रियाँ तूफ़ान मचाकर कभी-कभी उसके चित्त को डावाँडोल कर देती हैं और वह उन पर अपना काबू खो बैठता है। जो व्यक्ति ऐसी विपन्नावस्था में भी अपनी इन्द्रियों पर शासन करने में समर्थ हुआ वही वास्तव में समर्थ है; अन्यथा कोई भी नहीं; चाहे वह मनुष्य हो वा देवता।

इन्द्र

देवगुरु वृहस्पति महाराज के सामर्थ्य का कच्चा चिट्ठा इस प्रकार खोलकर अब उनके प्रमुख शिष्य देवराज इन्द्र के आचरण पर विचार किया जाता है। यह पहले ही लिख आए हैं कि इन्द्र ने महर्षि गौतम की स्त्री अहल्या का सतीत्वापहरण-रूपी कैसा घोर कुकर्म किया था। साधारणतः लोगों की यही धारणा बनी रहती है कि इस पाप-कर्म में अहल्या बिल्कुल निरपराध थी और उसका सतीत्व गौतम वेषधारी इन्द्र ने छल करके ही नष्ट किया था। पर वास्तविक बात वैसी न थी। यह पाप-कर्म इन्द्र और अहल्या दोनों की ही सम्मति से हुआ था। अहल्या ने मुनिवेषधारी इन्द्र को पहचानकर ही उसके हाथ अपना सतीत्व सौंप दिया था। वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४८, देखिए....

तस्यान्तरं विदित्वा च सहस्राक्षः शचीपतिः।

मुनिवेषधरो भूत्वा अहल्यामिदमब्रवीत् ॥१७॥
ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते ।
संगमंत्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥१८॥

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन ।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराज कुतुहलात् ॥१९॥

अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थास्मिसुरश्रेष्ठ गच्छशीघ्रमितः प्रभो ॥२०॥

आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात् ।
इन्द्रस्तु प्रहसन् वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥२१॥

सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम् ।
एवं संगम्य तुतदा निश्चक्रामोटजात्ततः ॥२२॥

अर्थ—शचीपति इन्द्र ने आश्रम से मुनि की अनुपस्थिति जानकर और मुनि का वेष धारण कर अहल्या से कहा ॥१७॥ हे अति सुन्दरी ! कामीजन भोग-विलास के लिए ऋतुकाम की प्रतीक्षा नहीं करते; अर्थात् इस बात का इन्तिज़ार नहीं करते कि जब स्त्री मासिक धर्म से निवृत्त हो जाए तभी उसके साथ समागम करना चाहिए; अतः हे सुन्दर कमर वाली ! मैं तुम्हारे साथ प्रसंग करना चाहता हूँ ॥१८॥ विश्वामित्र कहते हैं कि हे रामचन्द्र ! वह मूर्खा मुनिवेषधारी इन्द्र को पहचानकर भी इस विचार से कि देखूँ देवराज के साथ रति करने से कैसा दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, इस पापकर्म के करने में सहमत हो गई ॥१९॥ तदनंतर वह कृतार्थ हृदय से देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र से बोली कि हे सुरोत्तम ! मैं कृतार्थ हो गई अर्थात् दिव्य-रति का आनन्दोपभोग करने से मुझे अपनी तपस्या का फल मिल गया; अब हे प्रभो ! आप यहाँ से शीघ्र चले जाइए ॥२०॥ हे देव-राज ! आप गौतम से अपनी और मेरी रक्षा सब प्रकार से करें ।

इन्द्र ने हँसकर अहल्या से यह वचन कहा ॥२१॥ हे सुन्दर नितम्ब वाली ! मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ; अब जहाँ से आया हूँ; वहाँ चला जाऊँगा। इस प्रकार अहल्या के साथ संगमकर वह कुटिया से निकल गया ॥२२॥

पाठकवृन्द ! ऋषिराज गौतम की पत्नी अहल्या के आचरण के साथ दैत्यराज जलन्धर की पत्नी वृन्दा के आचरण को ज़रा मिलाइए। कहाँ वह वृन्दा है जो विष्णु द्वारा छल से अपने सतीत्व का अपहरण जानने पर मारे क्रोध के तिलमिला उठती है और उन्हें शठ, महानीच आदि घृणित सम्बोधनों से सम्बोधितकर एक कठोर शाप देती है और कहाँ यह अहल्या है, जो अपनी स्वेच्छा से इन्द्र के साथ पाप-कर्मकर अपना सतीत्व, जो स्त्रियों का एक अमूल्य रत्न है, खो देती है, और उसे खोकर भी किसी प्रकार ग्लानि अनुभव करने के बदले अपने को कृतार्थ मानती है। धन्य है री अहल्ये ! तू ब्राह्मणी होती हुई भी राक्षसी वृन्दा के पैरों की धूलि की भी समता नहीं कर सकती ? 'पञ्च कन्याओं पर' लिखते समय अहल्या पर पुनः विचार किया जाएगा।

जैसा कि मैं पूर्व में कह आया हूँ, इन्द्र एक महाछली, कपटी तथा इर्ष्यालु व्यक्ति है। उसको सर्वदा यह डर बना रहता है कि कोई अश्वमेध यज्ञ या तपस्या के द्वारा उसका इन्द्रासन न छीन ले; अतः वह तपस्वियों को तपस्या तथा राजाओं के अश्वमेधादि यज्ञों में सदा विघ्न डाला करता है। बसन्त के साथ अप्सराओं को भेजकर तपस्वियों की तपस्या में, तथा आश्वमेधिक घोड़ों को चुराकर अश्वमेध यज्ञों में विघ्न डालना उसका काम है। यज्ञों में विघ्न डालने के लिए बेचारे मारीच-सुबाहु आदि राक्षसगण नाहक बदनाम थे। भारी राक्षस तो इन्द्र था जो सतियों का सतीत्व, तपस्वियों की तपस्या, तथा वेद धर्मावलम्बियों के यज्ञादिक वैदिक कृत्यों का सत्यानाश करना अपना परम

धर्म मानता था। इसने एक बार राजा सगर का आश्वमेधिक घोड़ा चुराकर समाधिस्थ कपिल मुनि के आश्रम में, उसके बिना जाने हुए, बाँध दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उक्त राजा के साठ हज़ार पुत्र उक्त मुनि के क्रोधानल के शिकार होकर भस्मसात् हो गए। यदि इन्द्र सचमुच एक समर्थ व्यक्ति था तो उसे विश्वरूप तथा वृत्रासुर के मारने पर ब्रह्महत्या दोष क्यों लगा? जब देवताओं और ऋषियों ने वृत्र के उपद्रवों से घबड़ाकर उसे मारने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की तो इन्द्रने कहा—

स्त्रीभूजलद्रुमैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम्।
विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्वमाजर्म्यहम्॥

(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय १३, श्लोक ५)

अर्थ—विश्वरूप को मारने से जो एक बार ब्रह्महत्या लगी थी उसे तो स्त्री, पृथ्वी, जल और वृक्षों ने अनुग्रहपूर्वक बाँट लिया, जिससे मैं निष्पाप हुआ, अब वृत्र को मारने से जो ब्रह्महत्या लगेगी उसे कहाँ मिटाऊँगा?

वृत्रासुर का वध करने पर सचमुच ब्रह्महत्या ने एक विकराल रूप धारणकर, उससे अपनी रक्षा के निमित्त भयभीत होकर भागते हुए इन्द्र का पीछा किया। वह बेचारा आकाश-पाताल—तमाम मारा मारा फिरा और जब कहीं पर उसे शरण न मिली तो वह लाचार होकर मानसरोवर में जा छिपा। वह एक सहस्र वर्ष तक मानसरोवर में ही छिपा रहा, तदनन्तर ब्राह्मणों ने वहाँ से उसे बुलाकर स्वर्ग में पहुँचाया और वहाँ उससे अश्वमेध यज्ञ करवाया जिससे वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हुआ—

स वाजिमेधेन यथोदितेन वितायमानेन मरीचिमिश्रैः।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराणमिन्द्रो महानास विधूत पापः॥

(पूर्वोक्त पते पर श्लोक २१)

अर्थ—मरीच्यादि महर्षियों के द्वारा अनुष्ठित यथोक्त अश्वमेध यज्ञ से यज्ञपति पुराणपुरुष (विष्णु) की आराधनाकर इन्द्र पापमुक्त हुए और वे फिर पूर्ववत् महान् हो गए।

यह तो हाल है देवगुरु बृहस्पतिजी के एक चेले का। अब उनके दूसरे चेले चन्द्र का हाल सुनिए। इस चन्द्र ने 'गुरु गुड़ ही रह गए; चेला चीनी हो गया' इस कहावत को अपने आचरण से पूर्णतः चरितार्थ करके दिखा दिया; क्योंकि गुरु ने तो आक्रमण किया था केवल अपनी भौजाई पर; पर चेले ने हाथ साफ़ किया खुद अपनी गुरु-पत्नी पर।

चन्द्र

चन्द्र महर्षि अत्रि के पुत्र हैं। उन्हें सर्वगुण-सम्पन्न जानकर ब्रह्माजी ने निःशेष ब्राह्मणों, औषधियों तथा तारागणों का अधिपति बनाया। चन्द्र ने त्रिभुवन को जीतकर राजसूय नाम महायज्ञ किया। बल-गर्वित चन्द्र ने उस यज्ञ में आई हुई त्रिभुवन-सुन्दरी तारा को, जो देवगुरु बृहस्पतिजी की ही पत्नी थी, बलपूर्वक अपने घर में रख लिया और उन्हीं के वीर्य से वह गर्भवती भी हो गई। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९, अध्याय १४, पढ़िए—

सोऽयजद्राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद्बलात् ॥४॥

यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात्।
नात्यजत् तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ॥५॥

अर्थ—चन्द्र ने त्रिभुवन जीतकर राजसूय यज्ञ किया और घमंड से बृहस्पति की पत्नी तारा को बलपूर्वक हर लिया ॥४॥ जब देवगुरु के बार-बार माँगने पर भी चन्द्र ने अपने मद से उसे नहीं छोड़ा तो उसके लिए देवताओं और दानवों में संग्राम हुआ।

बृहस्पति के साथ द्वेषभाव रखने के कारण शुक्राचार्य ने असुर-

सेना के साथ चन्द्र का पक्ष लिया तथा बृहस्पति के पक्ष में हुए भूतगणों के साथ शिव और देवगणों के साथ इन्द्र। जब ब्रह्मा को यह सब हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने चन्द्र को डाँट-डपटकर उनसे तारा को वापस दिला दिया। तारा को चन्द्र के वीर्य से बुध नामक पुत्र जन्मा, जिसको ऋषियों और देवताओं ने वीर्यप्रधानता के न्याय से चन्द्र को ही दिलवा दिया।

चन्द्र की दूसरी काली करतूत का बयान सुनिए। इन्द्र ने अहल्या के साथ जो जार-कर्म किया था, जिसका उल्लेख अभी पूर्व में कर आया हूँ, उसमें इस चन्द्र ने इन्द्र की पूरी सहायता की थी। यह आधी रात को मुनिराज गौतम की कुटिया के समीप गया और मुर्गा बनकर बाँग देने लगा जिससे उनको धोखा हुआ। मुर्गे की ध्वनि सुनकर उन्होंने समझा कि अब भोर हो गया। ऐसा समझकर वे प्रातःकालीन कृत्य करने के लिए उसी समय अपनी कुटिया के बाहर चले गए और इन्द्र जो इसी मौक़े की ताक़ में था मुनि का वेष धारण कर कुटिया के भीतर घुस गया और अहल्या की अनुमति से ही उसका सतीत्व नष्ट कर दिया।

अब चन्द्र के साथी सूर्य का हाल सुनिए। इन्होंने कुन्ती के साथ, जो श्रीकृष्ण की फुआ थी और जिसका विवाह आगे चलकर राजा पाण्डु से हुआ, उसकी कौमारावस्था में ही

सूर्य

उसके साथ कुकर्मकर कर्ण को उत्पन्न किया। इसका विवरण श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९, अध्याय २४, में इस प्रकार दिया है—कुन्ती ने दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न करके उनसे 'देवहूती' नाम विद्या प्राप्त की। इस विद्या के प्रभाव से वह किसी भी देवता को अपने पास बुला सकती थी। तदनन्तर कुन्ती ने उस विद्या की परीक्षा के लिए सूर्यदेव का आवाहन किया। उनको उसी क्षण आकर उपस्थित हुआ देखकर कुन्ती को विस्मय हुआ

और विनयपूर्वक उसने सूर्य से निवेदन किया कि हे देव ! मैंने केवल परीक्षा के ही लिए इस विद्या का प्रयोग किया था; अतः इस समय आप जाइए और मुझे क्षमा कीजिए। इस पर सूर्यदेव ने अपनी कुत्सित कामवासना को परितृप्त करने के लिए जो बहानाबाजी तथा भुलावे की बात कुन्ती से कही थी वह मनन करने योग्य है—

अमोघदर्शनं देवि आधत्सेत्वयिचात्मजम्।
योनिर्यथा नदुष्येत कर्त्ताऽहंते सुमध्यमे ॥३४॥

इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवंगतः।
सद्यः कुमारः संजज्ञे द्वितीय इव भास्करः ॥३५॥

तं साऽत्यजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती।
प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुर्वैसत्यविक्रमः ॥३६॥

अर्थ—हे देवि ! देवताओं का दर्शन व्यर्थ नहीं जाता। मैं तुम्हीं में पुत्र का गर्भाधान करूँगा। किन्तु हे सुन्दर कमरवाली ! तुम्हारी योनि जिस प्रकार दूषित न हो वैसा ही मैं करूँगा ॥३४॥ इस प्रकार सूर्यदेव कुन्ती में गर्भाधानकर स्वर्गलोक को चले गए। और तत्काल ही दूसरे सूर्य के समान एक बालक उत्पन्न हुआ ॥३५॥ कुन्ती ने उस बालक को लोकापवाद के डर से नदी की धारा में फेंक दिया। हे परीक्षित ! तुम्हारे प्रपितामह सत्य-विक्रम राजा पाण्डु ने उसके साथ विवाह किया ॥३६॥

सूर्यदेव अवश्य ही कुन्ती की रूप-राशि पर लट्टू हो गए थे और उनका यह कथन कि देवताओं का दर्शन विफल नहीं होता, केवल अपनी काम पिपासा की तृप्ति के लिए एक बहानाबाजी तथा भुलावे की बात थी। क्या देवताओं के दर्शन का यही फल है कि किसी कुमारी कन्या के साथ व्यभिचार किया जाए ? और सूर्य ने कुन्ती को जो यह आश्वासन दिया था कि तुम्हारी [illegible] दूषित न होगी,

तो इससे क्या हम लोग यही समझ लें कि सूर्य के साथ कुन्ती का यौन-सम्बन्ध नहीं हुआ था और न उक्त बालक ही कुन्ती के योनि-द्वार से उत्पन्न हुआ था। यही बालक कर्ण था। लोगों की यह धारणा है कि कर्ण कुन्ती के कान से उत्पन्न हुआ था और इसीसे उसका नाम भी कर्ण पड़ा था। पर श्रीमद्भागवत के उक्त मूल श्लोकों में कान से उत्पत्ति का कहीं भी ज़िक्र नहीं है। भागवतकार ने 'योनिर्यथानदुष्येत' लिखकर कर्ण की पापमयी उत्पत्ति पर केवल एक पर्दा डाल दिया है; और कुन्ती ने अपने इसी पाप-कर्म के भंडाफोड़ हो जाने के डर से अपने सद्योजात शिशु को गंगा नदी में फेंक दिया था, जैसा कि आजकल भी इस प्रकार से उत्पन्न बच्चे फेंक दिए जाते हैं। यदि सूर्य और कुन्ती दोनों समर्थ व्यक्ति थे तो उनमें दोष किस बात का था, जिसकी वजह से कुन्ती लोकापवाद से इतना डरी कि उसने सद्योजात शिशु को फेंक देने में ही अपना कुशल समझा ? क्या कुन्ती के इस शिशुत्याग रूपी आचरण से यह बात सिद्ध नहीं होती कि तत्कालीन समाज कुन्ती या सूर्य को ही किसी प्रकार के विशेष सामर्थ्य से सम्पन्न नहीं मानता था ? सामर्थ्य सिद्धान्त केवल एक मनगढ़न्त बात है जिसे आधुनिक पाखंडियों ने अपने पूर्वजों के कुत्सित कर्मों को छिपाने के लिए गढ़ लिया है। कुन्ती ने शिशु कर्ण को एक सन्दूक में बन्दकर गंगा में फेंक दिया था, जिसे अंगदेश के राजकुमार अधिरथ ने जो केवल सूत-कर्म करने से ही सूत कहलाता था, पाकर अपना पुत्र मान लिया था। श्रीमद्भागवत के उक्त स्कन्ध के २३ वें अध्याय में लिखा है—

योऽसौ गंगातटे क्रीड़न् मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम्।
कुन्त्यापविद्धं कानीन मनपत्योऽकरोत्सुतम ॥१३॥

अर्थ—गंगा के तट पर क्रीड़ा करते हुए जिस अधीरथ ने कुन्ती द्वारा सन्दूक में बन्द करके फेंके हुए बच्चे को, जो एक कुमारी कन्या

से उत्पन्न हुआ था, पाकर स्वयं पुत्रहीन होने के कारण अपना पुत्र मान लिया था ॥१३॥

सूर्य के एक कुमारी कन्या के साथ किए हुए कुकर्म पर पर्दा डालने के लिए एक पाखंडी कहता है कि सूर्य ने कुमारी कुन्ती के साथ कुछ भोग करके कर्ण को उत्पन्न नहीं किया था, उन्होंने तो केवल अपने आशीर्वाद वा कृपा-दृष्टि से ही कुन्ती को पुत्र-प्रदान कर दिया था। देवताओं के केवल आशीर्वाद, कृपादृष्टि तथा पूजापाठ से सन्तानोत्पत्ति का सविस्तर खंडन तृतीय परिच्छेद में नियोग विषय पर लिखते हुए कर आया हूँ। पाठक उसे वहाँ देख लें। वहाँ पर स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि कुन्ती ने पाण्डु के कहने से इसी देवहूती विद्या के द्वारा धर्मराज, वायु और इन्द्र का आवाहनकर तीन पुत्र उत्पन्न किये और जब पाण्डु ने उसे और पुत्र उत्पन्न करने को कहा, तो उसने वैसा करने से यह कहकर साफ-साफ इन्कार कर दिया कि चौथे पुत्र को पुरुषान्तर द्वारा उत्पन्न करने से स्त्री व्यभिचारिणी और पाँचवें पुत्र को उत्पन्न करने से वह वेश्या हो जाती है, जिससे सिद्ध है कि देवताओं के भी द्वारा पुत्रोत्पादन में मैथुन अनिवार्य है।

विष्णु-आदि कतिपय मुख्य-मुख्य देवताओं के आचरणों पर विचारकर अब कुछ ऐसे महापुरुषों के आचरणों पर विचार किया जाता है जिन्हें सनातनी हिन्दू ईश्वर के अवतार मानते हैं। अवतारों में सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण माने जाते हैं, जिनके विषय में कहा जाता है कि—"अन्ये चांश कलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"; अर्थात्-अन्य अवतार तो विष्णु (ईश्वर) के आंशिक अवतार कहे गए हैं; पर श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अन्य अवतार विष्णु की पूर्णकला से न होकर केवल उनके अंश-मात्र हैं;

श्रीकृष्ण

पर श्रीकृष्ण सम्पूर्ण कला से युक्त स्वयं विष्णु ही हैं। ये यदुवंशीय क्षत्रिय वसुदेव तथा उनकी पत्नी देवकी के पुत्र थे, जिन्हें उनके उक्त-माता-पिता ने मथुरा के राजा कंस के भय से सद्योजातावस्था में ही अपने परम मित्र ब्रजवासी नन्द गोप के घर रक्षार्थ भेजवा दिया था। इनका लालन-पालन नन्दगोप तथा उनकी पत्नी यशोदा ने प्रेम से किया था। श्रीकृष्ण के चरित्र का सविस्तर वर्णन महाभारत, विष्णु पुराण, श्रीमद्भागवत् तथा हरिवंश में मिलता है; पर भागवत्-कार ने इस ग्रन्थ के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण की ब्रजवासिनी गोपियों के साथ जो प्रेम-लीलाएँ वर्णन की हैं उन्हें पढ़कर कोई भी निष्पक्ष आलोचक श्रीकृष्ण को एक महालम्पट कहे बिना नहीं रह सकता। कहा जाता है कि जब महर्षि व्यास को अन्य सब पुराणों तथा महा-भारत की रचना से सन्तोष न हुआ, तो उन्होंने देवर्षि नारद के उपदेश से श्रीमद्भागवत् की रचना की, जिसमें उन्होंने सभी पुराणों का सार संग्रहकर उसे पुराण-शिरोमणि बना दिया। इस ग्रन्थ के प्रथम स्कन्ध के ७वें अध्याय में लिखा है—

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतः विद्वांश्चक्रे सात्वत-संहिताम् ॥६॥

यस्यां वैश्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहजरापहा ॥७॥

स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥८॥

अर्थ—सूत ने शौनक से कहा कि अज्ञानियों के कल्याण के लिए इस भागवत-संहिता को, जिसके पठन तथा श्रवण से नाना प्रकार के अनर्थ नष्ट हो जाते तथा श्रीकृष्ण में भक्ति उत्पन्न होती है, विद्वान् व्यास जी ने बनाया ॥६॥ जिसके सुनने से परमात्मा कृष्ण

में शोक, मोह तथा भय को दूर करनेवाली भक्ति उत्पन्न होती है ॥७॥ व्यास जी ने उस भागवत संहिता को बनाकर और शुद्ध करके उसे नवृत्ति मार्ग में निरत अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाई ॥८॥

किसी-किसी का मत है कि भागवत व्यास की रचना नहीं है; कारण कि उसकी रचना शैली अन्य पुराणों की रचना शैली से बिलकुल नहीं मिलती तथा इसके श्लोक अन्य पुराणों के श्लोकों की अपेक्षा अधिक कठिन हैं। भागवत के श्लोकों में वह सरलता तथा सुगमता नहीं देख पड़तीं जो अन्य पुराणों की विशेषता है, जिन्हें सर्वसाधारण व्यास-कृत वा ऋषिप्रणीत मानते हैं। इस मत के माननेवालों का कथन है कि भागवत के बनानेवाले पंडित वोपदेवजी हैं जो गीत-गोविन्दकार जयदेवजी के भाई थे। इस पुराण का लिखनेवाला चाहे जो कोई हो वह अवश्य हिन्दू था। वह कोई मुसलमान वा इसाई न था। अतः यह कैसी शोक की बात है कि एक हिन्दू की लेखनी से हिन्दू जाति के परमाराध्य देवता श्रीकृष्ण का चरित्र एक ऐसी काली स्याही से अंकित किया जाए जो अन्य धर्मावलम्बियों के सामने अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की डींग हाँकनेवाली इस हिन्दू जाति को लज्जा-भार से नतमस्तक बना दे! यहाँ पर प्रसंगवश श्रीकृष्ण चरित्र के नमूने लिखे जाते हैं, जिन्हें पढ़कर निष्पक्ष पाठक-वृन्द श्रीकृष्ण विषयक अपना स्वतंत्र विचार कर लें—

ये लड़कपन में ब्रजगोपियों के घर में चोर की तरह घुसकर उनके दूध, दही, मक्खन आदि चुरा-चुराकर स्वयं खाते तथा उन्हें अपने साथी अहीर के छोकरों तथा बन्दरों को भी खिलाया करते थे। जब कुछ सयाने हुए तो ये उक्त वस्तुओं को बेचने के लिए ले जानेवाली गोपियों से जबर्दस्ती छीन-छीनकर खाते तथा उनकी मटकियाँ भी फोड़ दिया करते थे। लड़कपन में बहुत ही दुष्ट, अवज्ञाकारी तथा ज़िद्दी थे। आगे चलकर ये एक महापुरुष होंगे, इसका कोई भी पूर्व-

लक्षण इनकी बाल्यावस्था में नहीं देख पड़ा, जैसा कि महात्मा गौतम बुद्ध, महावीर, जिन, ईसा मसीह आदि संसार के अन्य महापुरुषों के विषय में हम लोग ऐतिहासिक ग्रन्थों में लिखा पाते हैं। इन महात्माओं ने अपने- अपने बाल्यकाल में ही अपनी भावी महानता का पूर्वपरिचय दे दिया था। ये लोग उस काल में ही गंभीर-प्रकृति, शान्त-स्वभाव तथा विचार-शील देख पड़ते थे। पर यह बात श्रीकृष्ण में लेश-मात्र भी न थी। ये उस काल में पूरे नटखट थे। श्रीकृष्ण की बाल्यकालीन उक्त उद्दण्डता की उपेक्षा, उन्हें एक अबोध बालक समझकर हम लोग भले ही कर दें; पर जब नवयुवक होकर उन्होंने गोपियों के साथ जो महाश्लीलतापूर्ण व्यवहार तथा जार-कर्म किया था वह क्षम्य तथा उपेक्षा योग्य नहीं है। उनके आपत्तिजनक तथा लज्जापूर्ण व्यवहारों में चीरहरण-लीला तथा रास-नृत्य मुख्य हैं, जिनसे भागवत के सभी पाठक परिचित हैं। गोपियाँ श्रीकृष्ण को पति-रूप में पाने की अभिलाषा से कात्यायनी देवी का व्रत करती थीं और उसी प्रसंग में प्रतिदिन सबेरे यमुना नदी में, उसके तट पर अपने सभी वस्त्र उतारकर, स्नान किया करती थीं। एक दिन श्रीकृष्ण चुपके से आए और उनके कुल वस्त्र चुराकर पास के एक कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गए और उनके लाख गिड़गिड़ाने पर भी उन वस्त्रों को तब तक नहीं लौटाया जब तक उन्होंने पूर्णतः नङ्गी होकर अर्थात् इस प्रकार नङ्गी होकर कि शरीर के सभी गोपनीय अंग भी देख पड़ें, और दोनों हाथों की अंजलि माथे पर बाँधकर नदी में नङ्गी होकर स्नान करने के अपराध के लिए क्षमा नहीं माँगी। श्रीकृष्ण कहते हैं—

यूयं विवस्त्रा यदपोधृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
बद्ध्वाऽञ्जलिंमूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम्॥
भाग० १०।२२।१६॥

अर्थ—हे सखियो ! तुम लोगों ने निपट नंगी होकर व्रत में जल के भीतर जाकर स्नान किया सो बड़ा ही अनुचित किया; क्योंकि इस कर्म से जल के देवता वरुण का अपमान हुआ। अतः इस अपराध को क्षमा कराने के लिए माथे पर अंजलि बाँधकर और झुककर प्रणाम करो और फिर अपने-अपने वस्त्र लेकर पहनो।

अब यहाँ पर यह विचारना है कि गोपियों ने यमुना में नंगी स्नानकर क्या सचमुच कोई अपराध किया था तथा उस अपराध का क्या यही प्रायश्चित था कि वे किसी परपुरुष के सामने सर्वाङ्गीन नंगी होकर, माथे पर अंजलि बाँधकर तथा झुककर प्रणाम करें और क्षमा माँगें ! शास्त्रों में तो कोई ऐसी व्यवस्था नहीं मिलती। यदि मनचले कृष्ण की यह निजी व्यवस्था थी तो बात दूसरी है। कहा जाता है कि जल में वरुणदेव रहते हैं; अतः उसमें नंगी होकर स्नान करने से गोपियों ने उक्त देवता का अपमान किया। पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि हिन्दुओं के चिरबद्धमूल अन्धविश्वासानुसार इस विपुल विश्व में कौन ऐसा स्थान है जो देव-शून्य है। हमारी यह धरती माता भी स्वयं एक देवता मानी जाती है जिसके क्षमाशील वक्षःस्थल पर अहर्निश करोड़ों हिन्दू मलमूत्र का त्याग किया करते हैं। पर ऐसा करने से वे किसी भी अपराध के भागी नहीं समझे जाते। तब बेचारी गोपियों ने ही कौन-सा ऐसा अपराध किया था कि जिसके कारण उनकी यह दुर्दशा की गई। यह निश्चय है कि गोपियों ने अपने स्थान की चलन के अनुसार ही नंगी होकर स्नान किया होगा। अब भी किसी-किसी खण्ड में ऐसा चलन देखा जाता है। यदि श्रीकृष्ण को यह प्रथा सार्वजनिक सुशीलता के विरुद्ध होने के कारण बुरी मालूम हुई, तो वे इसका सुधार किसी अन्य सभ्यतापूर्ण तरीके से कर सकते थे। पर वे वैसा करने ही क्यों जाएँ ? वे तो एक रसीले छैले थे। उन्हें गोपियों के साथ इस प्रकार के अश्लील

ठट्ठा करने में ही मज़ा आता था। वरुण देवता का अपमान बतलाना केवल उनकी बहाना-बाजी थी। और गोपियाँ भी उनके प्रति इस प्रकार प्रेम-पागल हो रही थीं कि उन्होंने उक्त श्रीकृष्णीय व्यवस्था के सामने सिर झुका देने में ही अपना मंगल समझा।

अब रास-लीला का हाल सुनिए। चीरहरण-लीला के समय गोपियों को वस्त्र लौटाते हुए श्रीकृष्ण ने उनको वचन दिया था कि आगामी शरद ऋतु में मैं तुम लोगों के साथ रास-नृत्य*कर तुम्हारी अभिलाषा को पूरी करूँगा, सो वह ऋतु आ गई—

भगवानपितारत्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्यरन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

भाग० १०।२६।१

अर्थ—भगवान् ने भी शरत्काल की उन रात्रियों को देखकर जिनमें मल्लिका-पुष्प खिले हुए थे और योगमाया को अंगीकार करके विहार करने की इच्छा की।

बस श्रीकृष्ण ने अपनी भुवन-मोहिनी बाँसुरी फूँक दी। बाँसुरी की सुरीली तान सुनते ही सभी गोपियाँ जिस दशा में थीं उसी में घर का काम-काज छोड़कर, श्रीकृष्ण के पास दौड़ी चली आईं। यहाँ पर पाठकों को मैं यह बता देना चाहता हूँ कि ये सभी व्रजाङ्ग-नाएँ कुछ कुमारी कन्याएँ न थीं; बल्कि उनमें पती पुत्रवती गोप

---

*रास शब्द की व्याख्या श्रीधर स्वामी इस प्रकार करते हैं—

"अन्योन्य-व्यतिषक्त-हस्तानां स्त्री-पुंसां गायतां मण्डली रूपेण भ्रमतां नृत्यविनोदो रासोनाम।"

अर्थ—स्त्री पुरुष परस्पर हाथ पकड़कर गाते और मण्डली बनाकर घूमते हुए जो नृत्य करते हैं उसका नाम रास है।

वधुएँ भी थीं तथा ये श्रीकृष्ण के प्रति कुछ 'ब्रह्म' भाव नहीं बल्कि केवल एक 'जार' भाव रखती थीं—

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥

भाग० १०।२६।६

अर्थ—कोई-कोई रसोईघर में परिवार के लोगों को भोजन करा रही थीं, कोई बालकों को दूध पिला रही थीं, कोई पतियों की सेवा कर रही थीं, कोई भोजन कर रही थीं—वे सब अपना-अपना काम छोड़कर कृष्ण के पास दौड़ गईं। इससे स्पष्ट है कि गोपियों में पति-पुत्रवाली कतिपय वधुएँ भी थीं। पुनश्च—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥

भाग० १०।२६।११॥

अर्थ—जो गोपियाँ घर के बाहर न निकल सकीं, उन्होंने वहीं पर अपनी आँखें मूँदकर श्रीकृष्ण में अपना मन लगा दिया। और यद्यपि उन्होंने 'जार'-बुद्धि से ही अपना मन श्रीकृष्ण में लगाया, तथापि उन्होंने कर्मबन्धन से मुक्त होकर इस त्रिगुणात्मक शरीर का परित्याग कर दिया।

श्रीकृष्ण ब्रजबालाओं को अपने पास आई हुई देख उन्हें वाक्-चातुरी से बार-बार घर लौट जाने के लिए कहने लगे, क्योंकि—

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥

भाग० १०।२६।२६॥

अर्थ—कुल-कामिनियों के लिए औपपत्य अर्थात् उपपति (जार)

ततश्चकृष्णोपवने जलस्थल-प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचारभृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः ॥
एवं शशांकांशुविराजितानिशाः स सत्य-कामोऽनुरतावलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः* सर्वाः शरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ॥

भाग० १०।३३।२५-२६ ॥

अर्थ—तदनन्तर भौंरों तथा गोपियों के झुण्ड से घिरे हुए श्रीकृष्णचन्द्र, यमुना के उस उपवन में जहाँ जल और स्थल में उत्पन्न होनेवाले फूलों की सुगन्ध को लिए हुए वायु बह रही थी, हथिनियों के झुण्ड को साथ में लिए हुए मदमाते गजराज के समान विचरने लगे ॥२५॥ इस प्रकार सत्यसंकल्प श्रीकृष्णचन्द्र ने, जिनमें गोपियाँ अनुरक्त हो गई थीं, चन्द्रमा की किरणों से सुशोभित एवं काव्य-वर्णित शरद ऋतु सम्बन्धी सभी रसों से परिपूर्ण रात्रियों में रमण किया ; पर इतना होने पर भी वे अपने वीर्य्य को अपने में ही रोके रहे ; अर्थात् उसका पतन नहीं होने दिया ॥२६॥

अर्थ स्पष्ट है । श्रीकृष्ण ने शुक्र का पतन न होने दिया तो नहीं सही ; उन्होंने गोपियों के साथ बाक़ी क्या रखा ! जहाँ परनारियों की ओर केवल बुरी निगाह से ताकना ही सभी धर्मों में महापाप समझा जाता है, वहाँ हमारे कन्हैयाजी ने परनारियों के साथ प्रायः सभी कुछ कर डाला। उन्होंने बाहु फैलाकर उनका प्रेमालिंगन किया ; उनकी जाँघ, नीवी तथा स्तनों तक को छुआ ; उन्हें नखक्षत दिया और जाते-जाते अन्त में उनके साथ मैथुन भी कर डाला । क्या ये सब व्यापार उनका सतीत्व नष्ट करने के लिए पर्याप्त न थे जो श्रीकृष्ण के बचाव में यह कहा जाता है कि उन्होंने वीर्यपात नहीं होने दिया ।

---

*अवरुद्धः सौरतश्चरम धातुर्नतु स्खलितो यस्येति कामजयोक्तिः
(भावार्थ-दीपिका)

उनके इन कुत्सित आचरणों पर राजा परीक्षित ने जो शंका की और उस शंका का जो विचित्र समाधान श्रीशुकदेव ने किया वह केवल एक भुलावा-मात्र है। राजा परीक्षित ने शुकदेव से कहा कि हे ब्रह्मन्! धर्म का संस्थापन और अधर्म का समूलोच्छेद करने के ही लिए भगवान् का कृष्णावतार हुआ था; सो उन्होंने परनारी-गमन रूप अधर्म क्यों किया? इस शंका का समाधान शुकदेवजी ने यह कह-कर किया कि हे राजन्! कभी-कभी तेजस्वी तथा समर्थ पुरुष धर्म की अवहेलना भी कर देते हैं; पर तब भी वे उसी प्रकार दूषित नहीं होते जिस प्रकार शुद्ध वा अशुद्ध सभी चीजों को जलानेवाली अग्नि। अतः हम लोगों को उचित है कि हम लोग उनके विपरीताचरणों का अनुकरण न कर उनके वचनों के अनुसार चलें। कालकूट विष पी लेने से भी शिव का कुछ नहीं बिगड़ा; किन्तु असमर्थ व्यक्ति शिव का अनुकरण करे तो वह तुरंत मर जाए—

धर्मव्यतिक्रमोदृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापिह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणांवचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्॥

भाग १०।३३।३०-३२॥

अर्थ—समर्थ पुरुष धर्म का अतिक्रमण रूप साहस करने से भी सर्वभोगी अग्नि की तरह दूषित नहीं होते ॥३०॥ पर जो असमर्थ हैं उन्हें मन से भी कभी वैसा नहीं करना चाहिए। यदि मूर्खता-वश वैसा करे तो शिव के अनुकरण में कालकूट विष पी लेने-वाले की तरह वह शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥३१॥ समर्थ पुरुषों के वचन सत्य होते हैं; पर उनके आचरण कहीं सत्य तो कहीं असत्य

होते हैं। अतः बुद्धिमानों को उचित है कि वे समर्थ पुरुषों के वचनों के अनुसार चलें और केवल उनके उचित आचरणों का ही अनुकरण करें ॥३२॥

शुकदेव के इस समाधान से राजा परीक्षित जैसे सीधे-सादे, शीघ्र विश्वासी तथा केवल सात दिनों में ही सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण-मात्र से मुक्ति प्राप्ति के लिए लालायित जीव को भले ही सन्तोष हो जाए ; पर इससे एक निष्पक्ष तथा स्वतंत्र समालोचक को कुछ भी सन्तोष नहीं हो सकता। क्या शुकदेव के इस समाधान का सन्तोष-जनक माननेवाले महानुभाव, जो कापालिक नहीं हैं, चिता की आग से बनी हुई रसोई को ग्रहण कर सकते हैं ? क्या शिव की तरह आज भी ऐसे नशाबाज़ देखने में नहीं आते जो गाँजा, भाँग-चरस, अफ़ीम, कोकेन आदि विषैली द्रव्यों के व्यवहार में इस प्रकार अभ्यस्त हो गए हैं कि वे संखिया तक को खाकर पचा जाते हैं ? समर्थ माने जानेवाले इन शिव का सामर्थ्य कहाँ चला गया था जब वे मोहिनी को पाने के लिए पागल हो गए थे ? क्या यह एक प्राकृतिक नियम-सा नहीं है कि बड़ों के आचरण का प्रभाव छोटों पर पड़ता है; अतः उन्हें सम्हलकर चलना चाहिये ? यदि नहीं तो फिर इन्हीं श्रीकृष्ण ने जिनके आचरण समलोचनाधीन हैं, अपनी गीता में क्यों कहा ?—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥३।२१॥

अर्थ—एक माननीय व्यक्ति जो कुछ करता है उसीको दूसरे लोग भी करते हैं और जिस आदर्श को वह खड़ा करता है उसी-का अनुसरण जनता करती है। तात्पर्य यह कि बड़ों के आचरण छोटों के लिए अनुकरणीय उदाहरण बन जाते हैं।

एक बात और भी विचारने योग्य है। यदि उपदेष्टा अपने आचरणों को अपने उपदेशों के अनुकूल नहीं बनाए रखे, तो उसके उपदेशों का कुछ भी प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ता। यदि मदिरापान के विरुद्ध आन्दोलन करनेवाला व्यक्ति स्वयं मदिरा सेवन करे तो उसे लोग दंभी तथा पाखंडी कहकर उसके आन्दोलन की उपेक्षा कर देते हैं। इसी प्रकार अन्य बुराइयों के विषय में भी समझना चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि बड़ों को सन्मार्ग से एक बाल बराबर भी विचलित नहीं होना चाहिए; क्योंकि साधारण जनता उन्हें अपना आदर्श मानती है तथा कुपथ चलने पर उनके अपराध, साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा, गुरुतर समझी जाती है; भले ही उन्हें दंड देने-वाला कोई न हो। यदि कहो कि परमात्मा के सम्बन्ध में उसके देहाभिमानशून्य तथा अपने शुभाशुभ कर्मों का फलाकांक्षी नहीं होने के कारण, पुण्य-पाप का प्रश्न नहीं उठता, तो यह भी ठीक नहीं; कारण कि नर-तनु धारण करने पर उसको मानवता के सम्मुख एक उच्च आदर्श रखना चाहिए।

कितने महाशय श्रीकृष्ण की चीरहरण-लीला तथा रासलीला जैसी काली करतूतों पर पर्दा डालने के लिए उस पर रूपक की कलई चढ़ाया करते हैं और कहते हैं कि उक्त लीलाएँ कोई वास्तविक घटनाएँ नहीं हैं; बल्कि वे कल्पित हैं तथा उनका वर्णन एक गूढ़ार्थ से भरा हुआ है। कवि ने उन कल्पित लीलाओं के वर्णन द्वारा ब्रह्मज्ञान-संबंधी एक दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया है। मन की विविध वृत्तियाँ ही गोपियाँ हैं जो कृष्णरूपी परमात्मा में लीन होकर ही अन्तिम विश्राम पाती हैं; अथवा जीवात्मा ही राधा है जो कृष्णरूपी परमात्मा में लीन होना चाहती है; अथवा चीरहरण-लीला द्वारा यह बतलाया गया है कि गोपीरूप जीव यदि मुक्त हो जाना चाहे तो वह वस्त्र के समान उसमें लिपटी हुई सांसारिक माया को दूर फेंककर कृष्णरूपी

परमात्मा को बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण कर दे इत्यादि। पर यदि उक्त लीलाएँ रूपक-मात्र रहतीं, तो न राजा परीक्षित को ही किसी प्रकार की शंका होती और न शुकदेव को ही श्रीकृष्ण के बचाव में अपने एक निराले ढंग से उसका समाधान करने की आवश्यकता होती। श्रीमद्भागवत् को बने आज कई शताब्दियाँ बीत गईं। इस सुदीर्घ काल में न जाने इस भारत में कितने विद्वान् हो गए: पर उनमें से किसी ने भी नहीं श्रीकृष्ण की उक्त लीलाओं पर आक्षेप किया और न उन्हें रूपक बताया। सभी शुकदेव के समाधान को ही पर्याप्त मानकर सन्तुष्ट बैठे रहे। इसका कारण यह था कि परम्परागत अन्धविश्वास के कारण उनमें वह साहस न था कि वे अपने पूज्य पूर्वजों की करतूत तथा आचार-व्यवहार पर निर्भीक होकर स्वतंत्र रूप से विचार कर सकें। इसके अतिरिक्त एक और भी कारण है। मनुष्य को ममता के कारण अपना और अपने आत्मीयों का दोष तब तक नहीं मालूम होता जब तक उस दोष का उद्‌घाटन कोई निर्भीक विपक्षी नहीं करता। विपक्षी द्वारा उस दोष का उद्‌घाटन होने पर भी पहले तो वह उस पर रूपक आदि का पर्दा देने की कोशिश करता है; पर जब उसकी सारी कोशिशें विफल हो जाती हैं और उसकी सभी चौकड़ियाँ बन्द हो जाती हैं, तो अपने आक्षेपकों को नास्तिक आदि कहकर एक मूर्खतापूर्ण सन्तोष कर लेता और विवाद-विरत हो जाता है; पर अपना विचार-सुधार नहीं करता। और यदि वह अपनी हार अपने हृदय में महसूस भी करता है तो वह उसे स्वार्थवश खुल्लम खुल्ला मान लेने को तैयार नहीं होता। यही दशा हिन्दू जाति की है। ऐसे स्वार्थपरायण जीव दो श्रेणियों में रखे जा सकते हैं—एक श्रेणी तो उन लोगों की है जो तीर्थों के पंडों, देव-मन्दिरों के पुजारियों, घर-घर घूमनेवाले पुरोहितों तथा कथक्कड़ों की हैसियत से अन्धविश्वासिनी हिन्दू जनता में श्रीकृष्ण के प्रति अन्धी भक्ति को

स्वजीविकारक्षणार्थ चिरस्थायिनी बनाने के उद्योग में पूरी सावधानी के साथ सदा तत्पर रहते हैं। ऐसे जीवों को सदा यही भय बना रहता है कि कहीं आँख की अन्धी तथा गाँठ की पूरी हिन्दू जनता की आँखें खुलीं, तो उनका दूसरों को ठगकर गुलछर्रे उड़ाना बन्द हो जाएगा। अतः उनकी सदा यही नीयत बनी रहती है कि उनकी ठग-विद्या की शिकारभूत हिन्दू जनता अन्धविश्वासों के दुर्भेद्य जंजीरों में खूब जकड़कर बाँधी रखी जाए। तथा दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जो विदेशियों तथा विधर्मियों के सामने अपनी प्राचीन सभ्यता की केवल डींग हाँकना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं; चाहे वह सभ्यता भले ही खोखली क्यों न हो। ऐसे लोग अपनी उक्त सभ्यता पर उचित से भी उचित आक्षेपों के प्रति असहिष्णु तथा इस प्रकार नैतिक साहस (Moral Courage) से हीन होते हैं कि वे विवाद में हार मानकर भी अपनी हार क़बूल करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं और महाकवि गोल्डस्मिथ (Goldsmith) रचित 'Deserted Village' (ऊजड़ ग्राम) नामक कविता की निम्न-लिखित पंक्तियों का स्मरण दिलाते हैं—

In arguing, too, the parson owned his skill;
For e'en though vanquished he could argue still;

अर्थ—वाद-विवाद में भी उसकी (गाँव के स्कूल-मास्टर की) वाक्‌चातुरी को गाँव का पादड़ी स्वीकार कर लेता था; क्योंकि पराजित होने पर भी वह अपनी बहस जारी रखता था।

श्रीकृष्ण के काले कारनामों पर पर्दा डालने के लिए रूपक की शरण लेनेवाले इन महाशयों को मैं एक और बात चेतावनी-स्वरूप बतला देना चाहता हूँ कि यदि उनके कुछ चरित्रों को रूपक

का बाना पहनाकर उनकी वास्तविकता का उच्छेद कर दिया जाए तो कितने ऐसे भी उनके चरित्र हैं; जैसे शैशवकाल में ही उनका शकट-भंजन, यमलार्ज्जुन-भंजन, पूतना, तृणवर्त्त, वत्स, बक, अघ, अरिष्ट, केशी, व्योम आदि असुरों का वध, कालिय-दमन, गोवर्द्धन-धारण आदि, जिन्हें हम अतिप्राकृतिक तथा अतिमानुषिक होने के कारण वास्तविकता की कोटि से अनायास ही निकाल सकते हैं और इस तरह जब श्रीकृष्ण के सभी चरित्र एक-एक करके काल्पनिक तथा असत्य सिद्ध हो जाते हैं, तो स्वयं श्रीकृष्ण का भी कहीं पता नहीं रहता। वे एक काल्पनिक व्यक्ति होकर हमारे प्राचीन इतिहास के राजनैतिक, धार्मिक, तथा सामाजिक रंगमंच से न केवल स्वयं ही गायब हो जाते हैं; बल्कि 'बाँड़-बाँड़ गए और नव हाथ का पगहा भी अपने साथ लिए गए, इस कहावत को चरितार्थ करते हुए वे कौरव, पांडव आदि महाभारत के सभी पात्रों को भी कल्पना के एक अथाह तथा अन्धकारपूर्ण कुएँ में ढकेलकर उनके भी अस्तित्व को मिट्टी में मिला देते हैं। याद रहे कि महापुरुषों के चरित्रों की व्याख्या रूपक का आश्रय लेकर करने से हमारे रामायणादि अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों के पात्र राम, सीता, आदि भी कोई वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर केवल वाल्मीकि आदि कवियों के उर्वर मस्तिष्क की उपजमात्र हो जाएँगे। जिसके फलस्वरूप हमें अपने सारे प्राचीन इतिहास से हाथ धो बैठना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में हमारे सम्मुख केवल दो ही पक्ष उपस्थित होते देख पड़ते हैं—(१) या तो अपने तथा-कथित महापुरुषों तथा देवताओं के सभी चरित्रों को सत्य मान लेना, जिस दशा में श्रीकृष्णादि असीम शक्तिशाली होते हुए भी महादुराचारी प्रतीत होते हैं; (२) अथवा नहीं तो उनके सभी चरित्रों को रूपक तथा काल्पनिक मान लेना, जिस दशा में वे स्वयं भी काल्पनिक तथा अस्तित्वहीन हो जाते हैं। हमें अपने स्वार्थवश उनके

कुछ चरित्रों को रूपक तथा कुछ चरित्रों को वास्तविक घटनाएँ मान-कर दोनों पक्षों से काम निकाल लेने का कोई भी अधिकार नहीं है। महाशोक की बात तो यह है कि कथक्कड़ हिन्दू सद्गृहस्थों के यहाँ श्रीकृष्ण को इन अश्लील कथाओं को सुनाते हैं और हमारी बहू-बेटियाँ भी पर्दे के भीतर बैठकर उन्हें बड़े चाव से, क्योंकि वह तो भगवान् का यश-कीर्त्तन है, सुना करती हैं। क्या इसे रोकने का कोई उपाय नहीं है ?

श्रीकृष्ण के चरित्र की समीक्षा इस प्रकार कर अब उनके बड़े तथा सौतेले भाई बलराम के चरित्र पर विचार किया जाता है।

बलराम

इनको बलदेव, बलभद्र, तथा केवल बल वा केवल राम भी कहते हैं। ये भी राम-कृष्णादिकों की तरह अवतारी पुरुष माने जाते हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय ६५ में यमुना की, तथा अध्याय ६८ में कौरवों की स्तुतियों से मालूम होता है। यमुना कहती है—

राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतःपते ॥२६॥

परं भाव भगवतः भगवन् मामजनतीम् ।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥२७॥

अर्थ—हे राम ! हे महाबाहु ! मैं आपके पराक्रम को नहीं जानती। हे जगन्नाथ ! आप अपने एक ही अंश से इस जगत् को धारण किए हुए हैं ॥२६। हे भगवन् ! मैं आपकी अपार महिमा को नहीं जानती। हे विश्वात्मन् ! हे भक्तवत्सल ! मैं आपकी शरण में आई हूँ; मुझे छोड़ दीजिए। यही आपके लिए उचित है ॥२७॥ कौरवगण कहते हैं—

राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदामते ।

मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥४४॥
स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेका हेतु र्निराश्रयः ।
लोकान् क्रीड़नकानीश क्रीड़तस्ते वदन्ति हि ॥४५॥
त्वमेव मूर्ध्नींदमनन्त लीलया भूमंडलंविभर्षि महस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनिरुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीये परिशिष्यमाणः ॥४६॥
कोपस्तेऽखिल शिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
विभ्रतो भगवन् सत्त्वं स्थिति-पालन-तत्परः ॥४७॥
नमस्ते सर्वभूतात्मन् । सर्वशक्तिधराव्यय ।
विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

अर्थ—हे राम ! हे राम । हे सम्पूर्ण जगत् के आधार ! हम आपके प्रभाव को नहीं जानते। हम महामूढ़ और : बुद्धि हैं; यही उचित है कि आप हमारे अपराधों को क्षमा करें ॥४४॥ आप इस जगत् के सृष्टि, पालन और विनाश के एकमात्र कारण हैं। आप निराश्रय (स्वतंत्र) हैं। पंडित लोग कहते हैं कि आप जिस समय क्रीड़ा करने को प्रवृत्त होते हैं उस समय ये सब लोक आपके खिलौने बन जाते हैं ॥४५॥ हे सहस्रमस्तकवाले अनन्त ! आप लीलापूर्वक अर्थात् बिना किसी प्रयास के इस भूमंडल को अपने एक मस्तक पर धारण किए हुए हैं । अन्त समय जो अपने में विश्व को लीन करके अकेले अवशिष्ट रह जाते हैं और अनन्त-शय्या पर शयन करते हैं वे शेषशायी नारायण भी आप ही हैं ॥४६॥ आपका कोप किसी के साथ द्वेष वा ईर्ष्या के वश नहीं होता; वरन् वह संसार-मात्र को शिक्षा देने के लिए होता है । हे भगवन् ! आप लोक-मर्य्यादा की स्थिति के पालन में तत्पर रहते हुए सत्त्व गुण को ग्रहण किए हुए हैं ॥४७॥ हे भूतमात्र के आत्मा ! हे सभी शक्तियों के धारण करने-वाले ! हे अविनाशी ! हे विश्वकर्मा ! आपको प्रणाम है। हम लोग आपकी शरण में आए हैं ॥४८॥

श्रीमद्भागवत के उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आस्तिक हिन्दुओं की दृष्टि में बलराम का महत्त्व विष्णु के किसी भी अवतार की अपेक्षा कम नहीं है और सच पूछिए तो भागवतकार ने इनका चरित्र ऐसा कलुषित नहीं अंकित किया है जैसा कि परमात्मा के पूर्ण अवतार माने जाने वाले श्रीकृष्ण का। इन्होंने भी एक बार द्वारका से ब्रज में जाकर गोपियों के साथ रास किया था; पर उन स्त्रियों के साथ इनका व्यवहार वैसा आपत्ति-जनक तथा अश्लील नहीं मालूम पड़ता जैसा श्रीकृष्ण का पर इनमें एक भारी दोष यह था कि ये घोर पियक्कड़ थे। चतुर्थ परिच्छेद में भागवत का हवाला देते हुए लिख आया हूँ कि द्विविद वानर ने उन्हें सुन्दर रमणियों के बीच में बैठकर मदिरा पीते और मतवालों की तरह गाते हुए देखा था। पुनः ब्रज-सुन्दरियों के साथ रास-विलास करते हुए वे मदिरा पान करके पूरे मतवाले हो रहे थे। भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय ५, श्लोक २१, देखिए—

उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः।
वनेषु व्यचरत् क्षीवोमदविह्वललोचनः ॥२१॥

अर्थ—बलदेव वन में विचरने लगे। मदिरा के नशे से उनकी आँखें विह्वल तथा वे स्वयं उन्मत्त हो रहे थे और स्त्रियाँ उनके चरित गा रही थीं।

महाकवि माघ ने अपने शिशुपाल-वध नामक महाकाव्य में बलदेव के मद्य-पान के विषय में लिखा है—

घूर्णयन् मदिरास्वाद-मदपाटलितद्युती।
रेवती-वदनोच्छिष्ट-परिपूत-पुटे दृशौ ॥

॥ सर्ग २, श्लोक १६ ॥

अर्थ—बलदेव अपनी आँखों को, जिनकी चमक मद्यपान जनित

मद से लाल हो गई थी तथा जिनकी पलकें रतिकालीन चुम्बन के कारण रेवती के मुँह के जूठन से पवित्र हो गई थीं, नचाते हुए बोले। पुनश्च—

ककुद्मि-कन्या-वक्त्रान्तर्वास-लब्धादिवासया।
मुखामोद मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥

॥ सर्ग २, श्लोक २० ॥

अर्थ—बलदेव अपने मुँह में से, राजा ककुद्मी की कन्या रेवती के मुख-कमल में स्थित होने के कारण जो मद्य-गंडूष (कुल्ला) सुरभित हो गया था उसे पी लेने के कारण तत्सम्पर्कजनित सुगन्ध को, निकालते हुए बोले। कहने का अभिप्राय यह कि बलराम इतने भारी शराबी थे कि उन्हें पेय-अपेय का कुछ भी विचार न था; वे अपनी स्त्री रेवती के मुँह में से निकले हुए शराब के कुल्ले को भी सानन्द घोंट जाया करते थे। वे ऐसे घृणित पेय को पी लेने में ज़रा भी आगा-पीछा नहीं करते थे। माघ के समय में हिन्दू-समाज का घोर नैतिक पतन अवश्य हो गया होगा; क्योंकि तभी तो उसने अपने इस महापुरुष के विषय में उनकी मर्यादा के विरुद्ध लिखी गई ऐसी अपमानजनक बातों को चुपचाप सह लिया।

यदि कहा जाय कि बलदेवजी एक अवतारी पुरुष थे; उन्हें समर्थ होने के कारण खाद्य; अखाद्य, पेय, अपेय आदि का कुछ भी भेद न था। सर्वभक्षक अग्नि की तरह वे सर्वथा निर्दोष थे। यदि ऐसी बात थी तो उन्हें सूत-वध के कारण ब्रह्महत्या का दोष क्यों लगा तथा इसके प्रायश्चित्त-स्वरूप उनको तीर्थ-पर्यटन क्यों करना पड़ा? इसकी कथा श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, ७८वें अध्याय में आई है। जब बलदेव ने सुना कि कौरवों और पांडवों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी है, तो उन्होंने यह विचारकर कि दोनों मेरे सम्बन्धी हैं; अतः किसी का भी पक्ष ग्रहण करना मेरे लिए अनुचित होगा, तीर्थयात्रा के बहाने

द्वारका छोड़ दिया और विविध तीर्थों में स्नान करते हुए वे नैमिषारण्य पहुँचे। वहाँ उन्होंने मुनियों के दिए हुए व्यासासन पर बैठकर उन लोगों को कथा सुनाते हुए रोमहर्षण सूत को देखा। बलदेव को देखते ही मुनिगण उठ खड़े हुए और यथाविधि उनका सत्कार किया; किन्तु रोमहर्षण अपने आसन पर बैठा ही रह गया। यह देखकर बलदेव के क्रोध की सीमा न रही। उन्होंने कहा कि यह प्रतिलोमज संकर होता हुआ भी केवल विद्याध्ययन के कारण अपने को सर्वोच्च मान रहा है। इसमें शिष्टाचार और विनय लेश-मात्र भी नहीं है; अतएव यह मार डालने योग्य है। ऐसे अधर्मी लोगों को मारने के लिए ही मेरा अवतार हुआ है—

एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधादपि।
भावित्वात् तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः ॥२८॥

अर्थ—ऐसा कहकर भगवान् बलदेव प्रभु ने, जो दुष्टों को भी मारने से निवृत्त हो चुके थे, उस सूत को स्वकरस्थ कुश के अग्र भाग से मार डाला। होनी होकर ही रहती है। इस पर मुनियों ने उन पर ब्रह्महत्या का दोष लगाया जिसके प्रायश्चित्त के लिए उनके पूछने पर उन्होंने यह व्यवस्था दी—

इल्वलस्य सुतो घोरो वल्वलो नाम दानवः।
सदूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥३८॥

तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम्।
पूयशोणित विण्मूत्र-सुरामांसाभिवर्षिणाम् ॥३९॥

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः।
चरित्वाद्वादशान्मासां स्तीर्थस्नायी विशुध्यसे ॥४०॥

अर्थ—मुनियों ने कहा कि (हे भगवन्) इल्वल का पुत्र वल्वल नामक एक भयंकर दानव प्रत्येक पर्व में आ-आकर हमारे

यज्ञ को दूषित करता है ॥३८॥ हे दाशार्ह ! पीब, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, मदिरा, मांसादि की वर्षा करनेवाले उस पापी का बध कीजिए। यही हम लोगों की परम सेवा होगी ॥३९॥ तदनन्तर अत्यन्त सावधान होकर भारतवर्ष की परिक्रमा कीजिए और बारह महीनों तक व्रतोपवासादि करते हुए तीर्थों में स्नान कीजिए तो आप शुद्ध होंगे ॥४०॥ यदुवंश में दशार्ह नामक एक राजा हो गए हैं जिनकी सन्तान होने के कारण कृष्ण, बलरामादिकों को दाशार्ह कहते हैं।

इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि बलरामजी ने सूत-बध करने पर मुनियों के कहने से प्रायश्चित्त किया तो अवश्य; किन्तु वह प्रायश्चित्त कुछ आत्मशुद्धि के लिए नहीं; प्रत्युत लोक-शिक्षा के लिए उन्होंने किया था जैसा कि उसी प्रसंग के निम्नलिखित श्लोकों से पता चलता है—

अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा।
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ॥३१॥

यद्येतद् ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन।
चरिष्यति भवाँल्लोक संग्रहोऽनन्यचोदितः ॥३२॥

अर्थ—मुनियों ने कहा कि हे भगवन् ! आपने बिना जाने हुए सूत का बध करके ब्रह्महत्या के समान पाप कर डाला। आप योगेश्वर हैं; वेद भी आपको अपने नियम के अनुकूल चलने के लिए बाध्य नहीं कर सकते ॥३१॥ तथापि हे लोकपावन ! यदि आप दूसरों से प्रेरित न होकर स्वयं ही लोगों को शिक्षा देने के लिए इस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करें, तो अत्युत्तम हो ॥३२॥ इस पर बलभद्र जी ने कहा—

करिष्ये वधनिर्देशं लोकानुग्रहकाम्यया।
नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ॥३३॥

अर्थ—मैं लोगों पर अनुग्रह करने के लिए अर्थात् उनको शिक्षा देने के लिए इस हत्या का प्रायश्चित्त करूँगा। आप लोग मुख्य पक्ष में प्रायश्चित्त के जो कुछ नियम हो उन्हें बतावें ॥२३॥

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि बलदेवजी ने जो कुछ प्रायश्चित्त किया था वह आत्मशुद्धि के लिए नहीं; वे तो सर्वथा शुद्ध और निष्पाप हैं; बल्कि लोगों को ब्रह्महत्या रूपी पाप से बचने की शिक्षा देने के लिए ही किया था; क्योंकि यदि वे प्रायश्चित्त नहीं करते तो जनता यही समझती कि ब्रह्महत्या कोई पाप नहीं है; वह पाप रहती तो बलदेवजी उसे कभी नहीं करते; और यदि किया तो उसके लिए वे प्रायश्चित्त अवश्य करते; अतः हम लोग भी निःशंक होकर ब्रह्म-हत्या कर सकते हैं इत्यादि। यह पूर्व पक्ष हुआ; अब उत्तर पक्ष सुनिए—

प्रतिवादी ने कहा तो बहुत ठीक; किन्तु बलदेव और मुनियों के बीच उक्त कथोपकथन से जो ध्वनि निकलती है उसे उसने समझने की कोशिश नहीं की। उक्त कथोपकथन से दो बातें ध्वनित होती हैं—(१) यदि बलदेवजी जैसे महापुरुष को लोकशिक्षा के लिए प्रायश्चित्त करना ज़रूरी है, तो उसी लोकशिक्षा के लिए उन लोगों को सन्मार्ग से कभी विचलित न होना भी ज़रूरी है। उन्हें वैसा काम कभी नहीं करना चाहिए जिसका जनता पर बुरा प्रभाव पड़े और जिसके लिए उनको प्रायश्चित्त का ढोंग रचना पड़े और (२) वेद, शास्त्र आदि के कायदे-क़ानून केवल निर्बलों के लिए हैं सबलों के लिए नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त श्लोकों में 'नाम्नायोऽपि नियामकः' (अर्थात् आपके लिए स्वयं वेद भी नियामक नहीं है), ये शब्द आए हैं। यदि कोई निर्बल आदमी कोई अनुचित कार्य करे तो उस पर सभी लोग चारों ओर से 'मारो-मारो' चिल्लाते हुए लाठी लेकर टूट पड़ते हैं। पर वही काम कोई ज़बर्दस्त आदमी करे

तो किसी का चीं करने का भी साहस नहीं रहता। सभी यही कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि भाई जाने दो; बड़ों का कसूर नहीं होता। लिखा भी है—'समरथ को नहीं दोष गुसाईं' इत्यादि। इस चौपाई का यह भाव कदापि नहीं है कि समर्थों को दोष होता ही नहीं, दोष तो होता है जरूर; पर जनता अपनी असमर्थता के कारण उनके दोषों के प्रति अपनी आँखें बन्द कर लेती है। उन्हें वह किसी प्रकार का दण्ड नहीं दे सकती। बस, उक्त चौपाई का केवल यही भाव है। मुनिगण जानते थे कि बलदेव को ब्रह्महत्या का दोष अवश्य लगा है; पर वे डरते थे कि वे एक ज़बर्दस्त आदमी हैं और साथ-साथ एक भारी पियक्कड़ भी हैं। यदि उन पर सामाजिक बहिष्कार आदि का दबाव डालकर उनसे प्रायश्चित्त कराया जाए तो यह उपाय सफल न हो सकेगा और वे और भी उपद्रव मचाने लगेंगे; अतः मुनि लोगों ने उन्हें प्रशंसात्मक बातें सुनाकर उनको प्रायश्चित्त करने पर राज़ी किया और उनसे प्रायश्चित्त करवा करके ही छोड़ा। चाहे जिस पहलू से इस प्रश्न पर विचार कीजिए, आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि सूत-वध करने से बलदेव अवश्य दोषी हुए थे, जिसके लिए उनको प्रायश्चित्त करना पड़ा। यदि लोक-शिक्षा के ही लिए उन्हें प्रायश्चित्त करना ज़रूरी था तो उसी शिक्षा के लिए उन्हें अपेय तथा अखाद्य वस्तुओं से परहेज़ करना भी ज़रूरी था।

पराशर

मुख्य-मुख्य देवताओं तथा ईश्वरावतारों के आचरणों की आलोचना इस प्रकार कर अब बड़े-बड़े महर्षियों के आचरण पर विचार किया जाता है। वेदव्यास के पिता महर्षि पराशर प्रसिद्ध ब्रह्मर्षियों में एक हैं। वे पराशर-स्मृति नामक धर्मशास्त्र के प्रवर्त्तक भी हैं जो कलियुग के लिए मान्य है। इन्होंने कैवर्तराज-कन्या सत्यवती के गर्भ से व्यास को किस परिस्थिति में उत्पन्न किया, इसकी कथा महाभारत,

आदि पर्व; अध्याय ६३ में आई है। ये महाराज एक बार तीर्थयात्रा को निकले कि अकस्मात् यमुना नदी को इन्हें नाव के द्वारा पार कराती हुई सत्यवती से इनकी चार आँखें हो गईं। चले थे तीर्थयात्रा का पुण्य कमाने, पर यहाँ तो उन्होंने एक दूसरे ही तीर्थ में गोता लगाने को ठाना। वे उसके अतुल रूप-यौवन को देखते ही कामान्ध हो उठे और उसके लाख मना करने पर भी अपने सारे ब्राह्मतेज तथा योगबल को भाड़ में झोंक अपनी कामपिपासा परितृप्त की। महर्षि का मैथुन-विषयक प्रस्ताव सुनकर सत्यवती ने कहा कि हे भगवन्! नदी के दोनों किनारों पर ऋषियों के आश्रम हैं। वहाँ पर ऋषि लोग खड़े हैं; उन लोगों के सामने हम दोनों का मिलन किस प्रकार हो सकता है। इस पर ऋषिराज ने निहार (कुहेसा) उत्पन्न कर दिया जिससे संपूर्ण देश अन्धकारमय हो गया। जब सत्यवती ने देखा कि उसकी पहली आपत्ति खाली गई तो उसने एक दूसरी अड़चन डालकर इस पाप-कर्म को रोकना चाहा—

विद्धि मां भगवन्! कन्यां सदा पितृवशानुगाम्।
त्वत्संयोगच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ ॥७५॥

कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम्।
गृहं गन्तुमृषे चाहं धीमन्! नस्थातु मुत्सहे ॥
एतत् संचिन्त्य भगवन्! विधत्स्व यदनन्तरम् ॥७६॥

अर्थ—सत्यवती ने कहा कि हे भगवन्! मुझे अपने पिता की वशवर्त्तिनी एक कन्या जानिए। हे पाप-रहित महर्षे! आपके समागम से मेरा कन्या-भाव नष्ट हो जाएगा ॥७५॥ कन्या भाव के इस प्रकार नष्ट हो जाने पर, हे द्विजश्रेष्ठ! मैं अपने घर कैसे जा सकूँगी और किस प्रकार जी सकूँगी। हे बुद्धिमम्पन्न इन सब बातों पर विचारकर जो करना हो उसे कीजिए ॥७६॥

पर महर्षि सत्यवती की इस उचित आपत्ति को भी कब मानने वाले थे! वे तो उस समय सातवें आसमान पर सवार हो रहे थे! उन्होंने बेचारी सरलहृदया उस धीवर-कन्या को अपने माया-जाल में फँसाकर अपनी मनःकामना पूरी करके ही छोड़ी! अपनी जिस अलौकिक शक्ति के द्वारा महर्षि ने नीहार उत्पन्न कर दिया था तथा जिसके द्वारा सत्यवती की शारीरिक दुर्गन्ध को दूरकर उसकी जगह एक विलक्षण सौरभ का संचार कर दिया था वह शक्ति कुसुमायुध के किसलय-कोमल शराघातों के सहने में असमर्थ सिद्ध हुई! आश्चर्य है कि जो अपनी इन्द्रियों के इस प्रकार दास हैं कि तीर्थ-पर्यटन जैसे धार्मिक कृत्य करते समय पुण्यसलिला कालिन्दी में भी अपने मन को शुद्ध बनाए रखने में अक्षम हों उन्हें भी अन्ध-विश्वासिनी यह हिन्दू जाति समर्थ मानने में तनिक भी नहीं हिचकती!

विश्वामित्र

महर्षियों के पतन के दूसरे उदाहरण विश्वामित्र हैं, जिन्होंने मेनका की रूपराशि पर एकदम मोहित होकर अपनी सारी तपस्या को एकबारगी मिट्टी में मिला दिया और जिसके फल-स्वरूप दुष्यन्त की प्रेमिका शकुन्तला का जन्म हुआ। इस घटना का विवरण महाभारत, आदि पर्व, अध्याय ७२ में आया है। महर्षि विश्वामित्र की उग्र तपस्या देखकर देवराज इन्द्र को यह भय हुआ कि कहीं महर्षि अपनी तपस्या से इन्द्रपद न छीन लें। अतः उसने उनका तप भङ्ग करने के लिए मेनका अप्सरा को उनके समीप भेजा। वह महर्षि के सामने जाकर क्रीड़ा करने लगी कि इतने में पवन देव ने उस सर्वाङ्ग सुन्दरी के शरीर से उसके चंद्रिका-शुभ्र वस्त्र उड़ा दिया। महर्षि का विवेक उसके नग्न शरीर पर दृष्टि पड़ते ही उड़ गया और उन्होंने अपने पास बुलाया—

तस्या रूपगुणान् दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा।
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः॥७॥

न्यमंत्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छद निन्दिता ।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौव्याहरतां तदा ॥८॥

रममाणौ यथाकामं यथैक-दिवसं स तथा ।
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥९॥

अर्थ—ब्रह्मर्षियों में श्रेष्ठ विश्वामित्र ने, उसके रूप और गुणों को देखकर काम के वश में होते हुए उसके साथ समागम की इच्छा की ॥७॥ और उन्होंने उसे अपने पास बुलाया और अनिन्दित सुन्दरी वह भी कामोपभोग के लिए इच्छुक हो गई । उन दोनों ने वहाँ पर बहुत दिनों तक मनमाना विहार किया ॥८॥ मनमाना विहार करने से वह सुदीर्घ काल उन दोनों को एक दिन की तरह मालूम हुआ । उन मुनि ने मेनका में शकुन्तला को उत्पन्न किया ॥९॥

पुराणों एवं महाभारतादि ऐतिहासिक ग्रन्थों में कितने महर्षियों के विषय में यह लिखा मिलता है कि उनका वीर्य अमुक अप्सरा को देखते ही स्खलित हो गया, जिसके फलस्वरूप अमुक व्यक्ति की उत्पत्ति हुई । कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध वीर द्रोणाचार्य का जन्म-वृत्तान्त महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १३१ में इस प्रकार लिखा है कि महर्षि भरद्वाज एक बार गंगा-स्नान को गए, वहाँ पर घृताची नामक अप्सरा के अलौकिक सौन्दर्य को देखते ही उनका मन डिग गया और उनका वीर्य स्खलित हो गया । उस वीर्य को उन्होंने द्रोण नामक यज्ञ-पात्र में रख दिया जिससे उस पात्र से जन्मे हुए बालक का नाम द्रोण पड़ा—

भरद्वाज

सोऽभिषेक्तुं ततो गंगां पूर्वमेवागमन्नदीम् ।
महर्षिभिर्भरद्वाजो हविर्धाने चरन् पुरा ॥१०॥

ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः ।
रूपयौवनसम्पन्नां मददृप्तां मदालसाम् ॥११॥

तस्याः पुनर्नदीतीरे वसनं पर्य्यवर्त्तत ।,
व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ॥१२॥
तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्यधीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥१३॥
ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥१४॥

अर्थ—पूर्वकाल में महर्षि भरद्वाज अग्निहोत्र करने कि अभिधाय से अन्य महर्षियों के साथ गंगा-स्नान को गए ॥१०॥ वहाँ पर उन्होंने रूप-यौवन-सम्पन्न साक्षात् घृताची अप्सरा को, जो यौवन-मद में माती हुई झूम रही थी, नहाकर उठते हुए देखा ॥११॥ पुनः नदी के तट पर उसका वस्त्र खिसक गया। नग्नावस्था में उसे देखकर महर्षि काम के वश में हो गए ॥१२॥ बुद्धिमान् भरद्वाज का मन उस रमणी में आसक्त हो गया और उनका वीर्य स्खलित हो गया। उस वीर्य को उन्होंने द्रोण में रख दिया ॥१३॥ बुद्धिमान् महर्षि के उस द्रोण से द्रोण का जन्म हुआ, जिन्होंने सभी वेदों तथा वेदांगों का अध्ययन किया ॥१४॥

महाभारत के अन्य पात्र कृप और कृपी का भी जन्म इसी प्रकार हुआ था जिसकी कथा आदि पर्व के १३०वें अध्याय में लिखी है।

गौतमपुत्र शरद्वान्

महर्षि गौतम के पुत्र शरद्वान् थे, जिनकी धनुर्विद्या की प्रवीणता तथा उग्र तपस्या से इन्द्र इतना भयभीत हुआ कि उसने उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए जानपदी नाम की अप्सरा को भेजा। जानपदी की रूपच्छटा देखकर महर्षि शरद्वान की सुध-बुध इस प्रकार जाती रही कि उनका वीर्य स्खलित हो गया और उनको मालूम तक न हुआ। वह वीर्य सरकंडे की जड़ पर गिरा, जिससे दो बच्चे, एक पुत्र और दूसरी कन्या, एक साथ उत्पन्न हुए। ये दोनों बच्चे शिकार

खेलने को निकले राजा शान्तनु के हाथ लगे और उन्होंने कृपापूर्वक इनका लालन-पालन किया जिससे ये क्रमशः कृप और कृपी कहलाए—

कृपया यन्मया बालाविमौसंबर्द्धिताविति ।
तस्मात्तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ॥१६॥

अर्थ—उन राजा शान्तनु ने, यह विचारकर कि मैंने ही इन दोनों बच्चों को कृपापूर्वक पाल-पोसकर बड़ा किया है, अपनी कृपा से पालित उन दोनों का नाम उन्होंने कृप और कृपी रख दिया।

महर्षि ऋष्यशृंग की उत्पत्ति प्रथम परिच्छेद में लिख आया हूँ कि ये हरिणी के गर्भ से हुए थे। ये महर्षि विभाण्डक के पुत्र हैं।

विभाण्डक इनकी उत्पत्ति अध्यात्म-रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३ में इस प्रकार लिखी है कि एक बार महर्षि विभाण्डक किसी बड़े झील में स्नान कर रहे थे कि उर्वशी अप्सरा उनकी नज़रों के सामने से गुजरी। उसको देखते ही मुनि का वीर्य जल में स्खलित हो गया, जिसे किसी प्यासी मृगी ने जल के साथ ही पी लिया और वह गर्भिणी हो गई—

तस्यां मृग्यां समभवत् तस्य पुत्रो महाऋषिः ।
ऋष्यशृंगो तपोनिष्ठो बनएवाभ्यवर्द्धत ॥१०॥

तस्यर्षेः शृंगशिरसि राजन्नासान्महात्मनः ।
तेनर्ष्यशृङ्ग इत्येव सदा सप्रथितोऽभवत् ॥११॥

अर्थ—उन्हीं विभाण्डक के पुत्र तपस्वी महर्षि ऋष्यशृङ्ग उसी हरिणी में उत्पन्न हुए और वन में ही सयाने हुए ॥१०॥ उन महात्मा ऋषि के सिर में एक सींग था; अतएव हे राजन्! वे सदा ऋष्यशृङ्ग नाम से प्रसिद्ध हुए ॥११॥ इस कथा को वशिष्ठ ने दशरथ से कहा है।

पुराणों के पन्ने उलटने पर इस प्रकार की और भी अनेक पैदाइशें मिलेंगी जहाँ पर किसी महर्षि का वीर्य किसी अप्सरा को देखते ही स्खलित हो गया जिससे अमुक व्यक्ति की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण केवल कुछ व्यक्तियों की ही उत्पत्ति उदाहरण-स्वरूप उद्धृत कर दी गई। इन पैदाइशों के विषय में एक विचारणीय बात तो यह है कि पुरुष का वीर्य स्त्री-गर्भाशय भिन्न किसी अन्य स्थान में स्खलित होने पर कभी भी बच्चा उत्पन्न नहीं कर सकता। उसका ऐसा करना केवल असंभव ही नहीं, अपितु प्राकृतिक नियम के विरुद्ध भी है। यदि कहें कि ये ऋषिगण साधारण श्रेणी के मनुष्य नहीं थे कि वे प्रकृति के नियमों के अधीन होकर रहें। उनमें वह योगबल था, वह अलौकिक शक्ति थी कि वे असंभव को भी संभव कर दिखावें; रजोवीर्य क्या, बिना इनके भी बच्चे उत्पन्न कर दें। पर मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि देवताओं तथा ऋषियों की यह विलक्षण शक्ति केवल धूर्त्तों की कपोल कल्पना है। उनका हृदय साधारण मनुष्यों की ही तरह काम-क्रोधादि विकारों से परिपूर्ण था। वे नितान्त दुर्बल चित्त थे; क्योंकि तभी तो वे किसी सुन्दर स्त्री को देखने पर अपने को रोक नहीं सकते थे और उनका वीर्य स्खलित हो जाया करता था। पुराणकारों ने अपने पाठकों को निरा बुद्धू समझा होगा; क्योंकि तभी तो उन्होंने अपने पाठकों से असंभव तथा अप्राकृतिक बातों का मनवाने की आशा की होगी। पर जादू वह जो शिर पर चढ़कर बोले। धूर्त्त-समुदाय अपने पाठकों को बहकाने की धुन में इतना बेसुध हो गया कि उसने अपनी इस बहक में अपने तथा कथित अलौकिक शक्तिशाली ऋषियों के विषय में परस्पर विरोधी बातें, एक ओर विलक्षण योग-बल और दूसरी ओर असीम आत्मिक दौर्बल्य, दिखाकर उन विचारों का भंडा-फोड़ कर दिया! भरद्वाजादि ऋषियों का घृताच्यादि-

अप्सराओं के साथ अवश्य ही समागम हुआ होगा, जिससे द्रोणादिक उत्पन्न हुए। यह केवल उनके कुकर्मों को छिपाने के ही लिए लिख दिया गया है कि द्रोणाचार्य द्रोण-पात्र से तथा कृप-कृपी सरकंडे में उत्पन्न हुए। वास्तविक बात तो यह मालूम होती है कि इनके जननी-जनक इन्हें अवैध मैथुन द्वारा उत्पन्न कर और द्रोणपात्र तथा सरकंडे की झाड़ी में रखकर चले गए थे। आजकल भी अवैध सन्तान अपने माता-पिताओं द्वारा इसी प्रकार फेंक दी जाती है। ऋष्यशृंग की उत्पत्ति के विषय में यह भी जान लेना चाहिए कि देवकन्या उर्वशी ही शापवश मृगी (तन्नामधारिणी कोई अनार्य्य जाति की स्त्री न कि पशु-विशेष) हो गई थी जो उनकी जननी बनी। अध्यात्म रामायण के पूर्वोक्त स्थान पर देखिए—

देवकन्ये ! मृगीभूत्वा मुनिं सूय विमोद्यसे।
अमोघत्वादपेश्चैव मावित्वाद्दैवनिर्म्मितेः ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मा ने उर्वशी से कहा कि हे देवकन्ये ! तुम मुनि को पैदाकर शाप मुक्त होओगी। ऋषि के अमोघत्व तथा दैव-विधान के अवश्यंभावित्व के कारण उस मृगी में ऋष्यशृंग उत्पन्न हुए।

अब महर्षि वशिष्ठ की उत्पत्ति-कथा सुनिए। ये पूर्व जन्म में ब्रह्मा के मानस पुत्र कहलाते थे; अर्थात् ये कुछ ब्रह्मा के औरस पुत्र न थे; वरन् ब्रह्मा ने इन्हें अपने मन से पुत्र मान

मित्रावरुण

लिया था; क्योंकि 'मानस' शब्द का अर्थ संस्कृत व्याकरणानुसार 'मनसाकृतः (मनस्-अण्) इति मानसः' होता है। ब्रह्मा के और भी कई मानस पुत्र हैं। पुनः ये ही वशिष्ठ दूसरे जन्म में मित्रावरुणों के वीर्य से उर्वशी अप्सरा में उत्पन्न हुए। अप्सराएँ कुछ कुलवधुएँ नहीं थीं। वे देवलोक की वेश्याएँ थीं; कारण कि वे किसी पुरुष-विशेष की पत्नी बनकर नहीं रहती थीं।

जब जिसके साथ चाहा उसके साथ वे रहा करती थीं। यही उर्वशी ही बहुत काल तक चन्द्रवंशीय राजा पुरूरवा के साथ रह चुकी थी। अतएव महर्षि वेश्यापुत्र कहे गए हैं।

वशिष्ठ उर्वशी के पुत्र कैसे हुए, इसकी कथा श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९, अध्याय १ तथा वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ५५-५७ में आई है। भागवत की कथा संक्षिप्त, पर उक्त रामायण की कथा कुछ विस्तृत है; अतः रामायण की ही कथा का यहाँ सार दिया जाता है। प्रसिद्ध सूर्यवंशीय नरेश इक्ष्वाकु के बारहवें पुत्र राजा निमि थे। निमि ने गौतम मुनि के आश्रम के समीप वैजयन्त नामक एक नगर बसाया और वहीं पर राज्य करते हुए दीर्घसत्र नाम यज्ञ करने का विचार किया। इस कार्य के लिए राजा ने महर्षि वशिष्ठ को पुरोहित वरण किया। परन्तु वशिष्ठ के यहाँ इन्द्र का निमंत्रण यज्ञ कराने के लिए पहले से ही आ चुका था। अतः वे निमि को इन्द्र के यहाँ से अपने लौट आने तक ठहर जाने का आदेश देकर देवराज के यहाँ यज्ञ कराने चले गए। निमि ने वशिष्ठ का आदेश न मानकर उनकी अनुपस्थिति में गौतम ऋषि को अपना पुरोधा बनाकर अपना यज्ञ पूरा किया। जब वशिष्ठ इन्द्र के यहाँ से लौटे, तो वे राजा के इस व्यवहार पर बहुत क्रुद्ध हुए। निदान दोनों में झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि दोनों ने एक दूसरे को शरीर-पात का शाप दे दिया। शाप के परिणाम-स्वरूप दोनों शरीर-हीन होकर वायु-रूप हो गए। तत्पश्चात् उर्वशी अप्सरा को वरुणालय में क्रीड़ा करती हुई देखकर मित्र, जो उस समय वहीं पर आए हुए थे, और वरुण, ये दोनों देवता इस प्रकार कामपीड़ित हुए कि दोनों ने एक घड़े को ही उर्वशी की योनि कल्पनाकर उसमें अपना-अपना वीर्य-पात कर दिया जिससे अगस्त्य और वशिष्ठ उत्पन्न हुए—

यःसकुम्भो रघुश्रेष्ठ ! तेजःपूर्णो महात्मनोः।

तस्मिंस्तेजोमयौ विप्रौ संभूतावृषिसत्तमौ ॥४॥
पूर्वं समभवत्तत्र अगस्त्यो भगवानृषिः ।
नाहं सुतस्तवेत्युक्त्वा मित्रं तस्मादपाक्रमत् ॥५॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य मित्रावरुण-संभवः ।
वशिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकु-दैवतम् ॥७॥ सर्ग ॥५७॥

अर्थ—रामचन्द्र लक्ष्मण से कहते हैं कि हे रघुवंशियों में श्रेष्ठ ! उस घड़े में, जो दो महात्माओं के, अर्थात् मित्र और वरुण के, तेज से पूर्ण था, दो तेजस्वी ऋषिवर उत्पन्न हुए ॥४॥ उसमें पहले भगवान अगस्त्य ऋषि उत्पन्न हुए जो मित्र से यह कहकर वहाँ से चले गए कि मैं केवल आपका ही पुत्र न हूँ ॥५॥ कुछ काल के बाद उन्हीं मित्रावरुण से तेजस्वी वशिष्ठ उत्पन्न हुए जो इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के कुलपूज्य देवता हुए ॥७॥

अब 'पञ्चकन्याओं' के चरित्र पर अपना विचार प्रकटकर इस परिच्छेद को समाप्त करता हूँ। पञ्चकन्या विषयक जिस श्लोक का प्रचार सर्वसाधारण में देखा जाता है उसका स्वरूप यह है—

अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा ।
पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातक-नाशिनीः ॥

अर्थ—अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती और मन्दोदरी, इन पंच-कन्याओं को, जो महापातकों का नाश करने वाली हैं, नित्य स्मरण किया करे।

पर इस श्लोक में 'पञ्चकन्या' शब्द पर किसी-किसी की यह आपत्ति है कि उक्त सभी स्त्रियाँ विवाहिता थीं; अतः उनको कन्या कहना अनुचित है। कन्या तो कुमारी लड़की को कहते हैं। अमर-कोष, द्वितीयकाण्ड, मनुष्यवर्ग, श्लोक ८ में लिखा है—'कन्या, कुमारी, गौरीतु, नग्निकाऽनागतार्त्तवा' इत्यादि। मेदिनीकोष में लिखा

है—'कन्या, कुमारिकागौर्योरोषधीराशिभेदयोः'; अर्थात् कन्या शब्द कुमारी (अविवाहिता), गौरी (अष्टवर्षीया, औषधी विशेष (घिकु-आर) और कन्या-राशि, इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी के इस 'कन्यायाः कनीन च' (४।१।११६) सूत्र पर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि, काशिकाकार, कौमुदीकार, तत्वबोधिनी आदि सब टीकाकारों का यही मत है कि कुमारी अर्थात् अविवाहिता का नाम कन्या है। अतः 'पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं' की जगह 'पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं' पाठ होना चाहिए, जिसका अर्थ है अहल्यादि इस पंचक को ना अर्थात् मनुष्य नित्य स्मरण किया करे। यहाँ ना शब्द नृ शब्द का प्रथमा एक वचन है जिसके रूप ना नरौ नरः इस प्रकार चलते हैं।

चाहे जो पाठ शुद्ध हो, हमें तो केवल इन स्त्रियों के आचरण पर विचार करना है और यह देखना है कि सचमुच ये स्त्रियाँ इस प्रकार पूताचरणा थीं कि इनके नाम स्मरण करने से हमारे सब पाप कट जाते हैं। कोई-कोई महाशय पूर्वोक्त स्त्री-पंचक में कुन्ती का नाम न लेकर उसकी जगह सीता का नाम लेते हैं। पर मुझे यह अनुचित जान पड़ता है; कारण कि बहुपतिकाओं की मंडली में एक-पतिपरायणा सीता को बैठालना घोर अन्याय है। अतः उक्त श्लोक में जिनके नाम आए हैं उन्हीं के आचरण पर विचार किया जाएगा।

(१) अहल्या—अहल्या की कथा इसी परिच्छेद में पहले लिख चुका हूँ जिससे पाठकों को भली भाँति मालूम हो गया होगा कि

अहल्या

वह परपुरुष इन्द्र को पहचानकर भी उसके साथ कुकर्म करने पर सहमत हो गई। यदि धोखे में आकर वह अपना सतीत्व खोए होती, तो गौतम केवल इन्द्र को ही शाप देते; अहल्या को नहीं; पर वे जानते थे कि

अहल्या इन्द्र के तुल्य ही अपराधिनी है; अतः उन्होंने उसको भी शाप दिया। वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि इन्द्र ने महर्षि गौतम की क्रोधाग्नि भड़काकर उनका तपो-भंग करने के लिए ही उनकी स्त्री का सतीत्व नष्ट किया था। पर चाहे जिस अभिप्राय से इन्द्र ने यह कुकर्म किया हो, इसमें अहल्या भी कसूरवार अवश्य थी। कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्र एक सूक्ष्म तथा दिव्य शरीरधारी देवता था। उसका भौतिक शरीरधारी मनुष्यों की तरह मैथुन करना नहीं माना जा सकता*; अतः अहल्या केवल भाव दोष से दूषित थी; मैथुन-जन्य व्यभिचार दोष से नहीं। पर ऐसा मान लेने पर भी अहल्या का छुटकारा होते नहीं देख पड़ता; क्योंकि जो स्त्रियाँ पक्की पतिव्रता होती हैं उनका मन सुन्दर से भी सुन्दर परपुरुष को देखकर नहीं क्षुब्ध होता; अतः इससे यह सिद्ध होता है कि अहल्या एक मनचली स्त्री थी; पक्की सती नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी जान लेना चाहिए कि देवताओं को सभी सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त रहती हैं। वे आवश्यकतानुसार स्थूल, सूक्ष्म आदि सभी प्रकार के शरीर धारण कर सकते हैं। अतः संभव है कि इन्द्र ने अहल्या के साथ संगम करने के लिए भौतिक शरीर धारण कर लिया हो; क्योंकि तभी तो अहल्या ने इन्द्र के साथ कामोपभोग से संतुष्ट होकर स्वविषयक 'कृतार्थोऽस्मि', अर्थात् मैं कृतार्थ हूँ, ऐसा वचन कहा। और सबसे भारी बात तो यह है कि क्या गौतम पागल थे जो उन्होंने निरपराध अबला पर अपने शाप-रूपी वज्र का प्रहार किया? अहल्या केवल भाव दूषित नहीं थी।

---

*यदि ऐसी बात है तो विष्णु के प्रसंग से वृन्दा का सतीत्व कैसे नष्ट हुआ और यदि नष्ट नहीं हुआ तो जलन्धर कैसे मारा गया? अतः यह निर्विवाद है कि इन्द्र के साथ प्रसंग करने से अहल्या का भी सतीत्व अवश्य नष्ट हुआ।

उसका इन्द्र के साथ वास्तविक कामोपभोग उसके 'कृतार्थाऽस्मि' इस वचन से सिद्ध होता है।

(२) द्रौपदी—यह पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद की कन्या थी जो यज्ञ की वेदी से उत्पन्न हुई थी। इसे अर्जुन ने स्वयम्वर में लक्ष्य-वेध द्वारा जीतकर प्राप्त किया था; पर बाद में इसको युधिष्ठिर आदि पाँचों ही पाण्डवों की स्त्री बनना पड़ा। द्रौपदी के एक साथ पाँच पतियों के द्वारा ब्याहो जाने के निम्नलिखित कारण बताए जाते हैं जिनमें कोई भी सन्तोषजनक नहीं मालूम पड़ता—

द्रौपदी

(क) माता कुन्ती का आदेश। पाँचों पाण्डव अपनी माता कुन्ती के साथ वारणावत से भागकर द्रौपदी का स्वयम्बर देखने पाञ्चाल-नगर गए थे और वहाँ वे एक कुम्हार के घर में ब्राह्मण-वेष धरकर छिपे रहते थे। महाभारत, आदि पर्व, अध्याय १६२, में लिखा है—

गत्वा तु तां भार्गव कर्म्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तां याज्ञसेनीं परम प्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्रयौ ॥१॥
कुटीं गता सा त्वनवेद्य पुत्रौ, प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमेत्युवाच ॥२॥

अर्थ—महानुभाव तथा नरश्रेष्ठ भीम और अर्जुन परम प्रसन्न चित्त से उस कुम्हार के घर में कुन्ती के पास पहुँचकर द्रौपदी के विषय में बोले कि आज यह भिक्षा मिली है ॥१॥ कुन्ती, जो उस समय कुटी के भीतर थी, कुछ न देखकर अपने दोनों पुत्रों से बोली कि तुम सभी भाई मिल करके उस भिक्षा को भोगो। पर पीछे द्रौपदी को देखकर उसने कहा कि हा! मैंने कैसी अनुचित बात कह डाली! ।२॥

कुन्ती के मुँह से उक्त अधर्म की बात वस्तुस्थिति को बिना

जाने हुए निकली थी। अतः उसके लिए वस्तुस्थिति के मालूम हो जाने पर अपनी बात को वापस ले लेना ही उचित था जिसमें धर्म की अवहेलना न होने पावे। पर उसने वैसा नहीं किया। वह द्रौपदी को पकड़े युधिष्ठिर के पास गई और उनसे वह उपाय पूछा जिससे उसकी बात भी न झूठी होने पाए और द्रौपदी को एक साथ पाँच पतियों को ग्रहण करने में न कोई अधर्म हो और न कोई दुःख हो। पर युधिष्ठिर जानते थे कि कुन्ती यदि अपनी बात पर अड़ी रहेगी तो धर्म की रक्षा न हो सकेगी; पहले तो उन्होंने अर्जुन से कहा कि द्रौपदी का विवाह केवल तुम्हारे ही साथ होना ठीक है; क्योंकि तुम्हीं ने उसे जीता है। पर जब उन्होंने देखा कि द्रौपदी की अलौकिक रूपराशि को देखते ही उनके सभी भाई मोहित हो रहे हैं तो उन्हें भय हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि द्रौपदी का विवाह किसी एक के साथ कर देने पर सभी भाई आपस में लड़ने लगें। अतः इन सब बातों को सोच-विचारकर तथा व्यास की यह कथा स्मरणकर कि द्रौपदी पूर्व जन्म की एक ऋषि-कन्या है, जिसको शिवजी से एक साथ ही पाँच वर मिलने का वर मिला है, उन्होंने यह व्यवस्था दी कि द्रौपदी सभी भाइयों की स्त्री होगी—

तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम् ।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥१३॥
काम्यं हि रूपं पाञ्चाल्याः विधात्रा विहितं स्वयम् ।
बभूवाधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ॥१४॥
तेषामाकारभावज्ञः कुन्ती-पुत्रो युधिष्ठिरः ।
द्वैपायन-वचः सर्वं सस्मार मनुजर्षभः ॥१५॥
अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् मिथो भेदभयान्नृपः ।
सर्व्वेषां द्रौपदी भार्य्या भविष्यति हि नः शुभा ॥१६॥

अर्थ—बड़े भारी तेजस्वी पाण्डवों ने ज्यों ही द्रौपदी को देखा

त्यों ही कामदेव ने उनके इन्द्रिय-समूह को क्षुब्धकर उन पर अपना प्रभाव जमा दिया ॥१३॥ विधाता ने द्रौपदी के सुहावने स्वरूप को दूसरी स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा सभी जीवों के मन को हरने वाला बनाया था ॥१४॥ मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर ने अपने भाइयों का रंग-ढंग देखकर उनके जी की बात जान ली और साथ-साथ व्यास की कही हुई सारी बातें भी उनको स्मरण हो गईं ॥१५॥ वे राजा युधिष्ठिर यह सोचकर कि कहीं भाइयों में परस्पर कलह न हो, उन इकट्ठे हुए भाइयों से बोले कि शुभ-लक्षण द्रौपदी हम सब की स्त्री होगी ॥१६॥

यह है व्यवस्था महाराज युधिष्ठिर की जो धर्म के अवतार माने जाते थे ! वे द्रौपदी जैसी अपूर्व सुन्दरी का अधरामृत पान करने के लिए स्वयं भी इतने लालायित हो रहे थे कि उन्होंने इस बात का तनिक भी विचार न किया कि उनके छोटे भाई अर्जुन के द्वारा जीतकर लाई हुई द्रौपदी उनकी अनुज-वधू थी; अतः उसके साथ उनका विवाह करना एक घोर अधर्म था । आगे चलकर जब उनके भावी श्वसुर राजा द्रुपद ने एक स्त्री का पाँच पतियों के साथ एक ही समय में विवाह होने के प्रस्ताव पर आपत्ति की, तो युधिष्ठिर ने उनसे यहाँ तक झूठ बोल दिया कि हम लोग पाँचों भाइयों ने यह एक नियम बना रखा है कि किसी भी रत्न का सभी भाई बाँटकर भोग करें—

एष नः समयो राजन्, रत्नस्य सहभोजनम् ।
न च तं हातु मिच्छामः समयं राज-सत्तम ॥२५॥

अर्थ— हे राजन् ! रत्न का एक साथ भोग करना हम लोगों का नियम है । हे राजाओं में श्रेष्ठ ! हम लोग इस नियम को छोड़ना नहीं चाहते ॥ आदि पर्व, अध्याय १९६, श्लोक २५॥

युधिष्ठिर की उक्त नियम वाली बात सरासर ग़लत थी। यदि पाण्डवों में वस्तुतः ऐसा कोई नियम रहता, तो अर्जुन के ही द्वारा यदुवंशियों को जीतकर लाई हुई सुभद्रा का विवाह पाँचों ही पाण्डवों के साथ न होकर केवल अर्जुन के ही साथ क्यों हुआ? हिडिम्बा केवल भीमसेन की पत्नी क्यों बनी? उलूपी का विवाह अर्जुन के साथ-साथ अन्य भाइयों के भी साथ क्यों नहीं हुआ? आखिर सभी भाइयों की अपनी-अपनी अलग-अलग स्त्रियाँ थीं; वे सभी स्त्रियाँ सभी भाइयों की समान सम्पत्ति क्यों नहीं हुई? अतः यह निर्विवाद है कि युधिष्ठिर की उक्त नियम वाली बात कोरी झूठ थी।

द्रौपदी के निरुपम यौवन का रसास्वादन करने की उत्कट आकांक्षा के वशीभूत होकर धर्मराज के सपूत पाण्डवाग्रगण्य युधिष्ठिर महाराज ने द्रुपद के साथ और भी जो अन्धाधुंधी के खेल खेले थे, उन्हें भी पाठकों की सेवा में पेश कर देना उचित जान पड़ता है। युधिष्ठिर ने द्रुपद से केवल उक्त मिथ्या नियम की ही बात नहीं कही; पर यह भी कहा कि माता कुन्ती की भी आज्ञा है कि द्रौपदी का उपभोग पाँचों ही भाई करें तथा मैंने आज तक कभी भी झूठ नहीं कहा और न मेरी मति अधर्म में प्रवृत्त हुई। आदि पर्व का उक्त अध्याय ही देखिए—

सूक्ष्मो धर्मो महाराज ! नास्य विद्मो वयं गतिः।
पूर्वेषा मानुपूर्वेण यातं वर्त्मनुयामहे ॥२९॥
न मे वागनृतं प्राह, नाधर्मे धीयते मतिः।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनो गतम् ॥३०॥
एष धर्मो ध्रुवो राजश्चरैनमविचारयन्।
मा च शंका तत्र ते स्यात् कथं चिदपि पार्थिव ॥३१॥

अर्थ—युधिष्ठिर ने द्रुपद से कहा कि हे महाराज! धर्म एक

सूक्ष्म वस्तु है। उसकी गति हम लोग जान नहीं सकते। पर पहले के लोग जिस मार्ग से गए हैं; उसी मार्ग से हम लोग चलते हैं ॥२६॥ मैं कभी झूठ नहीं बोलता और न मेरा मन अधर्म में प्रवृत्त हुआ। माता कुन्ती ने भी यही आज्ञा दी है और यही बात मेरे मन में भी बैठ गई है ॥३०॥ हे राजन्! यही सुनिश्चित धर्म है; बिना विचारे आप इस धर्म का पालन करें। हे पृथ्वीनाथ! आप इस बारे में किसी प्रकार की शंका न करें ॥३१॥

प्रिय पाठक-वृन्द! आपने देखा कि किस सफ़ाई के साथ युधिष्ठिर ने चालबाजी से भरी हुई अपनी सारी बातें राजा द्रुपद से कह डालीं! यदि धर्म की सूक्ष्मता के कारण उसकी गति किसी को मालूम नहीं, तो युधिष्ठिर को कैसे मालूम हो गया कि एक कन्या का युगपत् पति-पञ्चक-ग्रहण एक सुदृढ़ धर्म है जिसका पालन राजा द्रुपद को निःशंक होकर करना चाहिए। यदि पूर्वजों के चले हुए मार्ग का अनुसरण करना ही धर्म था, तो उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने स्त्रियों के उस पुरातन पशु-धर्म को, जिसके अनुसार वे गाय आदि पशुओं की तरह स्वच्छन्द रहकर चाहे जिस किसी भी पुरुष के साथ मन-माना विहार किया करती थीं; न सहकर उस पर प्रतिबन्ध क्यों लगा दिया? कुन्ती ने तो वैसी आज्ञा अवश्य दी थी; पर जिस परिस्थिति में उसने वह पापमयी आज्ञा दी थी, उसे युधिष्ठिर ने राजा द्रुपद से छिपा ली। सत्य का छिपाना भी एक प्रकार का झूठ बोलना है॥ युधिष्ठिर ने झूठ की झड़ी-सी लगा दी है; तथापि वे कहते हैं मैं कभी भी झूठ नहीं बोला! वे अपनी अनुज-वधू के साथ विवाह करने पर तुले हुए हैं; पर कहते हैं कि मेरा मन पाप की ओर कभी नहीं झुका! वाह रे आदर्श सत्यवादी तथा आदर्श धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर!!

(ख) ऋषिकन्योपाख्यान। द्रौपदी को एक साथ पाँच पतियों के मिलने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि वह पूर्व जन्म

में कोई ऋषि-कन्या थी जो रूपवती तथा गुणवती होने पर भी योग्य वर को पाने में असफल हुई। तब उसने अपनी तपस्या से शिव को प्रसन्नकर उनसे पति पाने का वरदान माँगा। पर चूँकि उसने शिव से 'पतिं देहि' इस वर को पाँच बार माँगा था, अतः उन्होंने उसके लिए उसके दूसरे जन्म में पाँच पतियों के मिलने का वरदान दे दिया। वाह रे औढरदानी शिव! माँगा उसने एक और दिया आपने पाँच! यद्यपि ऋषि-कन्या ने शिव से स्पष्ट शब्दों में कहा था कि वह केवल एक ही पति चाहती है, पाँच नहीं, तथापि उन्होंने उसके पाँच बार माँगने का बहानाकर उसे पाँच पति दे दिए। मालूम होता है कि वर देने के समय बंभोला शंकरजी ने गहरी भाँग छान ली थी तथा गाँजे का एक लम्बा दम लगा लिया था, जिससे उनको एक स्त्री के लिए पाँच पतियों की व्यवस्था अधर्म नहीं मालूम हुई! इस उपाख्यान को व्यासदेव ने पाण्डवों से उनके पाञ्चाल नगर जाने के पहले, उस ब्राह्मण के घर में जहाँ वे अपनी माता के साथ टिके हुए थे; कहा था। आदि पर्व का १७० अध्याय पढ़िए—

द्रुपदस्य कुले जज्ञे सा कन्या देवरूपिणी।
निर्दिष्टा भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ॥१४॥

अर्थ—वह ऋषि-कन्या राजा द्रुपद के कुल में जन्मी है। वह देव-कन्या की सी रूपवाली है। उसमें कोई भी निन्दनीय बात नहीं है। उसका नाम कृष्णा है और वही आप लोगों की पत्नी ठहराई गई है ॥१४॥ आगे चलकर यह दिखलाया जाएगा कि यह उपाख्यान एक कपोल-कल्पना-मात्र है जो मानने योग्य नहीं है। इस उपाख्यान को व्यास ने द्रुपद से भी पीछे कहा था।

(ग) पञ्चेन्द्रोपख्यान। राजा द्रुपद द्रौपदी के विवाह-विषयक इसी भारी उधेड़बुन में पड़े हुए थे कि एकाएक वेदव्यास जी उनके घर आ धमके। व्यासजी भी एक अजीब जीव मालूम

होते हैं। नारदकी तरह वे गाहे-बे-गाहे हर जगह मौजूद हो जाते हैं। पर उनकी अमलदारी नारद की तरह तीनों लोक न होकर केवल पाण्डव-संसार ही था जिसे वे अपने दिव्य दर्शन से रह-रहकर पवित्र किया करते थे। व्यास के आने पर श्रीमान् युधिष्ठिर जी ने फिर वही अपना पुराना राग अलापना शुरू कर दिया! वे कहने लगे कि मैं आज तक कभी भी झूठ नहीं बोला, मेरा मन कभी भी अधर्म की ओर नहीं झुका, मेरे मन में तो ऐसा भासता है कि द्रौपदी का विवाह हम पाँचों भाइयों के साथ कर देना कोई अधर्म नहीं है और सबसे बढ़कर तो यह बात है कि सभी गुरुओं में श्रेष्ठ माता का भी यही आज्ञा है। मालूम होता है कि युधिष्ठिर द्रौपदी जैसी अद्वितीय सुन्दरी को पाने के लिये अपने भाइयों से भी अधिक व्याकुल हो रहे थे। युधिष्ठिर के अपनी माता की दुहाई देने पर कुन्ती ने भी उनके साथ हाँ में हाँ मिलाया। पाठकवृन्द! ये वही कुन्ती जी हैं जिन्होंने अपने विवाहित पति राजा पाण्डु के द्वारा नहीं बल्कि पराए पुरुषों के द्वारा अपने कर्णादि चारों पुत्रोंको उत्पन्न किया था? उनकी दृष्टि में नारी जाति के सतीत्व का महत्त्व ही क्या था! वे तो चाहती ही थीं कि सभी स्त्रियाँ उनकी-सी ही होकर रहें; जिनमें उनको कोई स्त्री हँसने न पावे। बंड़े गीदड़ का अन्य सभी गीदडों की पूँछ कटवा लेने की इच्छा रखना स्वाभाविक ही है; अन्यथा उन्होंने अनजान में दी हुई अपनी आज्ञा को वापस क्यों नहीं ले लिया जिसमें धर्म की अवहेलना न होने पावे? उनका अपनी बात के मिथ्या हो जाने का बार-बार भय प्रकट करना केवल नखराबाज़ी था और तिस पर मिल गए दही में चीनी मिलाने वाले महात्मा वेदव्यास? व्यास ने उक्त प्रस्तावित विवाह के समर्थन में राजा द्रुपद को दो उपाख्यान कह सुनाए। एक उपाख्यान तो वही ऋषि-कन्या वाला था जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है और जिसे उन्होंने पाण्डवों से पहले ही कह दिया था और दूसरा उपाख्यान

पाँच इन्द्रों का था। इस उपाख्यान के अनुसार पाँचों पाण्डव पूर्व जन्म के पाँच इन्द्र थे और द्रौपदी उन इन्द्रों की स्वर्ग-लक्ष्मी थी जो उनकी समान पत्नी बनने के लिए उसी जन्म में महादेव द्वारा निश्चित हो चुकी थी। महादेव ने उन इन्द्रों को उनकी उद्दण्डता तथा पदाभिमान से कुपित होकर उन्हें इस मर्त्यलोक में पाण्डवों के रूप में दण्ड-स्वरूप जन्म लेने की आज्ञा दी थी। पर यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पाँच इन्द्र समकालीन कैसे हो गए? कुल मिलकर प्रत्येक कल्प में चौदह मनुओं के मुताबिक चौदह इन्द्र होते हैं; पर एक काल में एक से अधिक इन्द्र नहीं हुआ करते। अतः एक काल में पाँच इन्द्रों का उपस्थित होना बिना विवरण जाने, विश्वास-योग्य नहीं मालूम पड़ता। इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारने योग्य है कि पाँचों इन्द्रों ने तो शिव के प्रति अपनी उद्दण्डता दिखाकर उनका अनादर किया था जिसके दण्ड-स्वरूप वे पाँचों मनुष्य योनि में ढकेले गए; पर बेचारी स्वर्ग की लक्ष्मी ने शिव के साथ कौन-सा अपराध किया था जिसके कारण वह भी मर्त्यलोक में गिरा दी गई। इन सब बातों पर निष्पक्ष होकर विचार करने से यह पंचेन्द्रोपाख्यान भी असत्य ही मालूम होता है। इसपर तुर्रा यह कि व्यास ने द्रौपदी की पंचपतित्व सम्बन्धिनी राजा द्रुपद की शङ्का के समाधान में एक नहीं; बल्कि दो भिन्न-भिन्न उपाख्यान कहे; अतः दोनों का एक साथ सत्य होना असंभव है; यदि ऋषिकन्योपाख्यान सत्य है, तो पंचेन्द्रोपाख्यान नहीं; और यदि पंचेन्द्रोपाख्यान सत्य है तो ऋषिकन्योपाख्यान नहीं। इस निष्पक्ष तर्क के द्वारा दोनों ही उपाख्यानों की सत्यता संदिग्ध हो जाती है। यदि कहो कि कल्पभेद से दोनों ही उपाख्यान सत्य हो सकते हैं तो इस बात का निर्णय होना कठिन है कि जिन द्रौपदी तथा पांडवों के चरित्र पर विचार हो रहा है वे किस कल्प के थे तथा उस कल्प के साथ सम्बन्ध रखने वाला पूर्व

कथित दोनों उपाख्यानों में से कौन-सा उपाख्यान है और कौन-सा उपाख्यान नहीं है। इस तरह यदि हम एक गुत्थी को किसी भी रूप में सुलझाने में समर्थ होते हैं तो दूसरी गुत्थी उलझी ही रह जाती है। अतः जिन बातों की सत्यता स्वीकार करने में बुद्धि को इतना मरोड़ना पड़े, उन्हें नितान्त निर्मूल समझकर अस्वीकार कर देना ही बुद्धिमत्ता है।

द्रौपदी के पंचपतित्व के विषय में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्मखण्ड, अ० ११५, में ऋषिकन्योपाख्यान से मिलती-जुलती एक दूसरी ही कथा लिखी है उस कथा के अनुसार छाया सीता ही ने, जिसे रावण हर ले गया था, शिव के वरदान से विष्णु के अंशभूत पाँच इन्द्रों को ही पति-स्वरूप पाया था। द्वापर में यही छाया सीता, पांचाली द्रौपदी के रूप में और पाँचों इन्द्र पञ्च-पाण्डवों के रूप में उत्पन्न हुए थे—

साध्वि ! त्वं पञ्चधा ब्रूषे पतिं देहीतिव्याकुला।
पञ्चेन्द्राश्च हरेरंशा भविष्यन्ति प्रियास्तव।

अर्थ—हे साध्वि ! तुमने 'पतिं देहि'; अर्थात् पति दीजिए, इस बात को पाँच बार कहा है; अतः विष्णु के अंशभूत पाँच इन्द्र तुम्हारे पति होंगे। पर यहाँ यह शंका होती है कि छाया सीता तो सीता से भिन्न कोई वास्तविक स्त्री न थी जो पति-प्राप्ति के लिए तप करे। उसके लिए भी असली सीता की तरह रामचन्द्र ही पति थे। अतः यह उपाख्यान विश्वास योग्य नहीं है।

मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ५, में लिखा है कि एक ही इन्द्र पाँच रूपों में अवतीर्ण होकर पंच-पाण्डव हुए थे; अतः द्रौपदी वस्तुतः पाँच पतियों की पत्नी न होकर केवल एक ही पति की पत्नी थी—

पञ्चधा भगवानित्थमवतीर्णः शतक्रतुः।
तस्योत्पन्ना महाभागा पत्नी कृष्णा हुताशनात् ॥२३॥

शक्रस्यैकस्य सापत्नी कृष्णानान्यस्य कस्यचित् ।
योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति वहूलान्यपि ॥२४॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् इन्द्र पाँच प्रकार से अवतीर्ण हुए और उनकी महाभागा पत्नी कृष्णा यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुई ॥२३॥ कृष्णा केवल एक ही इन्द्र की पत्नी थी; किसी दूसरे की नहीं। योगीश्वर लोग अनेक शरीर धारण कर लेते हैं; कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही इन्द्र ने पाँच शरीर धारण कर लिए थे; क्योंकि देवता होने के कारण उनकी योग-सिद्धि स्वाभाविक थी ॥२४॥

पर यदि एक ही विष्णु पाँच इन्द्रों, वा एक ही इन्द्र पाँच पाण्डवों के रूप में प्रकट हो सकते थे तो उग्र-तपस्विनी विचारी छाया सीता अथवा पूर्वकथित स्वर्ग-लक्ष्मी में कौन-सी त्रुटि थी जिसने उसे पाँच नारी रत्नों के रूप में अलग-अलग प्रकट होने नहीं दिया। यदि इन्द्र की तरह छाया सीता वा स्वर्ग-लक्ष्मी भी पाँच रूपों में प्रकट हुई रहती, तो राजा द्रुपद को इतने बखेड़ों का सामना नहीं करना पड़ता। पुराणकारों के लिए इस प्रकार की कहानी की रचना उनके बाएँ हाथ का खेल था। पर प्रमादवश वे इस काम में चूक गए और केवल इन्द्र को ही पाँच से गुणा करके छोड़ दिया और छाया सीता वा स्वर्ग-लक्ष्मी को ज्यों की त्यों रहने दिया। असल बात तो यह थी कि अति प्राचीन काल में एक स्त्री का एक ही समय में अनेक पुरुषों के साथ विवाह होने की प्रथा प्रचलित थी जिसके कुछ उदाहरण भी, जैसे जटिला आदि के, युधिष्ठिर ने द्रुपद को दिये थे। पर कालक्रम से यह प्रथा द्रुपद के समय में लुप्तप्राय हो गई थी, जिससे उन्हें ऐसे विवाह की धर्मानुकूलता में सन्देह हुआ, जिसे दूर करने के लिए व्यास को पूर्वोक्त ऋषि-कन्या वा पञ्चेन्द्र से सम्बन्ध रखने वाली दो मिथ्या पौराणिक कहानियों का आश्रय लेना पड़ा। पर व्यास ने तो अपने को ऐसी तरद्दुद में नाहक फँसाया। वे तो

सिर्फ़ यही कहकर अपने क्रूर समालोचकों से अपना पीछा छुड़ा सकते थे कि अरे भाई ! संसार में जितने पुरुष हैं वे विष्णु के तथा जितनी स्त्रियाँ हैं वे लक्ष्मी के ही रूपान्तर हैं; अतः सभी पुरुष सभी स्त्रियों के साथ भोग-विलास कर सकते हैं; इसमें कोई भी पाप नहीं है। पाठकों को यह कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि यह वही हिन्दू जाति है जिसमें किसी काल में पंचमकारी तथा सप्तमकारी जीवों तक का प्रादुर्भाव हो चुका है, जिनकी विमल कीर्ति को श्रीपुरी धाम के देव मन्दिरों की पवित्र दीवारों पर बनी हुई तथा 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाली इस सभ्य-मन्य जाति के मुँह कालिख पोतने वाली अश्लील चित्रावलियाँ कराल काल के प्रबल थपेड़ों से बचाती हुई सदा के लिए अटल बना दिया है तथा जिनका मूलमंत्र था 'अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु सङ्गमः'; अर्थात् मैं शिव हूँ और तुम पार्वती हो; हम दोनों का संगम हो। इस मंत्र का उच्चारणकर कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री के साथ व्यभिचार कर सकता था। अतः व्यास ने दो मिथ्या कहानियाँ गढ़ने का प्रयास व्यर्थ किया।

युधिष्ठिर का जुआ खेलना

अब ज़रा इसी प्रसंग में युधिष्ठिर के जुआ-सम्बन्धी आचरण पर भी विचार कीजिए जिसके अन्तिम परिणाम में अट्ठारह अक्षौहिणी सेनाएँ कुरुक्षेत्र के रक्तप्लावित धरातल पर मर मिटीं। जब धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए बुला लाने इन्द्रप्रस्थ गए, तो युधिष्ठिर ने विदुर से जुआ की बड़ी निन्दा की; तथापि उन्होंने कहा कि जुआ खेलने के लिए ललकारे जाने पर मैं कभी भी मुँह नहीं मोड़ता। महाभारत, सभापर्व, ५८ अध्याय, देखिए—

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते बुध्यमानः।

किंवा भवान् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताःस्म ॥१०॥

अर्थ—युधिष्ठिर ने कहा कि हे क्षत्ता ! जुआ खेलने से हम लोगों में झगड़ा होना निश्चय है। ऐसा जानकर जुआ किसको अच्छा मालूम हो सकता है ? वा आपही कहें कि क्या करना उचित है। हम लोग सर्वथा आपके ही वचनानुसार चलने वाले हैं ॥१०॥

आगे चलकर युधिष्ठिर ने फिर कहा—

'न चाकामः शकुनिना देविताहं न चेन्मां जिष्णु राह्वयति सभायाम्।
आहूतोऽहं न निवर्त्ते कदाचित् तदाहितं शाश्वतं वैव्रतंमे' ॥१॥

अर्थ—यदि शकुनि मुझे जीतने के लिए सभा में न ललकारेगा तो मैं अनिच्छु होने से उसके साथ जुआ कदापि न खेलूँगा। पर मेरा यह सनातन व्रत है कि ललकारे जाने पर मैं कभी भी मुँह नहीं मोड़ता ॥१६॥

हस्तिनापुर पहुँचने पर युधिष्ठिर ने शकुनि से भी जुए की बड़ी निन्दा की; और उससे भी डींग हाँकी कि ललकारे जाने पर मैं मुँह नहीं मोड़ता। सभा पर्व, ५६ अध्याय, पढ़िए—

निकृतिदेवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः।
न च नीतिध्रुवा राजन् किंत्वं द्यूतं प्रशंससि ॥५॥

नहि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि।
शकुने मैवं नो जैषी रमार्गेण नृशंसवत् ॥६॥

अर्थ—युधिष्ठिर शकुनि से कहते हैं कि हे राजन् ! छल से जुआ खेलना पाप है। इसमें न तो क्षत्रिय का पराक्रम ही है और न कोई स्थिर नीति है। आप जुए की क्यों प्रशंसा करते हैं ? ॥५॥ जुआड़ी कपट में जैसी बड़ाई मानते हैं, बुद्धिमान् लोग उसकी तनिक भी प्रशंसा नहीं करते। हे शकुनि ! क्रूर पुरुष के समान अनुचित मार्ग से तुम मुझे न जीतो ॥६॥ पुनश्च—

आहूतो न विवर्त्तेयमिति में व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान्‍राजन् दिष्टस्यास्मि वशेस्थितः ॥१८॥

अर्थ—युधिष्ठिर ने फिर शकुनि से कहा कि हे राजन्! जुआ खेलने के लिए किसी के द्वारा ललकारे जाने पर मुँह न मोड़ना यही मेरा निश्चित व्रत है। दैव बलवान् है। मैं उसी के वश में स्थित हूँ ॥१८॥

अब यहाँ यह विचारना है कि जब युधिष्ठिर जानते ही थे कि जुआ एक बड़ी बुरी चीज़ है तो उन्होंने इसे खेला ही क्यों? इसके कुपरिणामों को जानते हुए भी उनका जुआ खेलना अक्षम्य था। उनका यह डींग-हाँकना कि ललकारे जाने पर वे जुए से मुँह नहीं मोड़ते, और भी अनुचित तथा हास्यजनक मालूम होता है और यदि वे इसमें अपनी प्रतिष्ठा समझ बैठे हों, तो उनकी सरासर भूल थी; क्योंकि उनकी यह डींग उस व्यक्ति की डींग-सी मालूम होती है जो यह कहा करता हो कि शराब बहुत ही बुरी चीज़ है; मुझे उसका कभी पीना पसंद नहीं; पर यदि कोई मुझे शराब पीने के लिए ललकारे तो मैं घर-द्वार सब कुछ बेंचकर भट्ठी की भट्ठी भी चट कर सकता हूँ इत्यादि। पर बुरे काम के लिए किसी गुण्डे की ललकार स्वीकार करने में जो अपनी शान समझते हैं उन्हें निरे मूर्ख समझना चाहिए। युधिष्ठिर को साहस होना चाहता था कि शकुनि को ललकार को स्वीकार करने के बदले उसे कड़ी फटकार सुनाते, जिससे यह सर्वनाशी जुआ न होने पाता। पर उसके सामने उनका साहस दिखाना तो दूर रहा; वे लगे उसकी शिफ़ारिश करके कहने कि हे राजन्! मुझे धोखा देकर न जीतिए। उनका यह बुद्धूपना देख तरस आता है कि उन्हें जुआड़ियों का चालबाज़ होना मालूम न था। वे जुआड़ियों तथा गुण्डों की कपट-लीला से पूर्णतः अनभिज्ञ थे।

आखिरकार धूर्त्तराज शकुनि ने युधिष्ठिर के कायरपने तथा

बुद्धूपने का अनुचित लाभ उठाकर उन्हें जुआ खेलने पर राजी कर लिया और वे भी दैव-पाश-वद्ध एक मूक पशु की तरह अपने भविष्य को भाग्य पर छोड़कर शकुनि के फाँसे-पट्टी में आ गए और जुआ शुरू हो गया। खेलते-खेलते युधिष्ठिर एक एक करके अपना राज-पाट, धन-जन सब कुछ हार गए। जब दाँव पर रखने के लिए उनके पास कोई सम्पत्ति न रह गई तो वे पहले तो एक-एक करके अपने भाइयों को, फिर अन्त में स्वयं अपने को भी दाँव पर रखकर खो बैठे और प्रत्येक वार जीतते समय शकुनि के मुँह से यही बात निकलती थी कि यह भी मैंने जीता—

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥

अर्थ—युधिष्ठिर अपनी चीज़ों को दाँव पर रखते हुए प्रत्येक बार यही कहा करते थे कि 'एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहंत्वया' अर्थात् हे राजन्! यह मेरा धन है; इसको दाँव पर रखकर मैं आपके साथ जुआ खेलता हूँ। इसको सुनकर छली शकुनी पाशा फेंककर युधिष्ठिर से यह कहता था कि यह भी मैंने जीता।

सब कुछ हार जाने के बाद युधिष्ठिर के पास केवल एक द्रौपदी बच गई। निदान उसको भी उन्होंने शकुनि के बहकाने पर दाँव पर रख दिया और कहा—

तथैवंविधया राजन् पांचाल्याहं सुमध्यया।
ग्लहं दीव्याभिचार्वङ्‌ग्या द्रौपद्या हन्त! सौवल ॥

सभा, ६४।३६।

अर्थ—हे सुवल राजपुत्र शकुनि! यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार के गुणों से युक्त तथा सुन्दर अंग और सुन्दर कमर वाली द्रौपदी को दाँव पर

रखना बड़े दुःख की बात है; तथापि मैं उसी को दाँव पर रखकर खेलता हूँ।

युधिष्ठिर के मुँह से उक्त वचनों के निकलते ही उस सभा में बैठे हुए वृद्धजन उनको बारबार धिक्कारने लगे। पर इन धिक्कारों का उन पर कुछ भी असर न हुआ और वे द्रौपदी जैसी अद्वितीय सुन्दरी को आखिर खोकर ही स्थिर हुए। मालूम होता है कि युधिष्ठिर जुआ खेलने के लिए इतने पागल हो गए थे कि उन्हें उचितानुचित का कुछ भी ज्ञान न था। यह है हालत हिन्दू जाति के धर्मावतार तथा पुण्यश्लोक महाराज युधिष्ठिर की! इनसे तो कहीं अच्छे थे राजा नल जो पुष्कर के साथ जुआ खेलते खेलते सब कुछ हार गए; पर दमयन्ती को उन्होंने दाँव पर भी न रखा। इसके बाद दुःशासन के द्वारा केश पकड़कर तथा उस राजसभा के बीच घसीटकर लाई हुई रजस्वला, एकवसना, नग्नप्राया, करुण-क्रन्दिनी द्रौपदी को जो दुर्गति हुई उसका रोमाञ्चकारी वर्णन महाभारत के पाठकों से छिपा नहीं है। उसकी इस हृदयविदारिणी दुरवस्था का एकमात्र कारण युधिष्ठिर की मूर्खता थी। पाठकों के हृदय में शोक, क्रोध और आश्चर्य तो इस बात को देखकर होता है कि द्रौपदी का यह असह्य अपमान उसके पाँचों पतियों के सम्मुख ही हो रहा था; पर वे काठ के उल्लू की तरह बिना कुछ चीं-चपड़ किये हुए चुपचाप उसे देख रहे थे। इस घोर अपमान के विरुद्ध अगर किसी ने पाण्डवों में से आवाज़ उठाई तो केवल भीम ने; पर वे भी अर्जुन के धर्म की मूर्खतापूर्ण दुहाई देने पर रुक गए। सभा पर्व, ६७ अध्याय, पढ़िए—

न सकामाः परे कार्य्या धर्ममेवाचरोत्तमम्।
भ्रातरं धार्म्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्त्तितुमर्हति ॥८॥
आहूतोऽपिपरै राजा क्षात्रंव्रतमनुस्मरन्।

दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्त्तिकरं महत् ॥९॥

अर्थ—भीम युधिष्ठिर को द्रौपदी को हार जाने के कारण कोस रहे थे कि इस पर अर्जुन ने उनसे कहा—हे भीम ! तुम्हें शत्रुओं की मनःकामना नहीं पूरी करनी चाहिए। तुम उत्तम धर्म का ही आचरण करो। भला कौन ऐसे हैं जो एक धर्मात्मा बड़े भाई का तिरस्कार करे ॥८॥ राजा युधिष्ठिर ने शत्रुओं के द्वारा बुलाए जाने पर क्षत्रियों का धर्म विचारते हुए उनकी कामना से जो जुआ खेला है वह भी हम लोगों की कीर्त्ति का कारण है ॥९॥

न मालूम अर्जुन किस कपोल-कल्पित धर्म की दुहाई दे रहे थे। यह सर्वशास्त्र-सम्मत सिद्धान्त है कि अधर्म को प्रोत्साहित करना भी अधर्म है। युधिष्ठिर भली भाँति जानते थे कि शकुनि अधर्म का जुआ खेल रहा है। यह बात उन्हें उसकी पहली ही जीत में मालूम हो गई थी और उन्होंने कहा था—

मत्तकैतवकेनैव यज्जितोऽस्मिदुरोदरे ।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ॥सभा ६०॥१॥

अर्थ—युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा कि हे शकुनि ! तुमने मुझे इस जुए में छल से जीत लिया है। यह शोक की बात है। तथापि हम लोग परस्पर बाज़ी लगाते हुए जुआ खेलें।

युधिष्ठिर को ज्यों ही शकुनि की कपट-लीला मालूम हुई त्यों ही उनको उसका विरोध करना तथा उसके अपनी चालबाज़ी को नहीं छोड़ने पर उस छलपूर्ण जुए से अलग हो जाना ही उचित था। पर उनमें वह साहस था कहाँ ? वे तो शकुनि के प्रभाव से इस प्रकार प्रभावित हो रहे थे कि वे एक महादब्बू की तरह उसकी खुशामद में अपना धन हार-हारकर उसको इस अधर्म के जुए में बराबर प्रोत्साहन देते चले गए। अतः मेरे इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है

कि यदि शकुनि अधर्मी था तो उसको प्रोत्साहित करने वाले महाराज युधिष्ठिर कुछ कम अधर्मी तथा तिरस्कार योग्य न थे।

अब इस प्रसंग में द्रौपदी के उस प्रश्न पर भी विचार करना उचित है जिसका उत्तर युधिष्ठिर से पूछ आने को उसने प्रातिकामी से कहा था—

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज।
किन्नु पूर्वं पराजैषीरात्मान मथवानुमाम् ॥७॥

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज।
ज्ञात्वा चिकीर्षित महं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥८॥

अर्थ—द्रौपदी ने प्रातिकामी से (जो दुर्योधन की आज्ञा से जीती हुई द्रौपदी को सभा में बुलाने के लिए गया था) कहा कि हे सूतपुत्र! तुम सभा में जाकर उन खिलाडी राजा से पूछ आओ कि उन्होंने पहले अपने को हारा है कि मुझको ॥७॥ इसका उत्तर मालूम करके आओ तो मैं तुम्हारे साथ चलूँगी। मैं राजा का अभिप्राय जानकर चलूँगी; यद्यपि इसमें मुझे दुःख है ॥८॥

प्रातिकामी के मुँह से द्रौपदी के उक्त प्रश्न को सुनकर युधिष्ठिर ने तो मानो निष्प्राण होकर उसे भला-बुरा कुछ भी उत्तर नहीं दिया; पर दुर्योधन ने उससे कहा कि तुम जाकर द्रौपदी से बोलो कि वह इस सभा में ही आकर जो कुछ उसे पूछना हो पूछे; उसे समुचित उत्तर दिया जाएगा। निदान दुःशासन द्वारा केश पकड़ तथा घसीट-कर सभा में लाई जाने पर द्रौपदी ने सभासदों से अपने प्रश्न का उत्तर बार-बार माँगा; पर किसी के भी कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। बाबा भीष्म ने जो एक बड़े ही धर्मनिष्ठ और अटल व्रतधारी व्यक्ति समझे जाते थे, कुछ दुरंगी बातें कहकर द्रौपदी के प्रश्न को, किसी न किसी बहाने, टाल देना ही उचित समझा। उन्होंने कहा—

न धर्म्म-सौक्ष्मात् सुभगेविवेक्तुं शक्नोमिते प्रश्नमिमं यथावत् ।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियाश्च भर्त्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥

सभा० ६६ । ४६ ।

अर्थ—हे सुभगे ! धर्म की सूक्ष्मता के कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकता । जो पुरुष स्वयं स्वामी नहीं है वह पराए धन को बाज़ी पर नहीं रख सकता; पर देखता हूँ कि पत्नी अपने पति के वश में रहती है ।

पाठकगण ! देखा आप लोगों ने इन पितामह-भीष्म की दो-तरफ़ी बातें ! पहले तो आपने कहा कि जो पुरुष स्वयं गुलाम है, उसकी कोई भी निजी सम्पत्ति नहीं रहती जिसे वह दाँव पर रख सके। पर पीछे आपने कहा कि स्त्रियों के विषय में, उनकी पतिवशता के कारण, इसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है कि वे पति के गुलाम हो जाने पर भी उसकी निजी सम्पत्ति पूर्ववत् बनी रहती हैं वा नहीं। यही उनके कथन का तात्पर्य है। पहले वे द्रौपदी के पक्ष में फैसला देकर पीछे गड़बड़ा गए। और अपने इस गड़बड़ाने का कारण उन्होंने उस समय बताया जब द्रौपदी उन्हें बाण-शय्या पर से धर्मोपदेश करते हुए देखकर इस बात पर मुस्काई कि जब भरी राजसभा में मेरी दुर्गति हो रही थी तो इनकी यह धर्म-बुद्धि कहाँ चली गई थी ? जिस पर उन्होंने द्रौपदी के मन की बात ताड़कर अपनी सफ़ाई यह कहकर दी थी, कि हे पुत्री ! दुरात्मा दुर्योधन का अन्न खाने से मेरी बुद्धि उस समय कलुषित हो गई थी अतः तुम्हारे प्रश्न का धर्मानुकूल उत्तर न दे सका। पर पाठकवृन्द ! दुर्योधन का ही अन्न तो विदुर और विकर्ण भी खा रहे थे; उनकी बुद्धि क्योंकर कलुषित नहीं हुई ? मुख्य प्रश्न तो यह था कि क्या दासी के साथ भी ऐसा कुत्सित व्यवहार करना भद्रजनोचित कार्य था ? पर पापी पेट के लिए पितामह जी दुर्योधन के इस प्रकार

अन्नदास हो रहे थे कि उनसे खुलकर विरोध करते न बना। क्या हिन्दुओं के आदर्श धर्मज्ञ ऐसे ही होते थे! भीष्म की अवस्था वानप्रस्थ लेने की थी। वहीं पर वे कन्द-मूलादि से अपना पेट भरते हुए अपने जीवन का अन्तिम भाग तपस्या में बिताते। न मालूम क्यों वे दुर्योधन में जोंक की तरह अब तक भी चिपके रहे।

निदान उस सभा में बैठे हुए।भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि बड़े-बड़े महानुभावों तथा नाना देश से आए हुए राजाओं ने जब द्रौपदी के प्रश्न का कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तो धृतराष्ट्र के पुत्र तथा दुर्योधन के अनुज विकर्ण से न रहा गया। वह उस भरी राजसभा में खड़ा होकर यों कहने लगा कि युधिष्ठिर ने द्यूतरूपी व्यसन में मत्त होकर तथा शकुनी आदि जुआड़ियों से बहकाए जाने पर द्रौपदी को दाँव पर रखा है, जो केवल एक उन्हीं की स्त्री न होकर अन्य सभी भाइयों की भी समान स्त्री है, तथा उसको दाँव पर रखने के पहले वे स्वयं अपने को हार चुके थे; अतः उस पर उनका कोई भी अधिकार नहीं था कि वे उसे दाँव पर रख सकें। इन सब बातों पर विचारकर मैं द्रौपदी को जीती हुई नहीं मानता। पर उसे बालक कहकर उसकी बातों पर दुर्योधन के दल वालों ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। तत्पश्चात् कर्ण की आज्ञानुसार दुःशासन द्रौपदी की साड़ी खींचकर उसे भरी सभा में नंगी करने लगा और वह निःसहाय होकर कुररी की नाइ आर्त्त स्वर से विलाप करने लगी। जब उसके प्रश्न का किसी ने उत्तर नहीं दिया, तो दुर्योधन ने उसे जीती जाने वा न जीती जाने का निर्णय युधिष्ठिर पर ही छोड़ दिया और आप अपनी बाईं जाँघ पर से वस्त्र हटाकर उस पर आकर बैठ जाने के लिए द्रौपदी की ओर संकेत करने लगा। जब ये असह्य अत्याचार उसके ऊपर हो रहे थे कि राजा धृतराष्ट्र के घर तथा अग्निहोत्रशाला में गीदड़, गदहे, पक्षी आदि के घोर

शब्दरूपी विविध उत्पात होने लगे, जिनसे भय खाकर उन्होंने द्रोपदी पर अनुग्रह करते हुए उसके युधिष्ठिर आदि पाँचों पतियों एवं उसके पुत्र प्रतिविन्ध्य को दास भाव से मुक्त कर दिया और जुए में जीते हुए उनके राज-पाट, धन-दौलत, सब कुछ लौटा दिए।

पर शामत का भूत केवल दुर्योधन के ही सिर पर नहीं नाच रहा था; वह तो इससे भी भयंकर ताण्डव युधिष्ठिर के सिर पर नग्न होकर कर रहा था। ये धर्मराज के सुपुत्र अपने सम्पूर्ण वैभव को, जिसे वे जुए में हार चुके थे, धृतराष्ट्र के अनुग्रह से वापस पाकर घर (इन्द्रप्रस्थ) लौटे जा रहे थे। वे अभी रास्ते में ही थे कि दुर्योधन ने अपने इष्ट-मित्रों की राय तथा पुत्र-स्नेह विह्वल अतः कार्याकार्यविमर्शहीन हतभाग्य अन्धे पिता की अनुमति से अपने एक दूत द्वारा उनके पास जुआ खेलने को दुबारा चैलेंज भेजा। युधिष्ठिर भी जो दैव की प्रेरणा तथा अपनी खामख्याली के कारण ललकारे जाने पर जुए से मुँह नहीं मोड़ना ही अपना सनातन व्रत समझते थे, अपनी सारी विपत्तियां, मानसिक कष्टां तथा अपनी और अपनी प्रिया द्रौपदी की सारी सापमान दुर्गतियों को, जिन्हें वे अभी थोड़ी देर पहले जुए के परिणाम-स्वरूप भोग चुके थे, एकबारगी भूलकर शकुनि के साथ फिर जुआ खेलने के लिए रास्ते में से ही हस्तिनापुर तत्काल लौट आए। अब की बार के जुए का निम्नलिखित शर्त था। सभापर्व अध्याय ७५ पढ़िए। शकुनि युधिष्ठिर से कहता है—

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूत निर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥१०॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥११॥
अस्माभिर्निर्जिता यूयं वनेद्वादशवत्सरान्।
वसध्वं कृष्णया सार्द्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१२

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरै रथवेतरैः ॥१३॥

अर्थ—यदि आपके द्वारा हम जीते जाएँ, तो हम बारह वर्ष तक मृग-चर्म पहने हुए महाजंगल में वास करेंगे ॥१०॥ और एक वर्ष अर्थात् तेरहवें वर्ष मनुष्य देश में गुप्त रूपसे रहेंगे । यदि कोई जान ले तो फिर बारह वर्ष तक वन में बास करेंगे ॥११॥ यदि हमने आपको जीता तो आप पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ मृगचर्म पहने हुए बारह वर्ष तक बन में रहें ॥१२॥ और तेरहवें वर्ष अज्ञात रूप से रहें; यदि कोई जान ले तो फिर बारह वर्ष तक वन में रहें । इस प्रकार तेरह वर्ष बिताकर जो लौट आवे वह अपना राज्य पावे ॥१३॥

शकुनि के उक्त वचन को सुनते ही सभा में चारों ओर से सभासदों के द्वारा ऐसे जुए पर बारबार धिक्कार दिया जाने लगा; पर युधिष्ठिर सभासदों के दुर्वचनों का कुछ भी न ख्यालकर, नियति की फाँस में फँसे एक मूक तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ पशु की तरह दाँव पर बैठ गए और शकुनि ने एक ही बार पाशे फेंककर उनका सर्वस्व अपहरण कर लिया । क्या युधिष्ठिर जैसे कायर, व्यक्तित्व-हीन तथा दूसरों के बहकाने पर जान-बूझकर अधर्म के कार्य में उन्मत्त की तरह भाग लेने वाले जीव को धर्मराज की उपाधि देना बुद्धिसंगत है ? कभी नहीं ।

यहाँ तक महाभारत के मुख्य-मुख्य पात्रों के आचरण पर, जिन्हें अन्धविश्वासी हिन्दू महासमर्थ, अतः सर्वथा निर्दोष मानते हैं, विचार हो चुका । क्या मैं उनसे पूछ सकता हूँ कि यदि वे समर्थ और निर्दोष थे तो मृत्युपरान्त वे सब के सब नरक में क्यों ढकेले गए जैसा कि स्वर्गारोहण-पर्व के अध्याय २ से मालूम होता है ? द्रोणाचार्य के मृत्यु-विषयक कुछ झूठ बोल देने के दण्ड-स्वरूप देवदूत युधिष्ठिर को नरक की हवा खिला रहा था कि वे वहाँ के असह्य

दुर्गन्ध से व्याकुल होकर लौटने पर उद्यत हुए। इस पर उनके कानों में ये दुःखपूर्ण वचन सुनाई पड़े कि हे धर्मपुत्र युधिष्ठिर आप यहाँ से न जाइए। आपकी सुगन्ध से सुगन्धित होकर जो वायु चलती है उससे हम लोगों को सुख मिलता है इत्यादि। इस पर युधिष्ठिर ने पूछा कि आप लोग कौन हैं? तो उत्तर मिला—

इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादावभाषिरे।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥४०॥
नकुलः सहदेवश्च धृष्टोद्युम्नोऽहमित्युत।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥४१॥

अर्थ—इस प्रकार पूछे जाने पर वे सब ज़ोरों से चिल्ला उठे कि हे प्रभो! मैं कर्ण हूँ; मैं भीमसेन हूँ; मैं अर्जुन हूँ; हम लोग नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी तथा द्रौपदी के पुत्र हैं। क्या इससे यह नहीं मालूम होता कि ये सबके सब दोषी थे? नहीं तो ये नरक में क्यों डाले गए?

तारा

(३) तारा। इस नाम की प्राचीनकाल में चार स्त्रियाँ हो गई हैं—(१) कपिराज बालि की स्त्री; (२) देवगुरु बृहस्पति की स्त्री; (३) तारा नाम की एक देवी और (४) राजा हरिश्चन्द्र की स्त्री। 'पंचकन्या'-सम्बन्धी पूर्वोक्त श्लोक में जिन पाँच स्त्रियों के नाम आए हैं उनमें चार अर्थात् अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती और मन्दोदरी, इस मर्त्यलोक की निवासिनी थीं; अतः हो न हो तारा भी कोई मर्त्यलोक की ही स्त्री रही होगी। इस तरह से देवलोक की रहने वाली बृहस्पति की स्त्री तथा तारा नाम की देवी छूट गई और रह गई बालि तथा हरिश्चन्द्र की स्त्रियाँ। पूर्वोक्त श्लोक में उक्त चार स्त्रियाँ बहुपतिकाएँ थीं? अतः तारा भी कोई बहुपतिका स्त्री होगी; पर यह सभी को मालूम है कि हरिश्चन्द्र

की स्त्री एक पतिका थी। इस तरह इसके भी छूँट जाने पर केवल बालि की स्त्री बँच जाती है, जिसका पहला पति बालि तथा दूसरा पति सुग्रीव था, जैसा कि वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धा कांड, सर्ग २६, श्लोक ४, से मालूम होता है—

स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीप्सिताम्।
विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम्॥

अर्थ—हनूमान सुग्रीव से बोले जो अपनी प्यारी स्त्री रुमा तथा खूब चाही हुई तारा के साथ रात-दिन विहार कर रहे थे, जिनका मनोरथ पूर्ण हो गया था और जिनके क्लेश मिट चुके थे ॥४॥

नोट—सुग्रीव ने रामचन्द्र को वचन दिया था कि बालि के मारे जाने तथा राज्य के मिल जाने के बाद सीता की खोज के लिए मैं प्रबन्ध करूँगा; पर वे राज्य तथा सुन्दर रानियों के उपभोग में इतने लिप्त हो गए थे कि वे अपना उक्त वचन भूल गए थे। हनूमान् ने उन्हें अपने वचन की याद दिलाने के लिए उनसे उक्त रामायण में लिखी आगे की बातें कही हैं। इसी प्रसंग में आध्यात्मरामायण, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ४, श्लोक ४६, में लिखा है—

राज्ये प्रतिष्ठितोऽसित्वं तारां प्राप्तोऽसिदुर्लभाम्।
स रामः पर्व्वतस्याग्रे भ्रात्रा सह वसन् सुधीः।
त्वदागमनमेकाऽभीक्षते कार्य्यगौरवात् ॥४६॥

अर्थ—हनूमान ने सुग्रीव से कहा कि तुम राजगद्दी पर बैठ गए और अति दुर्लभ तारा भी तुम्हें मिल गई। और बुद्धिमान् रामचन्द्र अपने भाई के साथ प्रवर्षण शैल पर बैठे हुए सीतान्वेषणरूपी कार्य की गुरुता के कारण तुम्हारे आने की प्रतीक्षा एकाग्रचित्त होकर कर रहे हैं। हनूमान् के कहने का तात्पर्य है कि हे सुग्रीव! रामचन्द्र के कार्य को तुम भले ही भूल जाओ; पर वे स्वयं उसे नहीं भूल सकते।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि तारा ने अपने प्रथम पति बालि के मारे जाने के बाद उसको मरवाने वाले अपने छोटे देवर सुग्रीव के साथ विवाह कर लिया था, अतः वह द्विपतिका थी।

कुन्ती

(४) कुन्ती। कुन्ती के विषय में तृतीय तथा इस परिच्छेद में पर्याप्त लिखा जा चुका है। देख लीजिए। इसका संसर्ग सूर्य, पाण्डु, धर्मराज, पवन और इन्द्र, इन पाँच पुरुषों के साथ होने के कारण इसे भी पंच-पतिका कह सकते हैं।

मन्दोदरी

(५) मन्दोदरी। यह भुवन-विख्यात लंकेश्वर रावण की मुख्य महिषी तथा राक्षसों के विश्वकर्मा प्रसिद्ध दैत्य मय की कन्या थी। रावण के मारे जाने पर इसने अपने लघुदेवर विभीषण के साथ अपना पुनर्विवाह कर लिया था। तुलसीकृत रामायण लवकुश काण्ड* में लव विभीषण से, जो उनसे रामाश्वमेध के समय लड़ने आए थे, कहते हैं—

सुनु शठ बन्धुहिं समर जुझाई। शत्रुहिं मिल्यो परम कदराई ॥१॥
पिता समान बन्धु बड़ तोरा। त्रिया तासु लै घर वर जोरा ॥२॥
पापी मातु कह्यो कै वारा। सो पत्नी यह धरम तुम्हारा ॥३॥
बूड़ि मरहु सागर महँ जाई। मरु गर काट अधम अन्याई ॥४॥

अर्थ—रे शठ ! सुन; तू एक परम कादर की तरह शत्रु से जा

---

*यद्यपि तुलसीकृत रामायण का लवकुश काण्ड एक क्षेपक-मात्र है; क्योंकि गोसाईं जी ने रामाश्वमेध की कथा नहीं लिखी; तथापि यह क्षेपक मानने योग्य है; कारण कि प्रामाण्य ग्रन्थों के आधार पर ही इसकी रचना हुई है और गोसाईं जी ने भी 'सोइ करतूत विभीषण केरी' लिखकर विभीषण का मन्दोदरी को अपनी रानी बना लेना मान लिया है।

मिला और तू अपने भाई की समर में मृत्यु का कारण बना ॥१॥ तेरा बड़ा भाई तेरे लिए पिता-तुल्य था। उसकी स्त्री को तूने बल-पूर्वक घर में रख लिया ॥२॥ रे पापी! जिसे तूने कई बार माता कहकर पुकारा, उसे अपनी स्त्री बना ली; यही तेरा धर्म है ॥३॥ रे नीच अन्यायी! तू या तो समुद्र में जाकर डूब मर या अपनी गर्दन काटकर मर जा ॥४॥

हिन्दू जाति के विशाल पौराणिक साहित्य में वर्णित पूर्वोक्त तथा-कथित पञ्चकन्याओं के आचरण पर निष्पक्ष एवं सूक्ष्म भाव से विचार करने पर हम लोग इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि वे हिन्दू-धर्मानुसार पतिव्रताओं के एकपतित्वरूपी मुख्य आदर्श से न्यूनाधिक सभी गिरी हुई थीं; अतः उनके नाम-स्मरण का कुछ भी महत्त्व नहीं देख पड़ता। इस कपोल-कल्पित महत्त्व का आधार हिन्दू जाति का वह अन्धविश्वास है जो उन्हें अवनति के रसातल में चिरकाल से ढकेले हुए है। यदि पञ्चकन्या-सम्बन्धी पूर्वोक्त श्लोक में अहल्या आदि की जगह सीता आदि के नाम, जैसा कि ये निम्न-लिखित श्लोक के रूप में बद्ध करके लिख दिए गए हैं, लिए जाते तो कहीं अच्छा होता—

सीता शैव्या च सावित्री गान्धारी भीमनन्दिनी।
पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥

अर्थ—सीता (श्रीरामचन्द्र की स्त्री), शैव्या (प्रसिद्ध राजा हरिश्चन्द्र की स्त्री जिसने अपने पति की विश्वामित्रकृत कठोर धर्म-परीक्षा में भी उसका साथ नहीं छोड़ा; बल्कि जो आप भी ऋषि-ऋण से अपने पति को मुक्त कराने के लिए दासी के रूप में बिक गई), सावित्री (जिसने अपने पातिव्रत्य से निष्ठुर यमराज को भी दयार्द्रितकर अपने मृत पति सत्यवान को जिला लिया), गान्धारी (अन्धे धृतराष्ट्र की स्त्री जिसने अपने पति के अन्धे होने के कारण अपने

को उससे अधिक दृष्टिजन्य सुखभोग की अनधिकारिणी समझ अपनी आँखों पर यावज्जीवन एक पट्टी बाँधी रखी) और दमयन्ती (जो विदर्भराज भीम की पुत्री होने के कारण वैदर्भी भी कहलाती है और जिसने राज्यच्युत, कलिग्रस्त तथा दैवदुर्विपाकाभिभूत अपने पति नल को उनकी विपत्तियों में भी छोड़ना नहीं चाहा), इस महापापों के नाश करने वाले नाम-पंचक को मनुष्य बराबर स्मरण करे।

इस परिच्छेद में हिन्दू जाति के बड़े-बड़े देवताओं, ईश्वरावतारों, महर्षियों, राजाओं तथा पंचकन्याओं के चरित्र पर बहुत छानबीन के साथ सप्रमाण विचार किया गया और देखा गया कि उनमें भी पामर जीवों की तरह काम क्रोधादि जैसी गन्दी चारित्रिक दुर्बलताएँ भरी हुई थीं, जिनके वशीभूत होकर वे अपने चरित्र को समय-समय पर कलंकित कर दिया करते थे। उनकी इन्दियाँ इस क़दर बेकाबू हो जाया करती थीं कि उनका नैतिक पतन होकर ही रहता था, जिसके फलस्वरूप उन्हें प्रायश्चित्त करने तथा नरक की यंत्रणाओं तक भी भोगने पड़ते थे। वास्तविक सामर्थ्य उनमें तभी माना जाता जब कि उनकी इन्द्रियाँ उनके काबू में रहतीं और वस्तुतः निर्दोष वे तभी माने जाते जब कि उन्हें अपनी त्रुटियों के फल नहीं भोगने पड़ते। अतः क्षीरमहोदधिमन्थनसंभूता स्वानुरूपपत्यन्वेषणतत्परा एवं सर्वत्र त्रुटिदर्शयित्री लक्ष्मी की उक्ति को उद्धृतकर इस परिच्छेद का उपसंहार करता हूँ। भागवत, स्कंध ८, अ० ८ देखिए—

नूनं तपो यस्य न मन्यु निर्जयो ज्ञानं क्वचित्तच्च न संग वर्जितम्।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः सईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः ॥२०॥
धर्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं त्यागः क्वचित्तत्र न मुक्तिकारणम्।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यज वेग निष्कृतं नहि द्वितीयो गुण संग वर्जितः ॥२१॥
क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमंगलं क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।

यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्य मंगलः सुमंगलःकश्चन कांक्षते हिमाम् ॥२२॥

अर्थ—लक्ष्मी ने देखा कि जहाँ दुर्वासा आदि में तप है, तो वे क्रोध को नहीं जीत सके हैं। कहीं बृहस्पति, शुक्र आदि में ज्ञान है, तो वे संगरहित नहीं हैं अर्थात् वे सांसारिक माया में फँसे हैं। कोई ब्रह्मा, सोम आदिक महान् हैं, तो वे काम को नहीं जीत सके हैं। इन्द्र आदि दूसरे (विष्णु आदि त्रिदेव) के भरोसे पर रहते हैं; अतः वे स्वयं ईश्वर नहीं हैं ॥२०॥ कहीं परशुराम आदि में धर्म है, तो उनमें प्राणियों के साथ सौहार्द्र का व्यवहार नहीं है। कहीं शिवि आदि राजाओं में त्याग तो है; पर वह मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। कहीं सहस्रार्जुन आदि में वीर्य है; पर वह काल के वेग में ठहरने वाला नहीं है। कोई सनकादिक गुण-संग से रहित हैं; पर वे वर न हो सकेंगे; कारण कि वे सदैव समाधि-निष्ठ रहते हैं ॥२१॥ कोई मार्कण्डेयादिक ऋषि चिरंजीवी तो हैं; पर उनमें शील और मंगल का अभाव है। कहीं हिरण्यकशिपु आदि में शील और मंगल हैं भी तो उन्हें यह मालूम नहीं कि वे कब तक जीवित रहेंगे। जहाँ शिव में ऊपर कही हुई दोनों बातें हैं तो वे देखने में अमंगल हैं और जो कोई (विष्णु) सब प्रकार से मंगल रूप हैं, तो उनमें मेरे लिए चाह नहीं है ॥२२॥

श्रीमद्भागवत विष्णु-सम्बन्धी पुराण है; अतः उनकी प्रधानता दिखाने के लिए ही यहाँ पर उन्हें सब प्रकार से मंगल रूप कहा गया है; अन्यथा इस परिच्छेद में तो उनके काले कारनामों का क़ाफी पोल खोला गया है।

इस पुस्तक में 'भगवान्' के कतिपय अवतारों की महिमा गाकर उनके प्रसिद्ध भक्तों की सुधि न लेना उनके साथ घोर अन्याय करना होगा! अवतारों में राम और कृष्ण के ही भक्त मिलते हैं,

जिनमें कुछ ऐसे हैं जिन्हें हम उत्कट भक्त कह सकते हैं। इनकी उत्कट भक्ति तथा इनकी कुछ हरकतों का हाल सुनकर प्रशान्त चित्त समालोचक के हृदय में शंका होने लगती है कि उनकी इस प्रकार की भक्ति कोई मस्तिष्क की बीमारी तो नहीं थी; अथवा उन्माद रोग का कोई अब तक अज्ञात उपभेद मात्र तो नहीं थी। कृष्ण-भक्त चैतन्य का समुद्र की श्यामता देखकर श्यामतोया कालिन्दी के भ्रम से उसमें डूब मरना: कृष्ण के भक्त सूरदास का उन्हें कुएँ में से निकालने वाले आकस्मिक पथिक को अपने इष्टदेव (कृष्ण) के रूप में देखना; कृष्ण-भक्त मीराबाई का कृष्ण-प्रेम में नाचते-नाचते उन्हें भी अपने बगल में वंशी बजा-बजाकर नाचते पाना तथा तुलसीदास का लक्ष्मण आदि की खुशामदकर 'विनय-पत्रिका' पर रामचन्द्र से हस्ताक्षर करवा लेना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिसकी सत्यता में केवल विकृत मस्तिष्क ही विश्वास कर सकता है। विक्षिप्तों तथा दुर्बल-हृदयों का कल्पना-शक्ति (Fancy) विलक्षण होती है। वह अँधेरे में कमरे की दीवार से लटके हुए कोट-पायजामे, तथा निर्जन मैदान में दूरस्थ ठूँठे वृक्ष में भूत और पिशाच का प्रत्यक्ष दर्शन करती है। सारे हिन्दू समाज को अपने मधुर पर विषाक्त गीतों, भजनों तथा कविताओं के द्वारा अन्धविश्वास के एक महाअन्धकूप में गिरा देने के सिवा इन भक्त-प्रवरों ने भारत की कौन-सी भलाई की है, यह मैं इनके प्रशंसकों से जानना चाहता हूँ। यदि कोई स्त्री भक्त, जैसे मीरा, राम-कृष्ण में पति-पत्नी का भाव रखे, तो वह प्राकृतिक होने से क्षम्य है। पर आजकल 'सखी'-उपाधिकारी कितने पुरुष-भक्त भी उत्पन्न हुए हैं जो रामचन्द्र में पति-भाव रखते, स्त्री-शृंगार करके उनकी मूर्त्ति के आगे नाचते और प्रति मास ऋतु-मती होने का अभिनय करते हैं। शोक है कि इस अभागे भारत की न मालूम अभी कौन-सी दुर्गति उस 'नर-कपाल' की तरह बाकी है !!

अथ षष्ठ परिच्छेद

वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-भेद

वर्ण-व्यवस्था की वैदिक उत्पत्ति

हिन्दू समाज की लोकोत्तर विशेषता उसमें प्रचलित वर्ण-व्यवस्था तथा जातिप्रथा है जिन्हें संसार का आठवाँ आश्चर्य कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। हिन्दू समाज की कमर तोड़ने वाली यह वर्ण-व्यवस्था हिन्दू जाति के दुर्भाग्यवश उसमें क्यों प्रचलित हो गई, इसका संक्षिप्त इतिहास पाठकों को देना परमावश्यक है। हिन्दू सभ्यता तथा हिन्दू संस्कृति के जन्मदाता वेदकालीन भारतीय आर्य थे। अतः देखना है कि उनमें यह व्यवस्था प्रचलित थी वा नहीं; और यदि थी तो वह किस रूप में थी। हिन्दुओं के आदि धर्म-ग्रन्थ वेद हैं और उन्हीं वेदों के अन्तर्गत जो पुरुष सूक्त के मंत्र हैं, वे ही वर्णव्यवस्थारूपिणी विशाल तथा सुदृढ़ अट्टालिका की आधार-शिला (Foundation-stone) हैं। ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ९०, मंत्र ११ तथा १२ देखिए—

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य को बाहू कावूरू पादाउच्येते ॥११॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोअजायत ॥१२॥

अर्थ—प्रजापति ने | मानव-समाज-रूपी जिस पुरुष का विधान किया उसकी कल्पना कितने प्रकार की हुई? इस पुरुष का मुख

क्या है ? इसके दोनों बाहु कौन हैं ? कौन इसकी दोनों जाँघें हैं तथा इसके दोनों पैर कौन हैं ? ॥११॥ इन कतिपय प्रश्नों के उत्तर इसके आगे के मंत्र में मिलते हैं। इस पुरुष का मुँह ब्राह्मण है; बाहु क्षत्रिय हैं; जाँघे वैश्य हैं और पैर शूद्र हैं ॥१२॥

यजुर्वेद, अध्याय ३१, मंत्र १० तथा ११, एवं अथर्व वेद कां० १६।६।६ में भी पुरुष सूक्त है। इन तीनों ही वेदों के पुरुष सूक्त के मंत्र सब अंशों में मिलते हैं, केवल अथर्व वेद में 'उरू' शब्द के स्थान में 'मध्यं' शब्द आया है; जैसे—"मध्यं तदस्य यद्वैश्यः" ऐसा पाठ देख पड़ता है। पर अर्थ में कोई भेद नहीं।

इसी पुरुषसूक्त के आधार पर मनवादि धर्मशास्त्रकारों ने भी अपनी-अपनी कृतियों में चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति इसी प्रकार की लिखी है। जैसे मनु लिखते हैं—

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत् ॥

॥ मनु० १।३१ ॥

अर्थ—प्रजापति ने लोकों की वृद्धि के निमित्त मुख, बाहु, उरू और चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया। महाभारत के शान्ति-पर्व में लिखा है—

ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर ।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत्प्रभुः ॥१॥

बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम् ।
पद्भ्यां शूद्रशतंचैव केशवो भरतर्षभ ॥२॥

अर्थ—हे भरतवंशियो में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! फिर महाभाग कृष्ण ने मुख्य से सौ श्रेष्ठ ब्राह्मणों को, दोनों बाहुओं से सौ क्षत्रियों को,

दोनों जंघों से सौ वैश्यों को तथा दोनों चरणों से सौ शूद्रों को उत्पन्न किया।

पुरुष सूक्त की यथार्थ व्याख्या

उक्त पुरुषसूक्त के ही बल पर सारे संस्कृत साहित्य में मुखज, बाहुज, ऊरुज तथा पज्ज एवं इसी अर्थ के अन्यान्य शब्द क्रमशः ब्राह्मण आदि शब्दों के पर्य्यायवाची बन गए हैं। पर चातुर्वर्ण्य की इस प्रकार की उत्पत्ति लिखी रहने से हमें यह न समझ लेना चाहिए कि जगत्स्रष्टा ब्रह्मा के रूप में परमात्मा वस्तुतः कोई मुखाद्यवयव-विशिष्ट शरीरधारी व्यक्ति है जिसके मुखादि अंगों से ब्राह्मणादिकों की उत्पत्ति हुई। क्योंकि यदि परमात्मा को कोई शरीरधारी पुरुष माना जाए, तो सन्तान उत्पन्न करने के लिए उसके साथ में रहने वाली एक शरीरधारिणी स्त्री की भी कल्पना करनी होगी और जब परमात्मा और उसकी स्त्री दोनों ही इस प्रकार शरीरधारी व्यक्ति माने गए, तो ब्राह्मणादि उनकी सन्तानें परमात्मा के मुखादि से उत्पन्न हुई न मानी जाकर सृष्टि के अटल नियमानुसार वे सभी ही अपनी माता के जननेन्द्रिय के द्वारा ही उत्पन्न हुई मानी जाएँगी। पर ये सब अड़चनें पुरुषसूक्त के मन्त्रों का आक्षरिक अर्थ लेने से उत्पन्न होती हैं। अतः उनका अर्थ आक्षरिक न लेकर आलंकारिक लेना चाहिए और उनका यह अभिप्राय समझना चाहिए कि जो अपने बुद्धि-बल से समाज के मुखिया बन गए वे ही ब्राह्मण कहलाए; जिन्होंने अपने भुज-बल से समाज की रक्षा की वे क्षत्रिय कहलाए; जिन्होंने अपनी जाँघ के बूते कृषि-वाणिज्य आदि करके समाज का भरण-पोषण किया वे वैश्य हुए तथा जिन लोगों ने इन तीन प्रकार की योग्यताओं में से किसी भी योग्यता का परिचय नहीं दिया वे नीच टहल करके समाज की सेवा करने लगे और वे ही समाज के चरण-रूप होकर शूद्र संज्ञा के भागी बने।

ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टय को परमात्मा के मुखादि से उत्पन्न मानने में जो पहली अड़चन है वह पाठकों को अभी दिखाई गई है। इस अड़चन को थोड़ा और भी स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है। ब्राह्मणादि वर्णों के सदस्य मनुष्य-प्राणी के अन्तर्गत हैं, अतः यह निर्विवाद है कि इनकी भी उत्पत्ति अन्य मनुष्यों की ही तरह हुई होगी। यह एक सुनिर्णीत वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा प्रकृति का अटल नियम है कि सृष्टि के प्रारंभ से लेकर अद्यावधि मानव-प्राणी के क्रमिक विकास में चाहे जितनी भी अवस्थाएँ (Stages) बीत गई हों, उन सभी अवस्थाओं में उसकी उत्पत्ति उसकी जननी और जनक के संयोग पर ही निर्भर रही है और भविष्य में भी उसी पर निर्भर रहेगी। अतः मानव-जाति के ब्राह्मणादि संज्ञाधारी सदस्यों को परमात्मा वा किसी के भी मुखादि से उत्पन्न मानना नितान्त अनर्गल, अवैज्ञानिक तथा कपोल-कल्पित है। अतः यही मानना समीचीन जान पड़ता है कि पुरुषसूक्त में जो वर्णचतुष्टय की उत्पत्ति लिखी है वह केवल आलंकारिक रूप में लिखी है, चाहे वेदों के सम्बन्धित स्थान में सृष्टि का ही प्रसंग क्यों न आया हो। यदि सृष्टि की दो अवस्थाएँ, अमैथुनी और मैथुनी, भी मानी जाएँ, तो भी प्रत्येक अवस्था में मनुष्यों की उत्पत्ति में वर्ण के कारण कोई भेद नहीं हो सकता।

इस पर प्रतिवादी कहता है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। वह जैसे चाहे वैसे ही सृष्टि कर सकता है। पर याद रहे कि उसने सृष्टि के जो नियम बनाए हैं अथवा यों कहिए कि प्रकृति के जो सृष्टि-सम्बन्धी नियम हैं वे अटल हैं। उसकी अवहेलना हो नहीं सकती। यदि परमात्मा ही अपने नियमों की अवहेलना करने लगे, तो फिर वह विश्व पर शासन क्या करेगा? नियमों का यदि इस प्रकार उल्लंघन हुआ करे, तो सारे विश्व में निरन्तर उथल-पुथल मची रहेगी

और उसमें किसी भी प्रकार की व्यवस्था न देख पड़ेगी; अतः यह निश्चय है कि पुरुषसूक्त की चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति केवल आलंकारिक है।

ब्राह्मणादिकों की उत्पत्ति सचमुच परमात्मा के मुखादि से हुई मानने से, अथवा यों कहिए कि पुरुषसूक्त की आक्षरिक व्याख्या को ही समीचीन मानने से, एक दूसरी अड़चन भी उपस्थित हो जाती है। परमात्मा को मुखाद्यवयव विशिष्ट मानना उन श्रुतियों के विरुद्ध जाता है जो उसको निराकार तथा हस्तपादाद्यवयवों से हीन बताती हैं। उदाहरण के लिए इस श्रुति को लीजिए—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यं चक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः"* इत्यादि।

अर्थ—वह (परमात्मा) बिना पैर का होता हुआ भी शीघ्रता से चलता है; बिना हाथ का होता हुआ भी पकड़ लेता है; नेत्रहीन होकर भी देखता है और कर्ण-हीन होकर भी सुनता है इत्यादि। अतः फिर भी मुझे कहना पड़ता है कि पुरुषसूक्त में चातुर्वर्ण्य का उत्पत्ति-वर्णन केवल आलंकारिक है।

अब यह देखना है कि प्राचीन वैदिक काल में यह वर्णव्यवस्था किस हालत में थी। वेदों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि उस काल में ब्राह्मणादि वर्णों की न अलग-अलग टोलियाँ थीं जैसा कि वर्त्तमान काल में देख पड़ती हैं और न उनके अलग-अलग परिवार ही थे; बल्कि एक ही परिवार में सभी वर्णों के सदस्य देख पड़ते थे जैसा कि ऋग्वेद के निम्नोद्धृत मंत्र से प्रमाणित होता है—

वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप

*पूरा मंत्र है—

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः सश्रृणोत्य कर्णः।
सर्वेत्ति वेद्यं च तस्यानस्ति वेत्ता, तमाहु रग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
श्वेताश्वतर ३।१६॥

कारुरहं ततोभिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थि मेन्द्रायेन्द्रो परिस्रव ॥
॥ ऋक्० ९।११२।३ ॥

अर्थ—हे सोम ! मैं मंत्रकर्त्ता ऋषि हूँ; मेरे पिता चिकित्सक हैं और मेरी माता पत्थर पर अनाज पीसती है। जिस प्रकार गौएँ चारा के लिए नाना चरागाहों में फिरा करती हैं उसी प्रकार हम लोग भी नाना व्यवसायों के द्वारा धनोपार्जन के लिए तुम्हारा पूजन करते हैं। तुम इन्द्र के लिए प्रवाहित होओ।

इससे यह जान पड़ता है कि किसी भी व्यक्ति का वर्ण-निर्णय उसके निजी कर्मों पर ही निर्भर रहता था और यहीं तक नहीं; बल्कि वर्णव्यवस्था उस सुदूर वैदिक काल में इतनी उदार थी कि एक ही व्यक्ति एक ही अहोरात्र में सभी वर्णों में संक्रमण कर जाता था। इसको स्पष्ट शब्दों में यों समझना चाहिए कि प्राचीन भारतीय आर्यों में किसी प्रकार का जाति-भेद न था। सभी आर्य अपने को एक ही बिरादरी के सदस्य मानते थे और गुणकर्मानुसार उनमें चारों वर्ण के लोग रहते हुए भी वे परस्पर कुछ भी भेद-भाव नहीं रखते थे। एक ही आर्य-परिवार का जो सदस्य वेद मंत्रों को कंठस्थकर अग्न्यादि वैदिक देवताओं की आराधना किया करता था वह ब्राह्मण, जो शस्त्र धारणकर शत्रुओं का मुकाबला किया करता था वह क्षत्रिय; जो गो-आदि पशुओं तथा कृषि की देख-रेख में लगा रहता था वह वैश्य तथा जो व्यक्ति झाड़ू-बहारूकर घर का कूड़ा-कर्कट साफ़ किया करता था वा दासोचित कोई अन्य काम जैसे कपड़ा धोना, पशुओं के लिए चारा काटना, उनका मलमूत्र साफ़ करना आदि किया करता था वह शूद्र माना जाता था। अभी तक प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग टोली क़ायम कर लेने की भावना उनके मस्तिष्क में अंकुरित नहीं हो पाई थी। कभी-कभी तो परिवार

का एक ही सदस्य, जैसा अभी कह आए हैं, आवश्यकतावश चारों वर्ण के काम कर लेता और कर्मविशेषानुसार सम्बन्धित वर्ण के रूप में दिखाई देता था। कुछ लोगों की यह धारणा है कि पराक्रमी तथा विजयी आर्य वेदोक्त दस्यु संज्ञाधारी काले-कलूटे जिन अनार्यों को युद्ध में जीतकर बन्दी बनाते तथा दासता की बेड़ी में जकड़ देते उन्हें ही शूद्र संज्ञा दे उनसे दास कर्म कराते थे। पर यह उनका भ्रम है; क्योंकि ऐसा मानने से प्रश्न यह उठता है कि दस्युओं पर विजय प्राप्त करने के पूर्व उनके यहाँ दासोचित कर्म कौन किया करता था? इसका यही उत्तर है कि दास कर्म वे स्वयं कर लेते थे। हाँ, यह हो सकता है कि पश्चात्काल में जब उन्हें दस्यु बन्दी मिल गए तो वे ही दास श्रेणी में ढकेल दिए गए। मनु ने दासों की उत्पत्ति ७ प्रकार की लिखी है—

ध्वजाहृतो भक्त-दासो गृहजः क्रीत-दत्त्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः॥

॥ मनु ८।४१५॥

अर्थ—जो युद्ध में जीतकर लाया गया हो, जिसने अन्न के लिए दासत्व स्वीकार कर लिया हो, जो घर की

सप्तविध दास-योनि दासी का पुत्र हो, जिसको खरीदा गया हो, जो दान में मिला हो, जिसके पिता आदि भी दास रहे हों और जो राजकीय दण्ड से बचने के लिए दास बन गया हो, ये ७ प्रकार की उत्पत्ति दासों की कही गई हैं।

इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि दासों (शूद्रों) की कोई खास अलग जाति वा टोली न थी। जो भी कोई, चाहे वह गोरा आर्य हो वा काला दस्यु, 'दास' शब्द की उक्त सप्तविध लक्षणों के अन्दर आ जाता, वही शूद्र माना जाता था।

समाज का कर्मानुसार चार दलों में विभाग

ऊपर कह आए हैं कि वैदिक आर्यों में परस्पर जाति-सम्बन्धिनी कोई भेद-भावना न थी; न उनमें तज्जन्य कोई राग-द्वेष ही था। पर परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। भारतीय आर्यों की जनसंख्या तथा उनका इस देश में भौगोलिक प्रसार एवं जीवन की आवश्यकताएँ और समस्याएँ ज्यों-ज्यों बढ़ने लगीं त्यों-त्यों वे इस बात को महसूस करने लगे कि विविध वर्णोचित कर्मों को सुचारू-रूप से सम्पादन करने के लिए अलग-अलग दल होने चाहिए जिनके सदस्य अपने-अपने निर्द्धारित कर्मों में विशेष रुचि तथा प्रवीणता रखते हों; अन्यथा समाज सदा अव्यवस्थित रहेगा और उसमें सुशृंखला कभी आएगी ही नहीं; कारण कि ऐसा प्रबन्ध किए बिना कोई अपने कार्य के लिए उत्तरदायी न रहेगा और न तो सभी से सभी काम ठीक तरह से हो ही सकेगा। सच पूछिए तो वेद मंत्रों के विशालागार में प्रवेशकर उसके कोने-कोने छान डालिए; पर आपको वर्णभेद पोषक कोई भी मन्त्र, सिवा पुरुषसूक्त के एकाकी उदाहरण के, नहीं मिलेगा और पुरुषसूक्त के विषय में भी पाश्चात्य किम्वा प्राच्य सभी विद्वानों की यह सम्मति है कि उसकी रचना अन्य वेद मन्त्रों के ऋक्, यजुः, साम और अथर्व के रूप में वर्गीकरण के कई शताब्दियों के पश्चात् हुई थी; अतः उसका वर्ण-विषयक मंत्र नितान्त नवीन है जैसा कि उसकी भाषा तथा भावना से मालूम होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय आर्यों के मस्तिष्क में स्वजन समुदाय को विविध धन्धों के आधार पर चतुर्दल में विभक्त करने की भावना आरंभ में ही एकाएक प्रादुर्भूत न होकर उनके सामाजिक संगठन के हजारों वर्ष के बाद, जब उक्त परिस्थिति ने उन्हें वर्ण-विभाग करने को वाध्य किया, धीरे-धीरे अंकुरित हुई। इसका फल यह हुआ कि जो जिस काम में दक्ष निकला उससे वहीं

काम कराया जाने लगा और अन्य कामों से वह मुक्त कर दिया गया । और चूँकि समान धन्धे वालों के बीच स्वभावतः एक प्रकार का पारस्परिक अनुराग और सहानुभूति रहती ही है, इससे उनके दल बनने लगे और फल-स्वरूप सारी आर्य जनता धीरे-धीरे चार दलों में विभक्त हो गई । संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि पिता अपना ही धन्धा अपने पुत्रों को सिखलाता है; क्योंकि शैशव-काल से ही वे उसी धन्धे के सम्पर्क में रहते हैं जिससे उनकी उसमें स्वाभाविक रुचि उत्पन्न हो जाती है और इसी कारण वे उसे आसानी से सीख भी लेते हैं । इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण के कर्म वंशगत हो गए जो कालान्तर में जाकर जाति-भेद के कारण बने । पर अभी तक यह अवस्था नहीं आई थी कि गुण-कर्मों की अवहेलनाकर वर्ण-निर्णयार्थ कुल-विशेष में जन्म लेना ही पर्याप्त समझा जाय; क्योंकि हमें अपने धर्मग्रन्थों में जन्म की उपेक्षा कर कर्मानुसार वर्ण परिवर्त्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं । वर्ण-चतुष्टय की चहार-दीवारी इतनी कठोर और दुर्भेद्य अभी तक न हो पाई थी कि योग्यतानुसार उन्नति किम्बा अवनति का द्वार बन्द रहे । अन्य जातियों में उत्पन्न वशिष्ठादि महर्षियों का ब्राह्मण बन जाना पहले (प्रथम परिच्छेद में) लिख आया हूँ । इसके अतिरिक्त वर्ण-परिवर्त्तन के और भी कितने उदाहरण ढूँढ़ने पर आपको मिलेंगे; जैसे—

वर्ण-परिवर्त्तन के उदाहरण

(१) ऐतरेय ऋषि । ये दासी-पुत्र थे । किन्तु अपने गुण-कर्मों के कारण ये इतने बड़े विद्वान् हुए कि इन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद् आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की ।

(२) कवष ऐलूष । ये भी दासी पुत्र थे । ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि ऋषियों ने इन्हें दासी-पुत्र कहकर यज्ञ से निकाल

दिया। तत्पश्चात् इन्होंने संपूर्ण ऋग्वेद का अध्ययनकर उसके नए-नए विषयों को हृदयंगम किया। तब ऋषियों ने उन्हें सादर बुलाकर अपना आचार्य बनाया और यज्ञ किया। ऐतरेय ब्राह्मण २।१६।

(३) पृषध्र। ये मनु के पुत्र थे, जो गुरु की गाय मारने से शूद्र हो गए। भागवत ६।२।६ पढ़िए।

(४) नाभाग। दिष्ट-पुत्र नाभाग क्षत्रिय से वैश्य हो गए। भागवत ६।२।२३ पढ़िए।

(५) धार्ष्ट ब्राह्मण। मनु के धृष्ट नाम पुत्र से धार्ष्ट क्षत्रिय हुए जो अपने कर्मों से ब्राह्मण बन गए। भागवत ६।२।१७ देखिए—

(६) अग्निवेश्य। मनु के वंश में अग्निवेश्य हुए जिनके वंशधर क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए। भागवत ६।२।२२ देखिए। इन्हें अग्निवेश्यायन ब्राह्मण कहते हैं।

(७) रथीतर। ये दुर्वासा के मान-मर्द्दन करने वाले राजा अम्बरीष के प्रपौत्र थे। अंगिरा ऋषि ने इनकी स्त्री में नियोग द्वारा जिन पुत्रों को उत्पन्न किया वे अपने कर्मों से ब्राह्मण बनकर क्षत्रिय जाति से पृथक् हो गए। इन्हें रथीतर गोत्रीय आंगिरस ब्राह्मण कहते हैं। भागवत ६। ६। ३ देखिए।

(८) हारीत ब्राह्मण। सूर्यवंशीय नरपतियों में मांधाता नामक एक प्रसिद्ध राजा हो गए हैं। मांधाता के पुत्र अंबरीष (दूसरे) हुए। इन अम्बरीष के पुत्र युवनाश्व और युवनाश्व के पुत्र हरीत हुए। इन हरीत के जो वंशधर हुए, वे हारीत गोत्रवाले आंगिरस ब्राह्मण कहलाए। लिङ्गपुराण में लिखा है—

'हरितो युवनाश्वस्य, हारीता यत आत्मजाः।
एतेह्यङ्गिरसः पक्षे क्षत्रोपेता द्विजातयः'॥

अर्थ—युवनाश्व के पुत्र हरित हुए और हरित के वंशधर

आङ्गिरस पक्ष के क्षत्रोपेत हारीत ब्राह्मण हुए। विष्णु पुराण ४।३।५ में भी यही बात लिखी है।

(९) शौनक। चन्द्रवंशीय प्रसिद्ध राजा पुरूरवा के पौत्र क्षत्रवृद्ध हुए। क्षत्रवृद्ध के पौत्र गृत्समद तथा इनके पौत्र शौनक हुए जिनसे चारों वर्ण की उत्पत्ति हुई। वायु पुराण में लिखा है—

पुत्रो गृत्समदस्यादि शुनको यस्य शौनकः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च।
एतस्यवंशे संभूता विचित्राः कर्मभिर्द्विज ॥

अर्थ—गृत्समद के पुत्र शुनक और शुनक के पुत्र शौनक हुए जिन के वंश में अपने-अपने गुणकर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए। विष्णु पुराण (४।८।१) और हरिवंश पुराण (२९।८) में भी यह वार्त्ता लिखी है।

(१०) मेधातिथि। चन्द्रवंशीय राजा पुरु का वंश वर्णन करने के पूर्व शुकदेवँ परीक्षित् से कहते हैं—

'पुरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत।
यत्र राजर्षयो वंश्याब्रह्म-वंश्याश्चजज्ञिरे' ॥

॥भागवत ९।२०१॥

अर्थ—हे भारत कुलोत्पन्न परीक्षित्! अब पुरु के वंश का वर्णन करूँगा जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ है तथा जिसमें अनेक राजर्षि तथा ब्राह्मण-वंश उत्पन्न हुए हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि अनेक ब्राह्मण-वंशों के जन्मदाता पुरुवंशीय क्षत्रिय हैं। इसके उदाहरण लीजिए—पुरु के वंश में अप्रतिरथ हुए। अप्रतिरथ के पुत्र कण्व और कण्व के पुत्र मेधातिथि हुए जिससे प्रस्कण्व आदि की ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई॥ भागवत ९।२०।७॥ अन्य उदाहरण नीचे पढ़िए।

(११) गार्ग्य, त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि। दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत ने जिन भरद्वाज वा वितथ को अपना पुत्र बनाया था उनका वृत्तान्त पूर्व में (पंचम परिच्छेद में) लिख आया हूँ। इन्हीं वितथ के पौत्र गर्ग हुए। गर्ग के पुत्र शिनि और शिनि के पुत्र गर्ग्य हुए जो जन्मतः क्षत्रिय होते हुए भी अपने कर्मों से ब्राह्मण हो गए। वितथ के अन्य पौत्र महावीर्य थे जिनके दुरतिक्षय नामक पुत्र के त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि ये तीन पुत्र हुए जो कर्मों के द्वारा ब्राह्मण बन गए। भागवत ९।२१।१९-२०।

(१२) प्रियमेधादि और मौद्गल्य ब्राह्मण। उक्त राजा वितथ के वंश में ही राजा अजमीढ़ और राजा मुद्गल हुए जिनसे क्रमशः प्रियमेधादि और मौद्गल्य ब्राह्मणों का निकास हुआ। भागवत ९।२१।२१ तथा ३३।

(१३) रम्भ। ये चन्द्रवंशीय राजा पुरूरवा के पौत्र थे जिनके प्रपौत्र आक्रिय हुए। इन्हीं आक्रिय के क्षेत्र (स्त्री) में एक ब्राह्मण कुल की उत्पत्ति हुई। भागवत ९। १७।१० देखिए—

'रम्भस्य रभसो पुत्रो गम्भीरश्चाक्रिय स्ततः।
तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे शृणु वंशमनेनसः' ॥

अर्थ—रम्भ के पुत्र रभस हुए और उनके गम्भीर हुए। पुनः गम्भीर के पुत्र अक्रिय हुए जिनके क्षेत्र में ब्रह्म वंश ने जन्म लिया। अब अनेना का वंश सुनिए।

(१४) भार्गभू। विष्णु पुराण में लिखा है—

'भार्गस्य भार्गभूरतश्चातुर्वर्ण्य प्रवृत्ति'।

अर्थ—भार्ग के पुत्र भार्गभू हुए जिनसे चारों वर्ण की प्रवृत्ति हुई।

(१५) वत्स भूमि और भार्गभूमि। हरिवंश के ३२वें अध्याय में लिखा है—

वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भार्गभूमिस्तु भार्गवात्।
एते त्वाङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च भरतषर्भ ॥४०॥

अर्थ—वत्स के पुत्र वत्सभूमि और भार्गव के भार्गभूमि हुए। भृगु-वंश में उत्पन्न ये अंगिरा के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्ण के वंश-प्रवर्त्तक हुए।

(१६) नाभागारिष्ट। हरिवंश के ११वें अध्याय में ही लिखा है—

नाभागारिष्ट-पुत्रौ द्वौ वश्यौ ब्राह्मणतां गतौ ॥६॥

अर्थ—नाभागारिष्ट के दो पुत्र वैश्य से ब्राह्मण हो गए।

(१७) दिवोदास। ये एक चन्द्रवंशीय क्षत्रिय राजा थे। इन्हीं की बहन अहल्या थी जो गौतम से ब्याही गई थी। हरिवंश के ३२वें अध्याय में लिखा है—

दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुर्नृपः।
मैत्रायणस्ततः सोमो मैत्रेयास्तुसततः स्मृताः ॥

अर्थ—दिवोदास का पुत्र मित्रयु ब्रह्मर्षि हुआ। मित्रयु से मैत्रायण सोम हुए। उस वंश वाले इसी कारण मैत्रेय कहलाए।

(१८) अरिष्टषेणः। महाभारत, शल्यपर्व, ४।३६-३७ में लिखा है—

अरिष्टषेणः कौरव्य ब्राह्मण्यं संशित व्रतः।
तपसा महता राजन् प्राप्तवानृषिसत्तमः ॥३६॥
सिन्धुद्वीपश्च राजर्षिर्देवापिश्च महातपाः।
ब्रह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रस्तथामुनिः ॥३७॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन ! अपने व्रत को पूरा करने वाले तथा ऋषि-

श्रेष्ठ अग्निष्टेण ने बड़ी तपस्या से ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया ॥३६॥ राजर्षि सिन्धुद्वीप, महातपस्वी देवापि तथा मुनि विश्वामित्र ब्राह्मण हो गए ॥३७॥

नमूने की तरह वर्ण-परिवर्त्तन के ये कतिपय उदाहरण दिए गए। और भी दिए जा सकते थे; पर स्थानाभाव के कारण नहीं दिए गए। यहाँ ये इस अभिप्राय से दिए गए कि पाठकों को भली भाँति मालूम हो जाय कि प्राचीन काल में वर्ण-निर्णय का आधार कर्म था न कि कुलविशेष में जन्म। यहाँ पर मैं अपने पाठकों को साव-धान कर देना चाहता हूँ कि मेरा विचाराधीन विषय यह कदापि नहीं है कि वर्ण का निर्णय कर्मानुसार होना चाहिए वा जन्मानुसार। बल्कि इस विषय में मेरी निजी सम्पत्ति तो यह है कि वर्ण जन्म तथा कर्म दोनों की ही दृष्टि से, जैसा कि मैं आगे चल कर दिखाऊँगा, असिद्ध, अनावश्यक तथा ढोंग मात्र है, जिसने हिन्दू जाति को सदा के लिए पंगु तथा अनुन्नतिशील बना दिया है। मैं यहाँ केवल यही दिखा रहा हूँ कि प्राचीन काल में वर्ण एक ढोली तथा लचीली वस्तु थी, जो कर्मानुसार घट-बढ़ सकती थी।

जाति और वर्ण में भेद

वर्ण-व्यवस्था पर लिखते हुए मैं पाठकों की सेवा में जाति और वर्ण में क्या भेद है, इसे भी बतला देना अत्या-वश्यक समझता हूँ। यद्यपि सर्व-साधारण में इन दोनों शब्दों का प्रयोग बिना किसी भेद-भाव के होता हुआ देख पड़ता है; तथापि इनके वास्तविक अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जाति प्राकृतिक; पर वर्ण कृत्रिम है। जाति जन्मप्राप्त आकृतिविशेष पर; पर वर्ण वैयक्तिक गुण-कर्म पर आश्रित रहता है। जाति-भेद का ज्ञान आकृति देख कर ही स्वतः अर्थात् बिना किसी के बताए हुए ही हो जाता है, पर वर्ण-भेद का ज्ञान बिना बताए हुए नहीं होता। जैसे मनुष्य, गाय, घोड़ा, गधा

आदि प्राणियों को देखते ही बिना किसी के बताए हुए ही हम जान लेते हैं कि यह मनुष्य है, यह घोड़ा है इत्यादि। पर किसी मनुष्य को केवल देखने से ही बिना उसके वा किसी के कहे उसके वर्ण का ज्ञान नहीं होता कि वह ब्राह्मण है या शूद्र। यदि कहो कि यज्ञोपवीतादि को देखकर ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता है, तो यज्ञोपवीतादिका धारण एक कृत्रिम व्यापार है; अकृतिम नहीं। हाँ, जन्म से ही यदि ब्राह्मणादि चारों वर्ण के आकारों में कुछ भिन्नता देख पड़ती, तो कहा जाता कि वर्ण भी जाति की तरह प्राकृतिक है जो बिना बताए जाना जाता है। दो भिन्न-जाति के प्राणियों में मैथुन-सम्बन्ध होने पर भी बच्चा उत्पन्न नहीं होता; पर दो भिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों के बीच यौन-सम्बन्ध होने पर बच्चा उत्पन्न होता है। अतः ब्राह्मण और शूद्र दो भिन्न-वर्ण के होते हुए भी इसी कारण सजाति हैं; पर मनुष्य और गाय सजाति नहीं हैं। यदि कहो कि यौन-सम्बन्ध और सन्तति-प्रजनन के आधार पर तो घोड़े और गधे भी सजाति हो जाएँगे तो ठीक ही है। गधे भी घोड़ों की एक उपजाति-मात्र हैं जिससे वे घोड़ों के सजाति कहे जा सकते हैं। प्राणिविद्या विशारदों ने गधे को अश्व-परिवार के ही अन्तर्गत रखा है। अंग्रेज़ी डिक्शनरियों में Ass शब्द का अर्थ A well-known quadruped of the horse-family (अश्व-परिवार का एक प्रसिद्ध चौपाया) लिखा रहता है। व्याकरण शास्त्र में जाति का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

आकृति-ग्रहण जातिर्लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्।
सकृदा ख्यात निर्ग्राह्या गोत्रंच चरणैः सह॥

अर्थ—आकृति के द्वारा जो पहचानी जाए, जो सम्पूर्ण लिङ्गों को न ग्रहण करे और जो एक बार के उपदेश से ही

जाति का लक्षण — जान ली जाए वह जाति है। इसी प्रकार वेद के किसी एक देश के कठादि शाखा अध्येत्ट आदि शब्द और अपत्यप्रत्ययान्त शब्द भी जाति वाचक हैं।

वेदों की शाखाएँ क्या हैं, इसका विवेचन मैं पूर्व (द्वितीय-परिच्छेद) में ही कर आया हूँ। प्रत्येक शाखा के अध्ययन करने वाले व्याकरण की दृष्टि से एक एक जाति हैं; जैसे कठ, शाकल, आश्वलायन, वाष्कल, आपस्तम्ब, इत्यादि। चरण शब्द का अर्थ वेद-शाखा है। इसी प्रकार अपत्यप्रत्ययान्त गोत्र-वाचक शब्द भी जैसे गार्ग, गार्गी आदि व्याकरण की दृष्टि से जाति-संज्ञाएँ हैं। पर विज्ञान की दृष्टि से जाति भेद का मुख्य आधार केवल आकृति-भेद ही है; और शाखा और गोत्र तो वस्तुतः व्याकरण के प्रयोजन के लिए जाति करार दिए गए हैं; अन्यथा वे भी आकृति-साम्य के कारण मनुष्य जाति से पृथक नहीं हैं। व्याकरण के प्रयोजन ज्ञानार्थ अष्टाध्यायी के इन सूत्रों को देखिए जातेरस्त्रीविषयादयोप धात् ४।१।६३; नञ् २।२।६; जातिरप्राणिनाम् २।४।६; जातिनाम्नः कन् ५।३।८१; वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३; ब्राह्मोऽजातौ ६।४।१७१; इत्यादि।

महाभाष्य में जाति का लक्षण इस प्रकार कहा है—

प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्वस्य युगपद् गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥

अर्थ—सत्त्व (द्रव्य) की उत्पत्ति और विनाश के साथ रहने वाले गुणों से जो एक साथ मिली है, जो सब लिंगों को नहीं भजती तथा जिसके अर्थ बहुत हैं, उसे पंडित-गण जाति कहते हैं।

जाति शब्द की इन परिभाषाओं के अनुसार मनुष्य मात्र एक जाति है। इसी प्रकार अश्व मात्र एक जाति है। और अश्व-जाति में जैसे अरबी, वैलर, काबूली, भूटिया, गधा आदि प्राकृतिक अवान्तर भेद हैं वैसे ही मनुष्य-जाति में आर्य, द्राविड़, हबशी,

मंगोल आदि प्राकृतिक अवान्तर भेद हैं। जो लोग ब्राह्मणादि चार वर्णों को गाय, घोड़े, गधे आदि की तरह प्राकृतिक अवान्तर भेद मानते हैं वे या तो स्वयं भ्रम ग्रस्त हैं या स्वयं वस्तुस्थिति जानकर भी दूसरों को बहकाने वाले हैं; क्योंकि, जैसा अभी कहा गया है, गाय, घोड़े, गधे आदि में परस्पर यौन-सम्बन्ध द्वारा प्रसव क्रिया नहीं हो सकती; पर ब्राह्मण और शूद्र के बीच वैसी क्रिया होती है। यदि कहो कि ब्राह्मण आदि चारों वर्ण में गाय, घोड़ा गधे आदि की तरह भले ही भेद न हो; पर आर्य, द्रविड़, हबशी आदि की तरह तो है; पर वह भी नहीं, कारण कि ब्राह्मण आदि मनुष्य जाति के कृत्रिम भेद हैं और आर्य, द्रविड़ आदि प्राकृतिक भेद हैं।

मनुष्यमात्र एक जाति है, इसका समर्थन संख्याकारिका ५७ में भी होता है—

अष्ट विकल्पो दैवस्तैर्यग् योन्यश्च पञ्चधा भवति।
मनुष्यश्चैकविधःसमासतः भौतिकः सर्गः।

वाचस्पति मिश्र को व्याख्यानुसार इसका अर्थ यह है—

ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच, ये आठ प्रकार की देव योनियाँ हैं। तिर्यक् योनि पाँच प्रकार की हैं—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप (रेंगने वाले जन्तु जैसे साँप, केचुआ आदि) और स्थावर। मनुष्य योनि एक ही प्रकार की है। ब्राह्मणादि चारों वर्ण में किसी प्रकार का पार्थक्य न होने से वे मनुष्य जाति के अवान्तर भेद नहीं माने गए।

नैयायिकों के मत से सोलह पदार्थों के अन्तर्गत जाति भी एक पदार्थ है। गौतम-न्याय-सूत्र में जाति का लक्षण इस प्रकार कहा है—

समान-प्रसवात्मिका जातिः ॥

न्याय० अ० २ आह्नि० २ सूत्र ७१॥

अर्थ—समानः तुल्यः प्रसवः जनन व्यापारः आत्मा स्वरूपो-यस्याः सा जातिः अर्थात् जिसका स्वरूप है एक ही तरह का जनन-व्यापार वह जाति है कहने का तात्पर्य यह है कि जिन प्राणियों की जनन-क्रिया एक सी होती है वे परस्पर सजाति हैं। जाति के इस लक्षण से मनुष्य मात्र सजाति हैं; क्योंकि वे एक ही तरह से बच्चे उत्पन्न करते हैं। थोड़े शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि जिस पदार्थ से समानता का बोध हो वह जाति है।

तर्क प्रकाशिका में जाति का यह लक्षण कहा गया है—'नित्याऽनेकसमवेतम्', अर्थात् जो पदार्थ नित्य और समवाय सम्बन्ध से सब पदार्थों में वर्त्तमान है उसी का नाम जाति है; जैसे द्रव्यत्व, घटत्व आदि।

मनुष्य मात्र के एक जाति होने के कारण इनमें गाय, घोड़े आदि की तरह परस्पर जाति-भेद नहीं है, इसकी पुष्टि भविष्य पुराण भी करता है; यथा—

'तस्मान्न गोऽश्ववत्कश्चि-ज्जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्।'

अर्थ—अतः मनुष्यों में गाय, घोड़े आदि की तरह कोई जाति भेद नहीं है।

जन्मानुसार वर्ण

जाति और वर्ण में इस प्रकार वास्तविक अन्तर दिखाकर अब यह दिखाया जाएगा कि वर्ण, जो प्रारंभ में कर्मगत था, किस प्रकार अपना मौलिक महत्त्व खोकर जन्मगत वा वंशगत हो गया जिसका फल यह हुआ कि सन्तान अपने पूर्वपुरुषों के ही वर्ण की मानी जाने लगी चाहे उसमें संबन्धित वर्ण की योग्यता वा अयोग्यता भले ही न पाई जाय। संसार का इतिहास हमें बताता है कि सभी देशों में धर्माचार्यों, पंडे-पुजारियों आदि का

आधिपत्य, दबदबा, प्रभाव आदि साधारण जनता पर सदा से चला आ रहा है और वे नाना प्रकार की सामाजिक सुविधाओं का उपभोग करते चले आ रहे हैं। सभी धर्म (मज़हब वा Religion) जनता के अन्धविश्वास पर अवलम्बित रहते हैं। वह नाना प्रकार के अलौकिक शक्ति-सम्पन्न मिथ्या देव-देवियों, फिरिश्तों, स्वर्ग, नरक, दोज़ख, वहिश्त आदि के अस्तित्व में विश्वास रखती है। उनके हृदय में चिरकाल से यह धारणा जड़ जमाए हुई है कि बिना धर्म गुरुओं की सहायता से उनके इष्ट देव प्रसन्न नहीं हो सकते; तथा उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति व नरक से नजात नहीं मिल सकती; क्योंकि वे ही, उनकी समझ में उक्त पारलौकिक-कर्म-विषयक-विधि निषेध के विशेषज्ञ हैं। अतः उक्त पारलौकिक लाभों के लिए पुरोहितों को दान-मानादि से खुश रखना ज़रूरी हो जाता है, जिससे उनकी पाँचों उँगलियाँ, जनता के इस अन्धविश्वास से लाभ उठाते रहने से, सदा घी में डूबी रहती है। स्वार्थ-परायणता मानव-प्रकृति का एक अंग सी मालूम पड़ती है शुद्ध से शुद्ध मानव-प्रकृति में भी इसका एक अंश अवश्य देखने में आता है। फल यह होता है कि जिन सुविधाओं का रसास्वादन हम एक बार कर लेते हैं, उन्हें हम छोड़ना नहीं चाहते। हमारी यही इच्छा होती है कि वे हमारी तथा हमारी भावी सन्तान की एकाधिकार बनकर रहें। हमारे यहाँ के बेचारे धर्माचार्य इस जगत व्यापी प्राकृतिक नियम के अपवाद कैसे हो सकते थे ? ब्राह्मण-समुदाय ने समाज में जिस उच्चपद को कठोर परिश्रम के द्वारा अर्जित किया था, उसे अपने ही कुल में सीमित रखने को उन्हें स्वभावतः एक प्रबल इच्छा हो गई। उन्हें भय हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि अन्य वर्ण के लोग भी गुण-कर्मों के द्वारा उन्नति करते-करते हमारे पद को छीन लें तथा हमारी भावी सन्तान अयोग्यता के कारण वर्णान्तर में ढकेल दी जाएँ; अतः वर्ण-

निर्णयार्थ वे केवल जन्म को ही सब कुछ मानने तथा ऐसे-ऐसे श्लोकों की रचना करने लगे—

ब्राह्मणो जायमानोहि पृथिव्या मधिजायते ।
ईश्वरः सर्व भूतानां धर्म्म-कोशस्य गुप्तये ॥मनु० १।९९॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगती गतम् ।
श्रैष्ट्येनाभिजनेनेदं सर्वं वैब्राह्मणोऽर्हति ॥मनु० १।१००॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुंजते हीतरे जनाः ॥मनु० १।१०१॥

ब्राह्मणों की तथाकथित जन्मसिद्ध श्रेष्ठता

अर्थ—ब्राह्मण जन्म लेते ही पृथ्वी के समस्त जीवों में श्रेष्ठ होता है। वह सब प्राणियों का ईश्वर है और धर्म्म के खज़ाने का रक्षक है॥ इस जगत् में जो कुछ सम्पत्ति है, वह सब ब्राह्मण की ही निजि सम्पत्ति है। अपने उत्तम जन्म के कारण ब्राह्मण सकल सम्पत्तियों के पाने के योग्य है॥ ब्राह्मण यदि पराया अन्न भोजन करता है, पराया वस्त्र पहनता है और पराये का धन लेकर दूसरों को देता है, तो वे सब उसके ही अन्नादि हैं; क्योंकि अन्य सब लोग ब्राह्मण की दया से ही भोजनादि पाते हैं॥

जो लोग यह कहते हैं कि ब्राह्मणों ने अपने लिये धन-दौलत, भोग-विलास आदि कुछ भी नहीं रखा। उसे वे दूसरों को सौंप और स्वयं भिक्षा-वृत्ति अंगीकारकर संसार के सामने एक अलौकिक निःस्वार्थता का आदर्श खड़ा कर दिया, वे पूरे बुद्धू हैं। मनुस्मृति के पूर्वोक्त श्लोकों से प्रकट है कि दूसरे लोग धन को ब्राह्मणों के थाती-स्वरूप ही रखते थे, जिसे वे जब चाहें, ले सकते थे। इससे बढ़कर उस्तादी क्या होगी कि धनोपार्जन के लिये एड़ी-चोटी का पसीना एक करने वाला कठोर परिश्रम, और उसकी रक्षा में नींद को हराम

करने वाली चिन्ता तो करें दूसरे, और उसके द्वारा बैठे-बैठे मौज उड़ावें हम ! ब्राह्मणों की तथाकथित जन्मसिद्ध श्रेष्ठता के विषय में और पढ़िए—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तुतयोः पिता ॥

मनु० २।१३५॥

अर्थ—दस वर्ष के ब्राह्मण और सौ वर्ष के क्षत्रिय को क्रमशः पिता और पुत्र जाने; अर्थात् इन दोनों में बालक ब्राह्मण को पिता और बूढ़े क्षत्रिय को पुत्र समझे ! इस श्लोक ने जन्म के तथाकथित महत्त्व का तो हद्द ही कर दिया; यहाँ तक कि ब्राह्मण छोकरों को भी बड़े-बूढ़े क्षत्रियों का पिता बना दिया !! पुनश्च—

अविद्वांश्चैव विद्वांच ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥९।३१७॥

अर्थ—जैसे अग्नि, चाहे संस्कार-युक्त हो वा संस्कारहीन, एक महान् देवता है, वैसे ही ब्राह्मण भी, चाहे विद्वान् हो वा मूर्ख, एक महान् देवता है ॥ पुनश्च उसी प्रसंग में—

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूयएवाभिवर्द्धते ॥

मनु०९।३१८॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥

मनु० ९।३१९॥

अर्थ— जैसे तेजस्वी अग्नि मरघट में मुर्दों को जलाने से भी अपवित्र नहीं होता और यज्ञों में हवन किए जाने पर फिर भी वृद्धि को प्राप्त होता है । वैसे ही ब्राह्मण यदि निन्दित कर्म में भी प्रवृत्त हो

जाएँ तथापि वे सब के पूज्य हैं; क्योंकि ब्राह्मण परम देवता-स्वरूप हैं॥ इन श्लोकों ने तो गुण-कर्म के महत्त्व को पूरी तरह से ताक पर रख केवल जन्म को ही सब कुछ मान लिया। पुनश्च—

दशस्थानानि दण्डस्य मनुः स्वयंभुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानिस्युरक्षतः ब्राह्मणो व्रजेत्॥

मनु० ८।१२४

महापराध में स्वायंभुव मनु ने दंड के मूत्रेन्द्रिय आदि जो दस स्थान वर्णन किए हैं. वे क्षत्रिय आदि केवल तीन वर्णों के ही लिये हैं; ब्राह्मण इन शारीरिक दंडों से मुक्त है। ज़रा नीचे के श्लोक पर दृष्टिपात कीजिए जिसके द्वारा ब्राह्मण का पक्ष लेकर सभी को धमकी दी गई है—

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः।
क्षयीचाप्यायितः सोमः को न नश्येत् प्रकोप्यतान्॥

मनु० ९।३१४॥*

अर्थ—जिन ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर अग्नि को सर्वभक्षी किया; समुद्र का जल खाराकर उसे पीने के योग्य न रहने दिया और चन्द्रमा को क्षय रोग का रोगी बना पुनः उस पर दया करके उसे अच्छा किया, उन ब्राह्मणों को कुपित करके कौन ऐसा है जो नष्ट न हो जाएगा? जान पड़ता है कि मनु (वा भृगु) इस श्लोक की रचना करते समय राजा अम्बरीष का पक्ष लेकर सुदर्शन चक्र ने ब्रह्मर्षि-पुंगव दुर्वासा की जो दुर्दशा की थी उसे भूल गए थे। भागवत ९।४-५ पढ़िए। कितने धूर्त्त तथा उनके द्वारा बेवकूफ बनाए हुए कितने भोले-भाले हिन्दू भाई यह कहा करते हैं कि अरे भाई! पहले ज़माने में ब्राह्मण देवता लोग ऐसे योग्य होते ही थे कि जिसके कारण उन्हें

*श्लोक ३१३, ३१५ और ३१६ भी पढ़िए।

उक्त सब सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त थीं तथा जनता भी उन्हें देवबुद्धि से देखा करती थी। इसके उत्तर में मुझे केवल इतना ही कहना है कि मनु (वा भृगु) ने 'अविद्वांश्चैव विद्वांश्च', 'एवंयद्यप्यनिष्टेषु' आदि वचन ब्राह्मणों के पक्ष में लिखकर लायक और नालायक का प्रश्न ही उठा दिया। ब्राह्मण, चाहे लायक हो वा नालायक, समान रूप से पूजा के पात्र हैं। यही धर्मशास्त्र का आदेश है जो नितान्त स्वार्थपूर्ण है। इसके अतिरिक्त यह भी जान लेना चाहिए कि जिस ज़माने में योग्यता ही समाज में सम्मान पाने का आधार रहा होगा उस ज़माने में ब्राह्मण अभिधा का कोई जाति या वंश न रहा होगा, फिर उक्त उद्धरण से यह बात भी खंडित हो जाती है कि उस काल में सभी ब्राह्मण लायक ही होते थे; उनमें नालायक कोई भी न था।

मनुस्मृति वस्तुतः भृगु-स्मृति है

मनुस्मृति पर इस प्रकार ब्राह्मण जाति-विषयक स्वार्थपरायणता का दोष लगते हुए देखकर कुछ धूर्त्त उसकी सफ़ाई में यह दलील पेश करते हैं कि मनु तो कुछ ब्राह्मण नहीं थे जो उन्होंने स्वजाति के लिए जान-बूझकर पक्षपात किया। वे तो क्षत्रिय थे; अतः उन्होंने ब्राह्मणों के हक में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा पक्षपातरहित और माननीय है। पर ऐसे धूर्त्तों तथा उनके बहकाए हुए अन्य सीधे-सादे भाइयों को मैं बता देना चाहता हूँ कि मनु का भाषण मनुस्मृति, अध्याय १, श्लोक ५६, तक जाते-जाते समाप्त हो गया है, जिसमें उन्होंने अपने श्रोताओं को भृगु से धर्मशास्त्र श्रवण कर लेने का आदेश दिया है और उक्त श्लोक के बाद सारी मनुस्मृति भृगु की कही हुई है, जो स्वयं ब्राह्मण थे। अतः यदि मैं इस स्मृति को मनुस्मृति न कहकर भृगुस्मृति कहूँ और भृगु के स्वजाति ब्राह्मण-विषयक उक्त कथन को अन्यायपूर्ण कहूँ तो मेरा यह कथन

सोलहों आना सत्य है। मेरे इस कथन की पुष्टि मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोकों से होती है—

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः॥

मनु० १।५६॥

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगु प्रोक्तं पठन् द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम्॥

मनु० १२।१२६॥

अर्थ—भृगु जी इस शास्त्र को आदि से लेकर अन्त तक आप लोगों को सुनावेंगे; क्योंकि उन्होंने मुझसे सम्पूर्ण शास्त्र भली प्रकार पढ़ा है॥ इस प्रकार भृगु जी के कहे हुए इस मानव-शास्त्र को नित्य पढ़ने वाला द्विज आचारवान् हो जाता और स्वर्गापवर्गरूप अभीष्ट गति को पा जाता है॥ यह श्लोक मनुस्मृति का अन्तिम श्लोक है जिस पर वह समाप्त हो जाती है। अतः यदि भृगु स्वकथित इस मानव-शास्त्र में अपनी बिरादरी के फ़ायदे के लिए अपनी ओर से नमक-मिर्च मिला दिए हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? यथार्थ बात तो यह है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। वे एक ही शासन-शरीर की दो भुजाएँ हैं। उनमें से एक दूसरे के स्वार्थों की रक्षा करना स्वाभाविक है।

ब्राह्मण-स्वार्थ-पोषक पूर्वोद्धृत श्लोकों की तरह और भी कितने श्लोक हमारे धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा इतिहास-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं जो केवल इस जाति का हिन्दू समाज के ऊपर अखंड अधिकार तथा आतंक सदा के लिए कायम रखने के अभिप्राय से ही रचे गए हैं। इन श्लोकों से स्पष्ट है कि स्वार्थ, अहंकार, अकर्मण्यता, अनायास-लभ्य-सांसारिक-सुख-लोलुपता ही ऐसी जघन्य मनोवृत्ति के कारण

थे। स्वार्थपरता अपनी चरम सीमा को तभी पहुँच गई जब महर्षि-पुंगव वशिष्ठ स्वयं वेश्या-पुत्र तथा वृषली (अक्षमाला) फेन पीत होते हुए भी ब्राह्मण बन गए; पर उनको एक कुलीन क्षत्रिय-पुत्र विश्वामित्र की ब्राह्मणत्व-प्राप्ति असह्य हो गई और उनसे जहाँ तक बन पड़ा, विश्वामित्र के अभ्युत्थान में रोड़े अटकाने से वे बाज़ नहीं आए और तिस पर तुर्रा यह कि उनको अपनी इस काली करतूत पर तनिक भी लज्जा न आई। महर्षिमन्य वशिष्ठ की यह स्वार्थ-पूर्ण हरकत हमें उन रेल-मुसाफिरों का व्यवहार याद दिलाती है जो स्वयं रेल के डब्बे में किसी तरह ज़ोर लगाकर सीट प्राप्त कर लेने के बाद दूसरों को अपने डब्बे में चढ़ने नहीं देते। ब्राह्मणों की इस स्वार्थ मनोवृत्ति का यह फल हुआ कि वर्ण-निर्णय में 'जन्म' ने 'कर्म' का स्थान छीन लिया और हिन्दुओं में जाति-प्रणाली की नींव पड़ गई, जिसने उन्हें सहस्रों टुकड़ियों में छिन्न-भिन्नकर और उनमें परस्पर राग-द्वेष, असहिष्णुता, घृणा, असहानुभूति; छूआ-छूत आदि जैसा मलिन भावनाओं को फैलाकर उन्हें सदा के लिए कमज़ोर तथा अपाहिज बना दिया। यहाँ पर इसका विचार नहीं हो रहा है कि वर्ण-व्यवस्था अच्छी चीज़ है या बुरी; पर सच पूछिए तो यह व्यवस्था, चाहे भली हो या बुरी, वर्त्तमान काल में शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दू समाज में एकदम लापता है। कहने का अभिप्राय यह कि हम किसी भी जाति को निष्पक्ष होकर सामूहिक रूप से धर्म शास्त्रा-नुसार ठीक-ठीक किसी भी वर्ण के अन्तर्गत, यहाँ तक कि स्वयं ब्राह्मण जाति को भी उस रूप से ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत नहीं रख सकते; कारण कि प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण उसके गुण, कर्म और स्वभाव पर अवलम्बित रहता है और किसी भी जाति के सभी व्यक्तियों के गुण-कर्मादि एक से नहीं हो सकते। अतः हमें निश्चया-त्मक रूप से समझ लेना चाहिए कि अधुनातन हिन्दू-समाज चार

वर्णों में नहीं; बल्कि असंख्य संदिग्ध-वर्ण जातियों में विभक्त हो गया है जो बाहर से देखने पर नारंगी के फल की तरह एक मालूम होता हुआ भी भीतरी भाग में अनेक परस्पर निरपेक्ष फाँकों से भरा है। अथवा दूसरे शब्दों में यह समझिए कि हिन्दू नामधारी यह विशाल समाज परस्पर असंबद्ध तथा राष्ट्रीय चेतनाहीन हज़ारों जातियों तथा उपजातियों का ढेर मात्र है।

वर्ण-व्यवस्था कर्म तथा जन्म दोनों से असिद्ध है।

यह देखकर कि वर्ण-व्यवस्था किस प्रकार आरम्भ में कर्म-मूलक होकर भी बाद में जन्म-मूलक हो गई, अब यह दिखाया जाएगा कि यह व्यवस्था, कर्म तथा जन्म, दोनों की ही दृष्टि से असिद्ध, अव्यावहारिक तथा हानिकर है। कर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था से कुछ अच्छी होती हुई भी सदा चल नहीं सकती। वह अवश्य ही चलते-चलते कुछ काल के बाद स्वार्थवश जाति प्रथा में बदलकर उन्हीं बुराइयों को उत्पन्न कर देगी जिनके शिकार हम आज दिन हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त कर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध एक भारी आपत्ति तो यह है कि उसको व्यावहारिक रूप देना नितान्त मुश्किल है; कारण कि इसके अनुसार एक ही परिवार में ब्राह्मण और चांडाल दोनों का ही होना संभव होने से पारिवारिक सगठन का उच्छेद होगा और एक ही व्यक्ति का अपने जीवन-काल में ही कर्म-परिवर्त्तन भी संभव होने से उसके वर्ण का निर्णय बार-बार करना पड़ेगा जो भारी झंझट है। और सबसे भारी झंझट तो यह है कि जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था के बल पर जो जातियाँ नाना प्रकार की सामाजिक सुविधाओं का उपभोग कर रही हैं, उन्हीं के पास धन, पृथ्वी और अधिकार हैं और वे स्वार्थवश वर्ण-व्यवस्था को गुण-कर्मानुसार चलने नहीं देंगी। जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था तो एकदम मिथ्या, कपोल-कल्पित,

अवैज्ञानिक तथा अन्याय और स्वार्थपरता से भरी है। हमारा कल्याण तो इसी में है कि हम चातुर्वर्ण्य के नाम तक को, चाहे वह कर्म से हो वा जन्म से, मिटियामेंट कर दें जिसमें फिर कभी वह अंकुरित न होने पावे। यदि यूरप तथा अमेरिका जैसे सभ्य भूभागों के निवासी अपने यहाँ के विद्वानों तथा शूर-वीरों के चेहरे पर 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' के लेबुल बिना चिपकाए हुए ही उनका यथोचित आदर-सत्कार किया करते हैं, तो कोई भी कारण नहीं दीखता कि हमारे यहाँ के विद्वानों तथा शूर-वीरों को सम्मान-पात्र बनाने के लिए उक्त लेबुलों की आवश्यकता हो। इन वर्णनामों को समूल नष्ट कर देने का एक और भी कारण है जो विशेष ध्यान देने योग्य है। यह अनुभव-सिद्ध है कि जो भावनाएँ जिस नाम के साथ एक बार लग जाती हैं वे हमारी एक ऐसी मनोवृत्ति का रूप धारण कर लेती हैं जिससे छुटकारा पाना, मूर्खों को कौन कहे, विद्वानों के लिए भी कठिन हो जाता है। 'ब्राह्मण' शब्द के साथ उच्चता तथा 'शूद्र' शब्द के साथ नीचता का जो भाव एक बार लग चुका है उसके कुसंस्कारों से बड़े से बड़े हिन्दू-सुधारक भी अपना पीछा न छुड़ा सके। हिन्दू संस्कृति में सदा से यह वर्ण-विभाग ब्राह्मण को पूज्य तथा शूद्र को हीन मानता चला आया है; अतः फल यह हुआ है कि विद्वान् से भी विद्वान्, तथा चरित्रवान् से चरित्रवान् शूद्र उस सम्मान का पात्र नहीं हो सका है जो उसके ब्राह्मण होने पर मिलता। आश्चर्य है कि हम अपने देश को यूरप तथा अमेरिका जैसा शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहते हैं, पर हमें वहाँ की सामाजिक व्यवस्था मंजूर नहीं। हमारे ये विचार कैसे परस्पर विरोधी हैं।

कर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध जितनी बातें अभी लिख आया हूँ, उनके अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं जो इस प्रकार की

वर्ण व्यवस्था के प्रचार में बाधक हो सकती हैं। जिस काल में पहले-पहल वर्ण-व्यवस्था विविध कर्मों के आधार पर चली थी उस काल में समाज की आवश्यकताएँ उतनी नहीं थी जितनी बाद में हुईं। उस काल की आवश्यकताओं के वश जितने धन्धे थे उनकी संख्या के अल्प होने के कारण उनके करने वाले चार श्रेणियों में ही खप गए। पर आगे चलकर नए-नए धन्धों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके करने वालों का वर्ण-निर्णय करना कठिन हो गया। उदाहरण के लिए लेखकों और गणकों की जाति को लीजिए। इसका कर्म चातुर्वर्ण्य के किसी भी वर्ण के समान नहीं है; अत : सका वर्ण आज तक विवाद-ग्रस्त ही है। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान काल में कितने और भी धन्धों का, जैसे मुख्तारकारी, वकालत, आदि का, प्रादुर्भाव हो गया है जिनका कर्मानुसार वर्गीकरण मुश्किल है। हम अपने धर्मशास्त्रों के अनुसार ठीक-ठीक कभी नहीं बता सकते कि कानूनजीवी लोगों को किम वर्ण के अन्तर्गत रखा जाए।

पर यहाँ पर स्वभावतः एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि प्राचीन हिन्दुओं में कर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था एक बार चल चुकी थी तथा कर्म-परिवर्त्तन के साथ-साथ वर्ण परिवर्त्तन भी हुआ करते थे जिनके कतिपय उदाहरण अभी इसी परिच्छेद में दिए गए हैं, तो क्या कारण है कि आधुनिक हिन्दू समाज में पुनः उसी प्रकार की वर्ण-व्यवस्था तथा कर्म-परिवर्त्तन-वश वर्ण-परिवर्त्तन की भी प्रथा चल नहीं सकती। इस प्रश्न के उत्तर में कितनी ही बातों का विचार करना होगा। प्रथम तो यह कि किसी भी देश के निवासियों के आचार-विचार तथा रस्म-रेवाज़ सदा एक से नहीं रहते; काल पाकर परिस्थित के परिवर्त्तन के साथ-साथ उनमें सदा परिवर्त्तन हुए करते हैं। एक युग था जब कि हिन्दू जाति में ८ प्रकार के विवाह

तथा १२ प्रकार के पुत्र स्वीकृत थे। तत्कालीन क़ानून इतना ढीला था कि ज विवाह तथा पुत्र आधुनिक दृष्टि से क्रमशः घोर जुर्म तथा अवैध समझे जाएँगे, वे भी धर्मानुसार जाएज़ माने जाते थे। उस ज़माने में हिन्दुओं के खान-पान में भी इतना परहेज़ न था जितना हम आज देखते हैं; यहाँ तक कि, जैसा मैं चतुर्थ परिच्छेद में सप्रमाण लिख आया हूँ, गोमांस, जो आधुनिक हिन्दू के लिए एक शपथ की वस्तु हो गई है, अन्य भक्ष्य पशुओं के मांस की ही तरह भोजन के लिए स्वीकृत था। पर जैसे आजकल इन विविध प्रकार के अपराध-मूलक विवाहों, पापजात पुत्रों तथा गोमांस-भक्षण की प्रथा को पुनरुज्जीवित करना असंभव है, वैसे ही वर्ण-व्यवस्था को पुनः कर्मानुसार चलाना भी असंभव है। दूसरी यह कि प्राचीन हिन्दुओं की जैसी मनोवृत्ति थी वैसी मनोवृत्ति आधुनिक हिन्दुओं की नहीं है। प्राचीन भारतीय आर्यों के मस्तिष्क में आर्य और अनार्य (दास, दस्यु, आदि) इन दो जातियों को छोड़कर किसी अन्य जाति का अस्तित्व न था और उन्हें यदि जाति के कारण किसी के साथ द्वेष था तो वह केवल अनार्य-समुदाय था; अन्यथा सभी आर्य-बिरादरी एक थी और उनमें सभी वर्णों के कार्य होते रहने पर भी आपस में वर्ण के कारण बड़े और छोटे की भावना न थी। यही कारण था कि उनमें कर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था आसानी से चल पड़ी और वह तब तक फूलती-फलती रही जब तक पुजारी-वर्ग के हृदय में स्वार्थपरता ने अपना डेरा नहीं जमाया, जिसका उल्लेख मैं इसी परिच्छेद में कर चुका हूँ। तीसरी बात यह है कि जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था ने वर्त्तमान हिन्दुओं की आत्मा को अपने चंगुल में इतने ज़ोर के साथ पकड़ लिया है कि उनका उससे निकल भागना आत्मिक निर्बलता के कारण असंभव है इत्यादि।

वर्ण-व्यवस्था के जन्म-प्रधान हो जाने से हिन्दू समाज का जो

महान् अनिष्ट हुआ उसकी कथा परम दारुण है जिसे सुनकर रोष और शोक से हृदय उद्विग्न हो जाता है। इस जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण तथा कर्म उसके वैयक्तिक योग्यता वा अयोग्यता पर नहीं; बल्कि कुलविशेष वा जातिविशेष में उसके जन्म लेने पर निर्भर हो गया। इस पर तुर्रा-स्वरूप धर्मशास्त्रों ने यह भी व्यवस्था कर दी कि कोई भी मनुष्य अपने से ऊँची जाति का कर्म नहीं कर सकता; अन्यथा वह राजा के द्वारा दंडित होगा। मनु १०।९६ पढ़िए—

जन्मगत वर्ण-व्यवस्था के कुपरिणाम

योलोभादधमोजात्या जीवेदुत्कृष्ट कर्म्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥

अर्थ—यदि कोई नीच जाति का व्यक्ति लोभवश ऊँची जाति की जीविका करे तो राजा उसका सर्वस्व छीनकर उसे शीघ्र ही देश से निकाल दे। यह विधान जिस प्रकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों के स्वार्थ का साधक हुआ, उसी प्रकार वैश्यों और शूद्रों की उन्नति का बाधक हुआ। इसकी छत्रच्छाया में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो उन्नति के शिखर पर जा पहुँचे; पर वैश्य और शूद्र अवनति के महागर्त्त में जा गिरे। ब्राह्मण के भरण-पोषण का भार दूसरों पर रहने से उन्हें बौद्धिक विकास का अपूर्व अवसर मिला। सांसारिक झंझटों से निर्द्वन्द्व रहने के कारण वे सरस्वती सेवा में सदा तत्पर रहे जिसका यह फल हुआ कि उन्होंने दर्शन ज्योतिष, गणित, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, अलंकार, काव्य, नाटक आदि विद्या के विविध क्षेत्रों में अपनी अलौकिक कुशाग्र-बुद्धि के द्वारा प्रवेशकर इन सभी विषयों पर अनेक ग्रन्थरत्नों की रचना की, जिससे उनकी कीर्त्ति संसार में

(१) ब्राह्मण-क्षत्रियों को स्वार्थ-पूर्ण उन्नति

सदा के लिए अजर और अमर हो गई। और क्षत्रियों ने भी अपने क्षात्र धर्म के परिपालन द्वारा कुछ कम उन्नति अपने क्षेत्र में नहीं दिखाई। उन्होंने भारत में कुरु, पांचाल, मत्स्य, काशी, कोशल, विदेह (मिथिला) मगध, अंग बंग, कलिंग, विदर्भ, निषध आदि अनेक समृद्धिशाली स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना की जहाँ पर वीर क्षत्रियनरेन्द्र गण श्रुतिस्मृत्युक्तब्राह्मणी विधानानुसार प्रजा-वर्ग पर शासन करते थे। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की यह उन्नति स्वार्थदोष से सदा कलंकित रही; क्योंकि, जैसा आगे चलकर दिखाया जाएगा, वैश्य और शूद्र इससे कानून-द्वारा वंचित रखे गए, अन्यथा उनमें भी बड़े-बड़े विद्वान् तथा शूर-वीर उत्पन्न होते; क्योंकि उन्नति किसी जाति-विशेष की बपौती नहीं है। पर वे स्वार्थपूर्ण शासन के कारण कभी भी उन्नत नहीं होने पाए और अपना जीवन मूक पशुओं की तरह बिताते रहे। इस स्वार्थपूर्ण शासन में ब्राह्मण कानून-निर्माता और राजमंत्री तथा क्षत्रिय राजा, सैनिक, न्यायाधीश तथा प्रबन्धकर्त्ता (Executive) हुआ करते थे; पर वैश्यों और शूद्रों का कोई स्थान न था। सारी हिन्दू जनता दो वर्गों में विभक्त थी—शासकवर्ग और शासितवर्ग। शासकवर्ग में थे ब्राह्मण और क्षत्रिय, और शासितवर्ग में थे वैश्य और शूद्र! ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने मिलकर अपना एक गुट्ट बना लिया था जिसका एकमात्र उद्देश्य केवल वैश्यों और शूद्रों को अपनी शासन-चक्की में सदा पीसते रहना था, जिसमें ये कभी भी अपना सिर उठाने नहीं पावें। मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोकों पर ज़रा निष्पक्ष भाव से विचार कीजिए—

(२) वैश्य-शूद्रों की अन्यायपूर्ण अधोगति

ना ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।

ब्रह्म क्षत्रं च सम्पृक्त मिह चामुत्र वर्द्धते ॥

मनु ६।३२२ ॥

अर्थ—ब्राह्मण-विहीन क्षत्रिय कभी भी वृद्धि नहीं पा सकता और ब्राह्मण भी क्षत्रिय के बिना वृद्ध नहीं पा सकता। ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व एकत्र मिलने पर इस लोक और परलोक में परस्पर वृद्धि पाते हैं।

बस यही श्लोक ब्राह्मणी शासन की आधार-शिला है, जिस पर खड़ा रहकर उसके दुर्द्धर्ष दुर्ग ने स्मरणातीत काल से गौतम बुद्ध आदि जैसे अनेकों सुधारक शत्रुओं के प्रबल प्रहारों को भी पुष्प-प्रहारवत् विफल कर दिया। यही श्लोक उक्त शासन की आत्मा है जिसके निकलते ही उसका सुसंगठित शरीर निष्प्राण होकर आग में मोम की मूर्त्ति की तरह क्षण में विघल सकता है। यही श्लोक उक्त शासन-प्रणाली का मूल-मंत्र है जिसका जाप आज तक शासकवर्ग निरन्तर करता हुआ इस विशाल हिन्दू समाज को अपने संकेत पर नचाता चला आ रहा है। यद्यपि वैश्यों और शूद्रों में अपने स्वेच्छाचारी शासकों के विरुद्ध सिर उठाने की तनिक भी शक्ति न थी; तथापि मनु के हृदय में, चोर की दाढ़ी में तिनके की तरह, यह भय सदा बना रहा करता था कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में कहीं फूट होकर उनकी शक्ति क्षीण न हो जाय जिससे शासितवर्ग को उनका शासन उलट देने का मौका मिले। अतः उन्होंने उक्त दोनों प्रबल जातियों को इस श्लोक के द्वारा सदा मिलकर काम करने सख्त ताकीद दी है। मनु की यह बदनीयत और भी स्पष्ट हो जाती है जब वे राजाओं को निम्नलिखित श्लोक के द्वारा वैश्य और शूद्रों को अपने-अपने कर्म में सदा जुटाए रखने का आदेश देते हैं—

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।

तौहि च्युतौ स्वकर्मेभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥

मनु० ८।४१८॥

अर्थ—राजा को चाहिए कि वैश्यों और शूद्रों को अपने-अपने कर्मों में यत्नपूर्वक लगाए रहे; अर्थात् उनसे अपना-अपना कर्म करवाता रहे; क्योंकि यदि ये अपने-अपने कर्मों से भ्रष्ट होंगे; अर्थात् उन्हें छोड़ देंगे, तो ये जगत् को व्याकुल कर देंगे।

पाठकवृन्द ! देखी मनु की चालबाज़ी आपने ! ऐसी कुटिल नीति का एकमात्र अभिप्राय यही था कि कहीं वैश्य और शूद्र अपना-अपना कर्म छोड़कर ब्राह्मण और क्षत्रिय के कर्म न करने लग जाएँ जिससे इन उच्च वर्णों के स्वार्थ में धक्का लगे। मनु के इस आर्डिनेन्स के साथ साथ 'यो लोभादधमोजात्या' वाला श्लोक पढ़िए, तो आपको मालूम होगा कि हिन्दू समाज की निर्बल जातियों के जन्म-सिद्ध अधिकार किस निर्दयता तथा स्वार्थ-परता के साथ कुचले गए। इस पर मज़ा तो यह कि मनु वा किसी भी अन्य स्मृतिकार ने यह कहीं भी नहीं लिखा कि राजा ब्राह्मणों और क्षत्रियों से भी अपना-अपना कर्म करवाता रहे। कारण स्पष्ट है। ब्राह्मण तो ठहरे जगद्गुरु ! भला किसका मजाल था कि उन्हें अपने नियंत्रण में रख सके ! जिस ब्राह्मण जाति का प्रताप इतना प्रबल था कि उसकी महिमा गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्द में 'भारत हू पा परिय तुम्हारे', 'अभय होइ जो तुमहिं डराई', आदि सरीखे वचन गा रहे हैं, भला उसकी ओर आँख उठाने का सामर्थ किसमें था ! और क्षत्रिय तो ख़ुद राजा के ही भाई-बन्धु ठहरे ! उनके साथ लिहाज़ तथा मुरौवत का बर्त्ताव करना राजा को ज़रूरी था। इसके अतिरिक्त क्षत्रिय जाति वैश्यों और शूद्रों की तरह निःश नहीं थी। उसके हाथ में थी तलवार। अतः राजा के हृदय में यह

(३) ब्राह्मण क्षत्रियों का वैश्य-शूद्रों पर निरंकुश शासन

भय सदा बना रहता था कि कहीं क्षत्रियों पर जोर-जुल्म किया गया तो लेने के बदले देने पड़ेंगे; क्योंकि सैन्य-बल उन्हीं के हाथ में है। वे असन्तुष्ट होते ही राजा के विरुद्ध तुरत हथियार उठाकर विद्रोह कर बैठेंगे जिसका दमन करना कठिन होगा। बाकी रह गए विचारे वैश्य और शूद्र। इन पर मनमाना शासन करो, कोई बोलने वाला नहीं। मनु का दण्ड-विधान भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्यों और शूद्रों के प्रति अधिक कठोर है।

(४) वैश्य-शूद्रों का अधः-पतन

वैश्यों और शूद्रों को नीचे गिराने के लिए और भी कितने नीच उपायों का आश्रय लिया गया, यहाँ तक कि वेदों में भी, जिन्हें आस्तिक हिन्दू प्रभु की वाणी मानते हैं, 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्' आदि जैसे पुरुष-सूक्त के जाली मंत्र घुसेड़ दिए गए, जिसका हवाला दे-देकर सर्वत्र यह प्रचार किया गया कि ब्राह्मण परमात्मा के मुँह से, क्षत्रिय उसकी बाहों से, वैश्य उसकी जाँघों से तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए हैं, जिससे जनता में यह भावना फैले कि ब्राह्मण और क्षत्रिय परमात्मा के उत्तम अंगों से उत्पन्न होने के कारण जन्म से ही श्रेष्ठ तथा वैश्य और शूद्र उसके निकृष्ट अंगों से उत्पन्न होने के कारण जन्म से ही निकृष्ट हैं। शूद्र तो पैर से उत्पन्न होने के कारण नीच और हेय माने ही गए, पर वैश्यों की भी दशा अच्छी न रही। इनकी उत्पत्ति परमात्मा के उरुदेश (जाँघ) से हुई बतलाई गई जो नाभी के नीचे रहने के कारण शास्त्र की दृष्टि में एक अपवित्र अंग है, अतः वैश्य भी उत्पत्ति से ही नीच हैं—

उर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।
यान्य धस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः॥

मनु० ५।१३२॥

अर्थ—जो इन्द्रियाँ नाभि के ऊपर हैं वे सब पवित्र, और जो नीचे हैं वे तथा देह से निकले हुए मल अपवित्र हैं।

कई वेद-मंत्रों में 'वैश्य' और 'शूद्र' शब्द एक साथ लिखे गए ताकि मालूम हो कि इन दोनों जातियों में परस्पर समानता तथा मेल-जोल है, यद्यपि वास्तव में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की तरह उनमें कोई भी वैसा मेल-जोल वा गुट्टबन्दी न थी। वैश्यों का शूद्रों के साथ यह उल्लेख केवल उनकी निकृष्टता दिखाने के ही अभिप्राय से हुआ; यथा—'शूद्रार्यावासृज्येताम्'; 'यच्छूद्रेयदर्ये'; 'शूद्राय चार्यायच'; 'उत शूद्र उतार्ये' इत्यादि।

श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में वैश्य और शूद्र दोनों को ही 'पाप योनि' कहा है जिसका अर्थ है 'जिसकी उत्पत्ति पाप से हुई है'—

मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य येऽपिस्युः पाप योनयः।
स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्रास्तेऽपियान्ति परां गतिम्॥

भगवद्गीता ६।३२॥

अर्थ—हे अर्जुन! मेरी शरण में आकर स्त्री, वैश्य तथा शूद्र, जिनकी उत्पत्ति पाप से हुई है, परमगति को प्राप्त हो जाते हैं। इस श्लोक की सविस्तर व्याख्या द्वितीय परिच्छेद में '(ग) वैश्य'—शीर्षक के नीचे लिख आया हूँ। वहाँ देख लीजिए। पुनः इसी प्रसंग में श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण और क्षत्रिय का कितना महत्त्व आगे के श्लोक में दिखाया है, उसे भी सुन लीजिए—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोक मिमं प्राप्य भजस्वमाम्॥

भगवद्गीता ६।३३॥

फिर पुण्य ब्राह्मणों तथा भक्तों राजर्षियों का कहना ही क्या है? अर्थात् इनके लिए तो परमगति की प्राप्ति रखी ही हुई है।

अतः अनित्य तथा सुख से रहित इस संसार में जन्म लेकर मेरा भजन करो।

पाठकवृन्द ! यहाँ देख लीजिए कि किस स्पष्टता के साथ श्रीकृष्ण ने एक ही श्वास में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को पुण्य तथा ऋषि; पर वैश्यों और शूद्रों को पापयोनि कह दिया है।

वैश्यों की नीचता के और भी प्रमाण लीजिए। विष्णु-रहस्य में उन्हें जघन्य-कर्मा लिखा है जिसका अर्थ है 'नीच कर्म वाला'—

'जघन्यकर्म्मा वैश्यः स्यात् सेवा-कर्म्मातु पादजः'।

अर्थ—वैश्य नीच कर्म वाला तथा शूद्र सेवा कर्म वाला है।

वाणिज्य वैश्यों का शास्त्र-विहित कर्म है। इसीसे वैश्यों को वणिक भी कहते हैं। वणिकों (वैश्यों) को महर्षि व्यास ने अपनी स्मृति में किस रसातल में ढकेला है, जरा उसे भी सुन लीजिए—

वणिक्किरात-कायस्थ-मालाकार-कुटुम्बिनः ।
वेरटो मेद-चाण्डाल-दासश्वपच-कोलकाः ॥

एतेऽन्त्यजाः समाख्याता ये चान्ये च गवाशनाः ।
एषां सम्भाषणात्स्नानं दर्शनादर्क वीक्षणम् ॥१।११-१२॥

अर्थ—वणिक, किरात, कायस्थ, माली, बाँसफोड़, स्यरमार, कंजर, चांडाल, बारी, भंगी और कोल अथवा और जो दूसरे गो-भक्षक हैं, वे अन्त्यजों में शुमार किए गए हैं। इनसे बोलने का दोष स्नान करने से तथा इनको देखने का दोष सूर्य की ओर ताकने से छूटता है।

व्यासजी की यह व्यवस्था जो स्वयं अपने अवैध सन्तान थे, वैश्यों को कुत्ते पकाकर खाने वाले खानाबदोश कंजरों तथा गोमांस खाने वाले चमारों की श्रेणी में घसीट लाती है और साथ-

साथ कायस्थ जैसी पढ़ी-लिखी जाति पर भी, जो अपने को द्विज होने का ढिंढोरा पीटती चलती है, खूब कसकर चाबुक जमा देती है।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को यह कहकर सावधान कर देना चाहता हूँ कि वैश्य-शूद्रों के विरुद्ध उनकी निकृष्टता के प्रमाणों का जो यहाँ पर संग्रह किया गया है उसका यह मतलब कदापि नहीं है कि वे यथार्थ में हेय, निकृष्ट, जघन्य आदि हैं; उनके संग्रह-द्वारा केवल यही दिखलाया गया है कि उन विचारों के साथ कितना अन्याय तथा अत्याचार हिन्दू धर्मशास्त्रकारों के द्वारा किया गया है। इसी प्रसंग में मैं अपने को जन्मतः ब्राह्मण तथा क्षत्रिय मानने वाले भाइयों से स्पष्ट शब्दों में यह भी पूछ लेना चाहता हूँ कि उनके मूल पुरुष कौन थे, जो ब्रह्मा जी के क्रमशः मुँह और बाँह से उत्पन्न हुए थे तथा जिनके कुल में प्रारम्भ से लेकर आज तक अन्य जातियों के रक्त के साथ कभी भी संमिश्रण नहीं होने के कारण उनकी धमनियों में अपने-अपने पूर्वजों का विशुद्ध शोणित आज भी अपने मौलिक रूप में अक्षुण्ण रहकर प्रवाहित हो रहा है ? यदि मुझे इसका सन्तोषप्रद उत्तर न मिला तो क्या मेरी यह धारणा निर्मूल होगी कि उनकी भी जाति जिसकी सविस्तर उत्पत्ति इस ग्रन्थ के द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदों में लिख आया हूँ, उसी प्रकार हेय है जिस प्रकार नीली राग-रंजित जन्तु विशेष की, अथवा सिंह की खाल ओढ़े असिंह की, अथवा मयूर-पक्ष-धारी अमयूर की ? जिन्हें अपनी जाति का घमंड हो वे कृपा-पूर्वक उक्त परिच्छेदों को ठंडे दिल से पढ़ें और अपने हृदय पर अपना हाथ रखकर अपनी आत्मा से पूछें कि सचमुच उनकी जाति कैसी है जिसके बल पर उन लोगों ने इस असार संसार में इतना ऊधम मचा रखा है ?

(५) वैश्य-शूद्रों वैश्य-शूद्रों को जाति की दृष्टि से यों नीचे गिराकर उनकी उन्नति के मार्ग में किस प्रकार कानून द्वारा रोड़े अटकाए

की उन्नति में बाधा गए उसे पढ़कर किस सहृदय मनुष्य का हृदय नहीं दहल उठता ! मनु फर्माते हैं—

यो लोभादधमो जात्या जीवे दुत्कृष्ट कर्म्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥

मनु० १०।९६॥

अर्थ—यदि कोई नीच जाति का व्यक्ति लोभ में पड़कर ऊँची जाति की जीविका करे तो राजा उसका सर्वस्व छीनकर उसे शीघ्र ही देश से निकाल दे ।

ये हैं धर्मशास्त्रकार-शिरोमणि महाराज मनु के वचन जिनकी प्रधानता वेदार्थों को उपनिबद्ध करने के कारण सर्वत्र मानी जाती है । यदि सचमुच ही हिन्दुओं के वेद भगवान् की यही नियत है कि कोई भी नीचे से ऊपर को उन्नति करके नहीं उठ सकता तो ऐसे अन्यायी तथा अत्याचारी वेद भगवान् को गंगासागर के प्रवाह में बहा देना ही श्रेयस्कर है ।

शास्त्रकारों ने ऐसे-ऐसे कानून बनाकर वैश्यों और शूद्रों के लिये उन्नति का द्वार सदा के लिये बन्द कर दिया । यदि कहा जाय कि क्या उक्त व्यवस्था ने क्षत्रियों को भी ब्राह्मण की जीविका करने से नहीं रोका ? यह तो क्षत्रियों पर भी लागू है; केवल वैश्य-शूद्रों पर ही नहीं । यों तो साधारण रूप में यह दलील ठीक जचती है; पर वास्तव में वैसी नहीं है, क्योंकि उक्त श्लोक में अधम जाति का उल्लेख हुआ है और क्षत्रिय को अधम जाति किसी भी शास्त्र में नहीं लिखा, पर वैश्यों और शूद्रों के अधम बताये जाने के कई प्रमाण पूर्व में दिये गये हैं । इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियों में बहुत कुछ समानता भी देखने में आती है । पूर्व में मैं कह आया हूँ कि कितने ब्राह्मण-गोत्र, जैसे धार्ष्ट, अग्निवेश्य, रथीतर, हारीत, मेधातिथि

गार्ग्य, मौद्गल्य, विश्वामित्र, कौशिक आदि, क्षत्रियों से ही उत्पन्न हुए हैं तथा कितने क्षत्रिय राजवंश नियोग द्वारा ब्राह्मणों के ही चलाए हुए हैं। मनु ने तो स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि क्षत्रिय ब्राह्मणों से ही पैदा हुए हैं—

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः।
ब्रह्मैव संनियंतृस्यात् क्षत्रं हि ब्रह्म संभवम् ॥

मनु० ६।३२०॥

अर्थ—यदि ब्राह्मणों के प्रति क्षत्रिय अत्याचार करने लगें तो ब्राह्मण ही उनका शाप, अभिचार आदि से दमन करें; क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण से उत्पन्न हुए हैं।

अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनों जातियाँ, यदि एक दूसरे से ही उत्पन्न हुई हैं, तो उनमें परस्पर सहानुभूति तथा गुट्ट-बन्दी का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है और कोई क्षत्रिय यदि ब्राह्मण की जीविका करने लगे तो उससे बोलने वाला ही कौन है? पर वैश्य-शूद्रों के विषय में यह कहीं भी लिखा नहीं पाया कि ये एक दूसरे से उत्पन्न हुए हैं; अतः इनमें कभी भी ब्राह्मण-क्षत्रियों के विरुद्ध कोई गुट्टबन्दी नहीं हुई। पूर्वोद्धृत वेद-मंत्रों में जो इनका साहचर्य दिखलाया गया है वह बिल्कुल अकारण है जो मानने योग्य नहीं है। उसका अभिप्राय, जैसा कि पहले कहा गया है, केवल वैश्यों को झूठ बोलकर गिराना है। वैश्य तो द्विजन्मा हैं; पर व्यास ने भी उन्हें अन्त्यजों में शुमारकर उनके साथ घोर अन्याय किया है यह वैश्य जाति की निर्बलता तथा सूधापन का फल है।

पहले तो वैश्य-शूद्रों को जन्मतः नीच ठहराया गया; तत्पश्चात् उनकी उन्नति का द्वार बंद किया गया और अन्त में उनका धन किसी न किसी बहाने छीनकर उन्हें दरिद्रता के दुर्भेद्य जंजीरों में सदा के

लिए जकड़ देने का प्रबन्ध किया गया। मनु के निम्नोद्धृत श्लोकों को पढ़िए और मेरे कथन की सारता पर विचार कीजिए—

यो वैश्यः स्याद् बहु पशुर्हीन क्रतु रसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये॥

मनु० ११।१२॥

अर्थ— जिस वैश्य के पास बहुत से पशु हों और वह यज्ञ से हीन तथा सोमरस का न पान करने वाला हो तो उसके घर से उसका धन (क्षत्रिय और विशेषकर के ब्राह्मण के) यज्ञ को पूरा करने के लिए छीन लेवे। सारांश यह कि पास में प्रचुर धन रखते हुए भी जो वैश्य अपनी कंजूसी के कारण यज्ञादि शुभ कर्म न करे तो उसका धन जबर्दस्ती छीनकर किसी ब्राह्मण वा क्षत्रिय के यज्ञ में खर्च कर देवे।

पाठकवृन्द! समझा आपने मनु के इस आर्डिनेन्स का उद्देश्य? नहीं समझा तो, आइए, समझाता हूँ। यज्ञ होने पर सबसे अधिक लाभ किसको होता है? अथवा यों कहिए, लाभ का सिंह-भाग (Lion's share) किसके घर पहुँचता है? पूरी-कचौड़ी, मेवा-मोहनभोग, मालपूआ-मोतीचूर, मक्खन-मलाई, बर्फी-बालुशाही, पेड़ा-जलेबी आदि विविध तर मालों पर किनके हाथ फिरते हैं? दुशाले आदि बहुमूल्य वस्त्र तथा दुधारी गायें किनको मुफ्त में मिलती हैं? दान-दक्षिणा के बहाने मोटी-मोटी रकमों से किनके जेब फूल उठते हैं? इन सभी प्रश्नों के उत्तर किनके पक्ष में जाते हैं? जवाब मिलता है—'महादेवों के' जो अन्धविश्वासिनी हिन्दू जनता को स्वर्ग का सब्जबाग़ देखाकर उसकी गाढ़ी कमाई पर मौज कर रहे हैं तथा जो पंडे-पुजारियों एवं गुरु-पुरोहितों के रूप में उसका जीवन-रक्त जोंक की तरह चूस रहे हैं। धनवान् वैश्य यदि

स्वयं यज्ञादि किया करता है तो उसका धन ब्राह्मणों के हक में लगता रहता है; अतः उसके धन को लूटने की कोई ज़रूरत नहीं रहती। लूटना चाहिए उस वैश्य के धन को जो ब्राह्मण को दान मानादि द्वारा खुश नहीं रखता। यही इस श्लोक का आशय है।

वैश्यों का धन यज्ञ नहीं करने के बहाने लूटा गया। पर यह बहाना शूद्रों पर लागू नहीं हो सकता; कारण कि उसको यज्ञ करने का अधिकार ही नहीं; अतः उसका धन यों ही यज्ञपूर्त्यर्थ छीन लेना चाहिए—

आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
नहि शूद्रश्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः॥

मनु० ११।१३॥

अर्थ—यदि यज्ञ के तीन वा दो अंग अपूर्ण रह जाए, तो (वैश्य के अभाव में) शूद्र के घर से धन का अपहरणकर उस यज्ञ को पूरा करे। अभिप्राय यह कि शूद्र के धन को छोड़ देना वा छीन लेना उसके किसी यज्ञ के करने वा न करने पर निर्भर नहीं है। उसका धन सर्वदा हरण-योग्य है। यज्ञ-सम्बन्धी नियम वैश्यों की तरह शूद्रों पर लागू नहीं है; क्योंकि वे यज्ञ के अधिकारी नहीं हैं। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट ने तो ब्राह्मण के लिए स्व यज्ञ-पूर्त्यर्थ वैश्य-शूद्रों का धन चुरा लेना भी ठीक बताया है।

यहाँ तक तो वैश्य शूद्रों का धन यज्ञ-पूर्त्ति के बहाने छीन लेने का आदेश दिया गया; पर शूद्रों के साथ वैश्यों की अपेक्षा और भी सख्ती की गई। उनका धनोपार्जन निषिद्ध किया गया और ब्राह्मणों को इजाज़त मिली कि वे शूद्रों का धन जब चाहें छीन लिया करें—

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्य्यो धनसंचयः।

शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते।
मनु० १०।१२६॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादान माचरेत्।
नहि तस्यास्ति किंचित्स्वं भर्त्तृहार्य धनो हि सः॥

मनु० ८।४१७॥

अर्थ—समर्थ होकर भी शूद्र धन का संचय न करे; क्योंकि शूद्र धन पाकर ब्राह्मण को पीड़ा पहुँचाता है॥ ब्राह्मण को उचित है कि वह शूद्र का धन बिना किसी भय वा संकोच के ले लेवे; क्योंकि शूद्र का अपना कुछ नहीं है। उसका धन उसके मालिक द्वारा हरण करने योग्य है।

कारण स्पष्ट है। यदि शूद्र धनवान् हो जाएगा तो ब्राह्मणों की गुलामी कौन करेगा? शूद्रों को दासता की चक्की में सदा पीसते रहने के ही लिए ऐसे-ऐसे अमानुषिक कानून बने।

यह है हिन्दू जाति का धर्मशास्त्र जो उन्हें अपने ही सहधर्मी भाइयों का धन किसी न किसी बहाने लूट लेने का आदेश देता है। संसार में और भी कितने धर्म हैं जैसे इस्लाम, ईसाई, बौद्ध आदि। पर इनके धर्मशास्त्र कभी भी अपने सहधर्मियों को किसी भी बहाने लूटने का आदेश नहीं देते। इनके यहाँ धार्मिक दृष्टि से सभी सहधर्मी बराबर हैं। न कोई बड़ा है और न कोई छोटा है। सभी को उन्नति करने का तुल्य अधिकार है। उनके इस अधिकार को किसी भी धार्मिक आदेश के बहाने कोई छीन नहीं सकता। यही कारण है कि उनमें परस्पर इतना प्रेम, सहानुभूति तथा दृढ़ संगठन है। यदि उनमें से कोई अपने सहधर्मियों के साथ अत्याचार करता है तो वह अपने धर्मशास्त्र के नाम पर नहीं; बल्कि अपनी ही जवाबदेही पर करता है। पर हिन्दू तो गला काटते हैं अपने ही सहधर्मी भाइयों

का और सो भी अपने धर्मशास्त्रों की दुहाई दे देकर। धन्य है यह हिन्दू जाति और धन्य हैं उनके धर्मशास्त्र ! यह कैसी निर्लज्जता की बात है कि हम विदेशियों को तो अपने देश का सारा धन लूट लेने के अपराधी बना उन्हें पानी पी-पीकर कोसें; पर स्वयं अपने भाई-बन्धुओं का धन लूट लेने के लिए मनमाने शास्त्र रचें ! यदि कहो कि हम तो स्वदेश का धन लूटकर स्वदेश में ही रखते थे जो आवश्यकता पड़ने पर दूसरे भाइयों के भी काम आता था, तो यह मानने लायक नहीं; क्योंकि यदि परस्पर इतनी सहानुभूति होती तो विदेशी यहाँ आने ही नहीं पाते। अथवा हम अपने भाइयों को लूटते ही क्यों ?

(७) शूद्रों के प्रति विशेष अत्याचारों का सविस्तर वर्णन

वैश्यों की अपेक्षा शूद्रों पर जो विशेष अत्याचार ब्राह्मणी-शासन काल में धर्म के नाम पर किए जाते थे उनका अब तक तो केवल दिग्दर्शनमात्र किया गया है। पर यहाँ से उनका अब सविस्तर वर्णन किया जाएगा। हिन्दू धर्मशास्त्रों की दृष्टि में शूद्र, स्त्री तथा पुत्र, ये तीनों ही अधन हैं, अर्थात् ये धन के अधिकारी नहीं हैं—

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवा धनाः स्मृताः।
यत्तेसमधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥

मनु० ८।४१६ ॥

अर्थ—स्त्री, पुत्र और दास, ये तीनों अधन कहे गए हैं; अर्थात् ये धन के अधिकारी नहीं हैं। अतः ये जो कुछ धन प्राप्त करते हैं वह उसीका होता है जिसके वे स्त्री आदि हैं। दास-कर्म शूद्रों का ही है; अतः दास शब्द से शूद्र ही अभिप्रेत हैं। पुनश्च—

शूद्रं तु कारये द्दास्यं क्रीतमक्रीतमेववा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥

मनु० ८।४१३॥

अर्थ—शूद्र खरीदा हुआ हो वा न हो, उससे दास कर्म करावे; क्योंकि विधाता ने उसको ब्राह्मण का दास-कर्म करने के लिए ही बनाया है। यहाँ 'क्रीतमक्रीतमेववा' इस वचन से स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दुओं में दास-वाणिज्य * प्रचलित था और इन विविध श्लोकों से प्रमाणित होता है कि उन पर मनमाना अत्याचार हुआ करते थे। पुनश्च—

न स्वामिना विसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥

मनु० ८।४१४॥

अर्थ—शूद्र अपने स्वामी के द्वारा दास-कर्म से मुक्त कर देने पर भी उसका उस कर्म से छुटकारा नहीं होता; कारण कि उसका दासत्व स्वाभाविक है; कौन उसको उससे मुक्त कर सकता है? पुनश्च—

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्त्तिनाम् ।
वैश्य वच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥

मनु० ५।१४०॥

अर्थ—ब्राह्मण-सेवा रूपी अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ शूद्र महीने में एक बार अपना क्षौर कर्म करावे, जन्म और मरण में वैश्य के समान अशौच ग्रहण करे तथा ब्राह्मण का जूठा खाए। महीने में एक बार क्षौर कर्म कराने का अभिप्राय यह है कि शूद्र व्यसनी (शौकीन) न होने पावे; क्योंकि उसको परिवार के पुरुषों

*Slave Trade

तथा स्त्रियों, दोनों के साथ रहकर, शुद्ध मन से उनकी सेवा करना है और उसको जूठा अन्न इसलिए खिलाना चाहिए, कि जिसमें वैसा अन्न फेंकने से नुकसान नहीं होने पावे। शूद्र की दशा घर में पाले हुए किसी पशु से बढ़कर नहीं है; अतः उसे खाने के लिए वैसा ही अन्न देना ठीक है। पुनश्च—

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानिवसनानि च।
पुलकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदः॥

मनु० ।१०।१२५॥

अर्थ—शूद्र को भोजन के लिए जूठा अन्न, पहनने के लिए पुराने वस्त्र तथा बिछाने के लिए धान का पुआल एवं पुराने तोशक आदि देना चाहिये। पुनश्च—

न शूद्राय मतिं दद्यान् नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्म्म न चास्य व्रतमादिशेत्॥

मनु० ४।८०॥

योह्यस्य धर्म्ममाचष्टे यश्चैवादिशतिव्रतम्॥
सोऽसंवृतं नाम तमः सहतेनैव मज्जति॥

मनु० ४।८१॥

अर्थ—शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए। अपने सेवक के अतिरिक्त किसी दूसरे शूद्र को जूठन तथा हव्य के हुतावशिष्ट भाग को न देवे। शूद्र को धर्म का उपदेश न करे अथवा उसे किसी व्रत का भी उपदेश न देवे॥ जो पुरुष शूद्र को धर्मोपदेश वा प्रायश्चित्तादि किसी व्रत का उपदेश देता है, वह उस शूद्र के साथ असंवृत नाम नरक में डूबता है। मनु तो यहाँ पर (४।८० में) लिखते हैं कि शूद्र को जूठा अन्न नहीं देना चाहिए; पर आगे चलकर (५।४० तथा १०।१२५ में) लिखते हैं कि शूद्र को जूठा अन्न खाने के लिए देना चाहिए। इन

दो परस्पर विरोधी आदेशों की संगति इस प्रकार लगाई जाती है कि जो शूद्र अपना सेवक है उसीको जूठन देना चाहिए; किसी अन्य शूद्र को नहीं जो जिसका हक़दार है वह उसीको मिलना चाहिए; दूसरे को नहीं। यही न्याय है। और शूद्र को किसी अन्य धर्म का उपदेश भले ही न दिया जाए; पर उसे द्विज-सेवा धर्म का उपदेश तो अवश्य देना होगा; अन्यथा वह द्विजों की सेवा यथा-विधि कैसे कर सकेगा? यही स्मृतिकारों का मत है। उक्त दोनों श्लोक कुछ परिवर्त्तन के साथ वशिष्ठ स्मृति, अध्याय १८, में यमोक्त कहकर आए हैं।

यहाँ तक शूद्रों पर किए जाने वाले जिन अत्याचारों का वर्णन किया गया है वे तो साधारण हैं। इसके आगे जिन अत्याचारों का वर्णन होगा वे इस प्रकार पैशाचिक हैं कि जिनका विवरण पढ़कर मानव हृदय थर्रा उठता है। इन अत्याचारों का स्वरूप मन्वादि धर्मशास्त्रकारों के दण्ड-विधान में दृष्टिगोचर होता है—

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योप्यर्द्धं शतं द्वेवा शूद्रस्तु वधमर्हति॥

मनु० ८।२६७॥

अर्थ—यदि क्षत्रिय किसी ब्राह्मण को दुर्वचन कहे तो उस पर एक सौ पण (मुद्राविशेष) का दण्ड लगावे; इसी अपराध के लिए वैश्य पर डेढ़ सौ वा दो सौ पण का दण्ड लगावे; पर शूद्र तो इस अपराध के लिए वाध्य ही है। ८० कौड़ियों का एक पण होता है यथा—'अशीतिभिर्वराटकैः पण इत्यभिधीयते'। वर्त्तमान काल में एक पैसे में १६ गंडे कौड़ियाँ अर्थात् ६४ कौड़ियाँ मिलती हैं; अतः स्पष्ट है कि एक पण सवा पैसे के बराबर होता होगा। आश्चर्य है कि जिस अपराध के लिए क्षत्रिय को केवल १० पण = १२५पैसे = १।॥≈)॥

(एक रुपया सवा पन्द्रह आने) और वैश्य को अधिक से अधिक इसका दुगना अर्थात् ३।।।=)।। (तीन रुपये साढ़े चौदह आने) जुर्माना होता था उसी अपराध के लिए शूद्र को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। कितना भयंकर अन्याय तथा अत्याचार है ! पुनश्च—

एक जातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्य-प्रभवो हि सः ॥

मनु० ८।२७०॥

अर्थ—यदि शूद्र जाति ब्राह्मणादि तीन वर्णों को कठोर वचन कहकर आक्षेप करे तो उस शूद्र की जीभ काट लेनी चाहिए; क्योंकि वह सबकी अपेक्षा नीच वर्ण में उत्पन्न हुआ है। पुनश्च—

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥

मनु० ८।२७१॥

अर्थ—शूद्र यदि किसी द्विज का नाम तथा जाति का उच्चारण करता हुआ, जैसे यज्ञदत्त ब्राह्मण अधम है, इस प्रकार बोलता हुआ निन्दा करे, तो उसके मुँह में दश अंगुल की आग में लाल की हुई लोहे की कील घुसेड़ देवे। पुनश्च—

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्रमाणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥

मनु० ८।२७२ ॥

यदि शूद्र गर्व से, "तुमको यह धर्म करना चाहिए," ऐसा धर्मोपदेश ब्राह्मण को करे, तो उस शूद्र के मुँह और कान में राजा तप्त तेल डलवा दे। पुनश्च—

येन केन चिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥

मनु० ८।२७६ ॥

अर्थ—शूद्र हाथ-पैर आदि जिस अंग से श्रेष्ठ जाति के ऊपर प्रहार करे तो राजा उसका वही अंग कटवा दे; यह मनु की आज्ञा है। पुनश्च—

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।
पादेन प्रहरन् कोपात् पादच्छेदनमर्हति ॥

मनु० ८।२८०॥

अर्थ—शूद्र यदि श्रेष्ठ जाति को मारने के लिए हाथ वा डंडा उठावे तो उसका हाथ कटवा लेना चाहिए और यदि क्रोध में आकर चरण से प्रहार करे तो उसका पैर कटवा लेना चाहिए। पुनश्च—

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्याव कर्त्तयेत् ॥

मनु० ८।२८१॥

अर्थ—शूद्र यदि ब्राह्मण के साथ एक आसन पर बैठे तो राजा उसकी कमर में तपाई हुई लोहे की शलाका से दागकर उसे देश से निकाल देवे अथवा उसका चूतड़ कटवा लेवे पुनश्च—

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्र-मवशर्धयतो गुदम् ॥

मनु० ८।२८२ ॥

अर्थ—शूद्र यदि दर्प से किसी ब्राह्मण के शरीर पर थूक दे तो राजा उसका दोनों ओठ कटवा ले; यदि पेशाब करे तो मूत्रेन्द्रिय को और अधोवायु छोड़े तो गुदा को कटवा ले। पुनश्च—

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥

मनु० ८।२८३।

अर्थ—शूद्र यदि अहंकार से किसी ब्राह्मण का केश, चरण, दाढ़ी, गरदन वा अण्डकोष को पकड़ ले तो राजा बिना विचारे उस शूद्र का हाथ कटवा ले। पुनश्च—

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मंडूक मेव च।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥

मनु० ११।१३२॥

अर्थ—बिल्ली, नेवला, नीलकंठ, पक्षी, मेढ़क, कुत्ता, छिपकली, उल्लू और काग की हत्या करने पर शूद्र-हत्या का प्रायश्चित करे। अभिप्राय यह कि मनु के मत में शूद्र की जान कुत्ता-बिल्ली की जान से बढ़कर नहीं है।

यहाँ तक तो शूद्रों के विषय में मनु के विचार दिखलाए गए। अब अन्य स्मृतिकारों के भी शूद्र-सम्बन्धी विचार दिखलाए जाते हैं। महर्षि अत्रि लिखते हैं—

वध्यो राज्ञा सवै शूद्रो जपहोमपरश्च यः।
यतोराष्ट्रस्य हंताऽसौ यथा वह्न श्चवै जलम् ॥

अत्रि। १६ ॥

अर्थ—राजा को उचित है कि वह जप-होमादि ब्राह्मणोचित कर्म करने वाले शूद्र का वध कर दे; क्योंकि जिस प्रकार जल आग को नष्ट कर देता है उसी प्रकार जप होमादि करने वाला शूद्र सम्पूर्ण राज्य को नष्ट कर देता है। इसी शास्त्रीय विधान के अनुसार रामचन्द्र ने शम्बूक का गला काट दिया था। तिस पर भी आश्चर्य है कि कितने

शूद्र रामनाम का जप करते तथा रामचन्द्र के प्रति असीम भक्ति तथा श्रद्धा रखते हैं। जो इस प्रकार आत्म-सम्मानहीन हैं, वे सचमुच शूद्र हैं। विष्णु जी महाराज लिखते हैं--

प्राणानर्थांस्तथा दारान् ब्राह्मणार्थे निवेदयेत् !
स शूद्रजाति र्भोज्यः स्याद भोज्यः शेष उच्यते ॥

विष्णु ५।११॥

अर्थ—जो शूद्र अपने प्राण, धन, तथा स्त्री को ब्राह्मण की सेवा में अर्पण कर दे उस शूद्र का अन्न भोजन करने योग्य है और शेष शूद्रों का अन्न भोजन करने योग्य नहीं है। बात तो सोलहो आने ठीक कही। भला जिस शूद्र ने बाबा जी की सेवा में अपनी प्रिया तक को अर्पण कर दिया उस शूद्र का अन्न क्यों नहीं खाया जाए !! हारीत जी लिखते हैं--

धारणं जीर्णवस्त्रस्य विप्रस्योच्छिष्टभोजनम् ।
स्वदारेषु रतिश्चैव परदारविवर्जनम् ॥

२।१३॥

इत्थं कुर्यात्सदाशूद्रो मनोवाक्कायकर्मभिः ।
स्थानमैन्द्रमवाप्नोति नष्टपापः सुपुण्यकृत् ॥

२।१४॥

अर्थ—शूद्र पुराने वस्त्र पहने; ब्राह्मण का जूठन खाए; अपनी ही स्त्री से प्रेम करे और पराई स्त्री से परहेज़ करे। शूद्र सर्वदा मन-वच-कर्म से इस प्रकार आचरण करे तो उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और वह पुण्य के प्रभाव से इन्द्र की पदवी को प्राप्त होता है। शाबाश ! भैया शाबाश ! इसीको कहते हैं बुद्धुओं को सब्ज़ बाग दिखाकर अपना उल्लू सीधा करना। जिस ऐन्द्र-पद को चक्रवर्त्ती क्षत्रिय नरेशगण बिना एक सौ अश्वमेध यज्ञ पूरा किए नहीं पा

सकते थे, तथा जिस पद को सुरक्षित रखने के लिए विचारा इन्द्र बार-बार आश्वमेधिक घोड़े को चुराया करता था, उस पद को तुमने शूद्रों को योंही प्राप्तकर लेने का सुप्रबन्ध कर दिया! भला कौन ऐसा मूर्ख शूद्र होगा जो ऐसे सुलभ ऐन्द्र पद को प्राप्त करने की लालसा न रखता होगा? पाठकवृन्द! शूद्रों की बुद्धूपने तथा हिन्दू धर्मशास्त्रकारों की धूर्तता पर शान्तचित्त होकर विचार कीजिए। शूद्रों को भोजन के लिए केवल जूठा अन्न और पहनने के लिए केवल फटे-पुराने गुदड़े देकर; अर्थात् बिना किसी विशेष खर्च के, उनसे जीवन-पर्यन्त गुलामी, यह मिथ्या प्रलोभन दे-देकर कराते रहिए कि ऐसा करने से तुम्हें इन्द्र का पद मिलेगा। भला इससे बढ़कर चालाकी क्या होगी? इस जोड़ की ठग-विद्या संसार के किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिलती। प्राचीन रोम, ग्रीस, कार्थेज, मिस्र, असीरिया, बैबिलोन, अरब, फ़ारस आदि सभी देशों में गुलामी-प्रथा प्रचलित थी; पर वहाँ के दास तथा दासियों से, उन्हें यह भुलावा देकर कभी भी गुलामी नहीं कराई जाती थी, कि अपने मालिकों की मन-वच कर्म से सेवाशुश्रुषा करने पर उन्हें स्वर्ग मिलेगा या वह वहाँ का कोई भारी फरिश्ता वा फरिश्तों का सरदार होगा।

अब महर्षि गौतम का शूद्र विषयक दण्ड-विधान देखिये—

शूद्रो द्विजातीनभिसन्धायाभिहत्य च वाग्दंड
पारुष्याभ्यामंगं मोच्यो येनोपहन्यात्।
आर्यस्त्र्यभिगमने लिंगोद्धार:
स्वप्रहरणं च गोप्ता चेद्वधोऽधिकः।
अथाहास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपु
जतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्।
उदाहरणे जिह्वाच्छेदः धारणे शरीरभेदः।

आसन-शयन-वाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दंड्यः शतम् ॥

अध्याय १२ ॥

अर्थ—शूद्र यदि किसी द्विज के प्रति तिरस्कारयुक्त वचन कहे और कठोर भाव से प्रहार करे तो राजा उसके उसी अंग को कटवा दे जिससे वह आघात करता है और अपने से बड़ों की स्त्री के साथ यदि वह गमन करे तो राजा उसका लिंग कटवा दे अथवा स्वयं वह अपनी जान दे दे और यदि वह किसी प्रकार अपनी रक्षा करे तो उसका अधिक दंड यह है कि राजा उसका वध करे। शूद्र यदि किसी वेद को सुन ले तो राजा शीशे और लाख से उसके कानों को भर दे। यदि वह वेद-मंत्र का उच्चारण करे तो राजा उसकी जीभ कटवा ले। यदि वह वेद मंत्रों को याद कर ले तो राजा उसका शरीर ही कटवा दे। यदि वह आसन, बिस्तर, बातचीत तथा राह में उच्च जातियों की बराबरी करे तो राजा उसके लिए उसे सौ पण का दंड दे।

महर्षि वशिष्ठ ने अपनी स्मृति के १८वें अध्याय में मनु के 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' (४।८०) तथा 'योह्यस्य धर्ममाचष्ठे' (४।८१) इन दोनों श्लोकों को कुछ शब्द-परिवर्त्तन के साथ उद्धृतकर उनके साथ अपना ऐक मत्य दिखाया है; अर्थात् वे भी मनु की ही तरह शूद्र को किसी प्रकार की शिक्षा देना नहीं चाहते।

शासक-वर्ग की वैश्यों और शूद्रों के प्रति यह कूटनीति यहीं तक खतम न हुई। पहले तो शासकों ने वैश्यों और शूद्रों को कानून के शिकंजे में खूब कसकर जकड़ा, जिसमें वे उनके विरुद्ध अपना हाथ पैर न हिला सकें। उनकी नाक में उन्होंने कानून की एक ऐसी मज़बूत नकेल पहनाई कि वे बिचारे मूक पशुओं की तरह उनके

(८) वैश्य-शूद्र की मानसिक दासता

इशारे मात्र पर बिना इधर-उधर ताके वा कुछ भी चीं-चपड़ किए उनके निर्द्धारित मार्ग पर चलने लगे। पर कानून का क़ब्ज़ा केवल शरीर पर होता है; मन पर नहीं। अतः बाद में इन शासकों को भय हुआ कि कहीं भविष्य में कानून का शिकंजा ढीला पड़ा तो संभव है कि एक न एक दिन उनके काले कारनामों की पोल खुल जाएगी और उनके अत्याचारों के ये शिकार उनके विरुद्ध उठ खड़े होंगे। अतः वे उनकी अन्तरात्मा पर भी विजय प्राप्तकर उन्हें मानसिक दासता की भी बेड़ी में कसने के लिए उन्हें ऐसे-ऐसे धूर्त्तता-पूर्ण उपदेश देने लगे—

श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः॥

गीता ३।३५॥

अर्थ—अपना धर्म गुणहीन भी हो वही अच्छा; किन्तु दूसरे का धर्म सुचारु रूप से सम्पादित होने पर भी अच्छा नहीं। अपने धर्म के पालन में मर जाना अच्छा है; क्योंकि दूसरे का धर्म खतरे से भरा है।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि चमार का लड़का दैवयोग से अच्छी शिक्षा प्राप्तकर अध्यापक का काम खूब ठिकाने के साथ कर सकता हो तो भी उसे वह न करे। ऐसा करने से उसका कल्याण नहीं हो सकता। शम्बूक का उदाहरण, जिसका गला रामचन्द्र ने इस कारण काट डाला कि वह शूद्र होकर तपस्या करता था, इस बात की चेतावनी दे रहा है। उस चमार-बालक का तो कल्याण इसीमें है कि वह जूता सीते-सीते मर जाए चाहे, भले ही जूता सीने का काम उसके योग्य न हो। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' से यह ध्वनि भी निकलती है कि अपने कर्म करते रहने से ही मरने पर सद्गति मिलती है; दूसरे का कर्म करने से तो सीधे नरक की ही यात्रा करनी पड़ती है,

चाहे भले ही कोई परधर्म-कारक अपने जीवन-काल में किसी तरह राजा के दंड से बच भी जाए। आश्चर्य है कि श्रीकृष्ण स्वयं क्षत्रिय होते हुए भी ज्ञानोपदेश, जो ब्राह्मण का धर्म है, करके अपने ही कथन के प्रतिकूल जा रहे हैं। इस प्रकार वैश्य-शूद्र को राजदंडादि का लौकिक भय दिखाकर उनकी शारीरिक, तथा नरकादि का पारलौकिक भय तथा स्वर्गादिका पारलौकिक प्रलोभन दिखाकर उनकी मानसिक दासता स्थिर की गई। यह तो हुआ शासक-वर्ग का शासित-वर्ग की दासता प्राप्त करने का पहला हथकंडा जिसका अनुमोदन महर्षि अत्रि भी करते हैं—

ये व्यपेताः स्वधर्म्माच्च परधर्म्मेस्ववस्थिताः।
तेषां शास्ति करो राजा स्वर्गलोके महीयते ॥१७॥

आत्मीये संस्थिते धर्म्मे शूद्रोऽपि स्वर्ग मश्नुते।
परधर्म्मो भवेत्त्याज्यः सुरूपपरदारवत् ॥१८॥

—अत्रिस्मृति।

अर्थ—जो अपने धर्म से हटकर दूसरे के धर्म में स्थित होते हैं उन्हें दंड देने वाला राजा स्वर्ग में बड़ाई पाता है। अपने धर्म का पालन करता हुआ शूद्र भी स्वर्ग को प्राप्त होता है। दूसरे का धर्म सुन्दर पराई स्त्री की तरह त्याज्य है।

अब दूसरे हथकंडे का हाल सुनिए। हमारे शासकों ने पहले तो वैश्य-शूद्र को यह समझाया कि भाई, परमात्मा ने तुम्हारे लिए जो कर्म निर्द्धारित कर दिए हैं उन्हीं को दत्तचित्त होकर करने से तुम्हारी सद्‌गति होगी; अन्यथा नहीं। कहीं तुमने दूसरों का कर्म करने के लिए साहस किया तो, अवश्य ही, तुम्हारे लिए नरक-भोग निश्चित है। पर इतना ही भुलावा उन्होंने क़ाफ़ी नहीं समझा। उन्होंने इसकी त्रुटि पूरी करने तथा इन बुद्धू वैश्य-शूद्रों को अपने भाग्य पर संतुष्ट

रखने के लिए इन्हें जन्मान्तर-बाद नामक एक दूसरा ढंकोसला-पूर्ण कुपाठ पढ़ाया और इन्हें समझाया कि भाई, जो जैसा पूर्व जन्म में करता है वह वैसा ही परजन्म में पाता है। यदि पूर्व जन्म में तुम अच्छे कर्म किए होते तो अवश्य ही ब्राह्मण-क्षत्रिय के घर जन्म पाए होते। अतः तुम्हें अपने भाग्य पर संतुष्ट रहकर अपना कर्म करते रहना चाहिए। तुम्हारा इसीमें कल्याण है। तुम्हारी सद्गति इसी से होगी इत्यादि।

ब्राह्मणी-विधान का यह ज़हरीला तीर अचूक सिद्ध हुआ और वैश्य तथा शूद्र दोनों ही अपने ब्राह्मण-क्षत्रिय महाप्रभुओं के मन-वच-कर्म अर्थात् सर्वभाव से गुलाम बन गए। इन कठमुल्लों को इतना भी समझ में न आया कि उन्हें बिना पैसे खर्च किए ही अर्थात् मुफ्त में गुलाम बनाने वाला न कोई चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थापक परमात्मा ही है जिसने जन्मतः उनका वर्ण और तत्सम्बन्धी कर्म निर्द्धारित कर दिए हैं और न कोई पूर्व जन्मकृत कर्म ही है जिसका कुफल वे भोग रहे हैं; बल्कि उनको इस गर्त में ढकेलने वाले उनके अग्रसर पर स्वार्थ-पूर्ण देश भाई ही हैं जिन्होंने स्वार्थ-सिद्धि के लिए उन्हें वर्णव्यवस्था के महाजाल में फँसा रखा है। मानसिक दासता की इस कठोर चक्की में पुश्त-दर-पुश्त पिसते चले आने के कारण वैश्य-शूद्र की आत्मा इतनी पद-दलित हो गई है कि जहाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय जन्म से ही निर्भीक, साहसी और उच्च मन्य होते हैं वहाँ वैश्य-शूद्र आज भी, इस ब्रिटिश-शासन की छत्रच्छाया में रहते हुए भी स्वभावतः डरपोक, निःसाहस तथा नीच मन्य होते हैं। इनकी ऐसी पतित मनोवृत्ति इनको चिरकाल तक अवाध रूप से विविध कुसंस्कारों में रखकर ज़बर्दस्ती सड़ाए जाने का फल है। ये अपने मनुष्यत्व को इतना भूल गए हैं कि इन्हें अपने मानवोचित अधिकारों का ज्ञान तक नहीं है। ये प्रायः यही कहकर सन्तोष कर लिया करते

हैं कि भाई, हमारी यह हीनावस्था हमारे ही पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। भगवान् ने हमें ऐसा ही बना दिया तो इसमें दूसरों का कसूर ही क्या है ? इन बेचारों को क्या मालूम कि इन्हें इस रसातल में ढकेलने वाले वास्तविक भगवान् कौन हैं।

ब्राह्मणी-विधान के समर्थक हमारे कितने भाई यह कहा करते हैं कि वैश्य-शूद्रों के विरुद्ध जो कठोर कानून बनाए गए वे सिर्फ़ ग्रन्थों में ही लिखे हुए केवल मृताक्षरों (Dead Letters) की तरह रह गए। वे कभी अमल में नहीं लाए गए। क्या मैं अपने साथ-साथ दूसरों को भी छलने वाले ऐसे महानुभावों से पूछ सकता हूँ कि तथाकथित आदर्श राजा रामचन्द्र के हाथ से शम्बूक का, तथा श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम के हाथ से रोमहर्षण सूत का वध किया जाना एवं आचार्य द्रोण का छल करके एकलव्य के दाहने हाथ का अँगूठा कटवा लेना नृशंस तथा स्वार्थपूर्ण उक्त कठोर नियमों का अमल में लाया जाना नहीं है ? रामचन्द्र और बलराम दोनों ही हिन्दू विश्वासानुसार ईश्वरावतार हैं। जब ऐसे-ऐसे महापुरुषों ने ब्राह्मणी माया के फेर में पड़कर न्याय-अन्याय का कुछ भी विचार नहीं किया तो साधारण शासकगण क्या विचार करते होंगे ! शोक और आश्चर्य तो इस बात पर है कि रामचन्द्र शम्बूक के गले पर तलवार का वार करते समय इस बात को भूल गए कि उनके कुल-गुरु महर्षि वशिष्ठ, जिनके पवित्र चरण-रेणु वे सदा अपने सिर पर धारण किया करते थे, एक वेश्या के पुत्र थे जिन्होंने केवल तपस्या के ही बल पर ब्रह्म-पद को प्राप्त किया था; पर इस पर उन्होंने या उनके पूर्वजों ने कभी कुछ आपत्ति नहीं की थी; वशिष्ठ को किसी प्रकार का दण्ड देना तो दूर रहा। यदि शूद्र को तप का अधिकार नहीं है तो वेश्या-पुत्र को कैसे हो सकता है !

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि वैश्यों और शूद्रों ने

वैश्य-शूद्रों ने क्रान्ति क्यों नहीं की ?

अपने ऊपर चिरकाल से होते हुए इन घोर अत्याचारों को मूक पशुवत् चुपचाप सह क्यों लिया ? अपने उत्पीड़कों के विरुद्ध बग़ावतकर अपनी दासता की कुलिश-कठोर बेड़ियों को तोड़कर फेंका क्यों नहीं ? पाठकों ने फ्रांस तथा रूस की क्रान्तियों का इतिहास पढ़ा होगा। वहाँ का भी शासक-वर्ग तथा सत्ताधारी समुदाय ठीक इसी प्रकार शासित-वर्ग का सब प्रकार से रक्त चूस-कर खूब मोटा हो रहा था। जीवन की जितनी ऐश या आराम की चीज़ें थीं वे मानों शासकों की बपौती तथा एकाधिकार बन गई थीं और शासितों को अपनी क्षुधा-ज्वाला शान्त करने के लिए मुट्ठी भर अन्न तथा शरीर ढकने के लिए फटे-पुराने गुदड़े भी नसीब न थे। घोर दरिद्रता के सुदृढ़ चंगुल में फँसे हुए किसान अपनी एड़ी-चोटी का पसीना एक करके खेतों में जो कुछ पैदा करते वह सब का सब शहरों में रहकर अपना जीवन नाच-रंग तथा सिनेमा-थियेटर के आनन्द एवं नाना-प्रकार के आमोद-प्रमोद में बिताने वाले उनके मालिकों के पास चला जाता और यहाँ किसानों के घर पर उनके बाल-बच्चे क्षुधा-ज्वाला से अहर्निश जला करते थे। पर प्रकृति का अटल नियम है कि प्रत्येक क्रिया की तुल्य तथा उल्टी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। विद्रोह की जो आग उत्पीड़ितों के हृदय में सदियों से धीरे-धीरे सुलग-सुलगकर जल रही थी वह आखिरकार समय पाकर एक प्रलयकारी ज्वालामुखी के रूप में प्रस्फुटित हुई जिसकी धधकती हुई लपटों में कूड़े-कर्कट सरीखे निःशेष अत्याचारी समुदाय जलकर खाक हो गया और देश में बन्धुता, समानता तथा स्वाधीनता के भाव स्थापित हुए। पर हिन्दू भारत में ऐसी क्रान्ति क्यों नहीं मची ? इसके कई कारण हैं। अपेक्षात: यहाँ के शासकगण अन्य देशों के शासकगण से, अधिक कूट नीति-कुशल थे। उन्होंने पहले से ही

ऐसा प्रबन्ध कर दिया था जिसमें क्रान्ति का विचार वैश्य शूद्रों के मस्तिष्क में घुसने ही नहीं पावे। उन्होंने 'यो लोभादधमोजत्या' वाली पहली व्यवस्था देकर वैश्य-शूद्रों को शस्त्र ग्रहण-रूपी क्षत्रियोचित कर्म से वंचित कर दिया। जिससे वे निहत्थे, निरस्त्र तथा निःशस्त्र हो गए। पर इस व्यवस्था से वैश्य-शूद्रों के केवल शरीर पर नियंत्रण हुआ, उनके मन पर नहीं। अतः उन्होंने 'श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः' वाली दूसरी व्यवस्था दी और उनको यह समझाकर उनके मन पर कब्ज़ा किया कि अपना ही कर्म, चाहे भले ही वह दूषित हो, करने से सद्गति प्राप्त होती है; दूसरे का कर्म करने से तो बुरी गति होती है। सबसे प्रबल तथा तीसरी व्यवस्था जन्मान्तरवाद हुआ जिसने वैश्य-शूद्रों को यह मिथ्या तथा कपोल-कल्पित शिक्षा दी कि अपने पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही किसी मनुष्य का किसी वर्ण में जन्म होता है; अतः सभी के लिए यही उचित है कि परमात्मा, जिसकी चलाई हुई यह वर्ण-व्यवस्था है, जिसको जिस वर्ण में अपने पूर्व जन्म के कर्मानुसार जन्म दे, उसको उसी वर्ण का कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। ऐसा करने से ही परमात्मा प्रसन्न होकर उसको सद्गति प्रदान करता है। अन्यथा करने वाला परमात्मा का कोप-भाजन बनकर अपने को घोर नरक यंत्रणा का अधिकारी बना लेता है इत्यादि। भला जिनको इस प्रकार का कुपाठ पढ़ाकर उनकी बुद्धि पर पानी फेर दिया गया हो, तथा जिन्हें स्वार्थपूर्ण तथा कठोर कानून बनाकर निहत्था कर दिया गया हो एवं जो उक्त भुलावे में पड़कर किसी अन्य पर दोष की शंका तक न करते हुए अपने ही भाग्य और कर्मविपाक को दीन, हीन और मलिन होकर अहर्निश कोस रहे हों, उनसे क्रान्ति की आशा करना वन्ध्या-गर्भ से पुत्र-प्राप्ति की, शशक-मस्तक से शृंग-प्ररोह की तथा शून्य आकाश से कुसुमोत्पत्ति की आशा करने के तुल्य है। पर फ्रांस और रूस की प्रजा इस प्रकार निरीह, पंगु

तथा निहत्थी न थी और न वह किसी पूर्वजन्म के कर्मफल के भोगने के फेर में ही पड़ी थी कि वह उसे परमात्मा की व्यवस्था समझकर बिना कुछ चीं-चपड़ किए हुए सब्र के साथ सह ले। वह यहाँ की प्रजा की तरह मूक पशु नहीं थी कि उसकी नाक में नकेल पहनाकर कोई जिधर चाहे उधर ही हाँक ले जाए। वह मनुष्य थी और अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों को वह बखूबी जानती थी। वह अपने शत्रुओं को अच्छी तरह पहचानती थी और उनके हाथ में तलवार थी। उन्हें अपनी मुक्ति के मार्ग के काँटों को जड़-मूल से साफ़ कर देना मालूम था और अन्त में उसने वैसा ही करके छोड़ा।

जाति-पाँति से हानियाँ

जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दुओं को केवल ब्राह्मणादि वर्ण नामक चार बड़े-बड़े खंडों में ही विभक्त करके दम नहीं लिया; अपितु प्रत्येक खंड को वर्णों की ही तरह असंख्य जन्म-मूलक जातियों तथा उनकी उपजातियों में भी टुकड़े-टुकड़ेकर उसको तितर-बितर कर दिया। ये जातियाँ तथा उपजातियाँ इस प्रकार एक दूसरे से असम्बद्ध है कि एक जाति का अन्न जल दूसरे के लिए हराम है। उदाहरण के लिए केवल ब्राह्मणों को ही लीजिए। इनके कितने भेद तथा उपभेद हैं, जिन्हें यह जानना हो वे कृपा करके 'ब्राह्मणोत्पत्ति मार्त्तण्ड' तथा 'ब्राह्मण-निर्णय' नामक ग्रन्थों को पढ़ जाने का कष्ट उठावें। ये सभी भेद तथा उपभेद केवल वर्णमात्र का साम्य रखते हुए एक दूसरे से इतने दूर रहते हैं कि किन्हीं भी दो भेदों, वा एक ही भेद के किन्हीं भी दो उपभेदों के बीच भूलकर भी रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'तीन कन्नौजिए तेरह चूल्हे' वाली कहावत मेरे इस कथन को पुष्ट करती है। यह मामला यहीं तक खतम नहीं है; बल्कि इन विविध भेदों तथा उपभेदों ने एक दूसरे को नीचा दिखलाने के लिए फ़ब्तियाँ भी गढ़ ली हैं। सभी अपने को उत्तम तथा दूसरों को नीच

मानते हैं। यही हाल क्षत्रियादि अन्य वर्णों का भी समझना चाहिये इनमें भी प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत असंख्य भेदोपभेद हैं जो एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् हैं। इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है यदि मैं यह कहूँ कि इस विशाल हिन्दू-समाज का शरीर ऐसे अंगों-प्रत्यंगों का केवल संग्रह मात्र है जिनमें जाति-भेद की भावना रूपी विष के प्रवेश कर जाने के कारण वे सब के सब मृत प्राय हो रहे हैं और शारीरिक-क्रिया के संचालन में बिल्कुल असमर्थ हैं। हमारा यह जातीय शरीर सर्पदंष्ट की तरह चेतनाहीन होकर पड़ा है और जब तक हम उक्त विष को उचित दवा-दारु करके दूर नहीं कर देते तब तक न इसमें प्राणों का पुनः संचार होगा और न इससे कोई कार्य ही सिद्ध होगा। जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था के जो कुपरिणाम अब तक देखाए गए हैं उनका सम्बन्ध केवल वैश्य-शूद्रों से होने के कारण उनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित था। पर जाति-पाँति के कारण जो हानियाँ हुई हैं उनका कुफल सारा हिन्दू-समाज भोग रहा है। ये हानियाँ मुख्यतः १० हैं—

(१) इस जाति-पाँति के कारण ही हिन्दुओं में परस्पर इतना द्वेष-भाव फैला कि वे एक होकर विदेशियों का सफल सामना न कर सके, जिसका फल यह हुआ कि भारत पराधीन हो गया।

(२) इस जाति-पाँति के कारण ही हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या ने सामाजिक अत्याचारों से बचने के लिए इस्लाम तथा इसाई धर्म को क़बूल कर लिया। तथा कितने ऐसे लोग भी अपनी इच्छा के विरुद्ध विधर्मी हो गए जो भूल से किसी मुसलमान या इसाई का छूआ हुआ अन्न-जल ग्रहण करने के कारण अपनी बिरादरी से खारिज कर दिए गए।

(३) इस जाति-पाँति के कारण ही भारत-माता के लगभग १० करोड़ हिन्दू सन्तान अछूत तथा पद-दलित बनकर श्वान-शूकर-सा

जीवन बिता रही है जिसको रहने के घर, पहनने को कपड़े तथा पेट भरने का रूखा-सूखा अन्न तक नहीं है।

(४) इस जाति-पाँति के कारण ही विविध हिन्दू जातियों के बीच पारस्परिक प्रेम तथा सहानुभूति का इतना अभाव हो गया है कि इन असंख्य जातियों को एकता के सूत्र में बाँधकर उनका संगठन करना नितान्त असंभव हो गया है।

इस जाति-पाँति के कारण ही आर्यसमाज वैदिक धर्म को सार्वभौम धर्म न बना सका और न शुद्धि के कार्य में सफलता प्राप्त कर सका; क्योंकि जो भी विधर्मी वैदिक धर्म को क़बूल करता है वह विवाहादि सामाजिक आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए किसी भी जाति में शरण न मिलने के कारण पुनः अपने साविक धर्म में लौट जाता है। नहीं लौटने की दशा में वह पानी में तेल की तरह अलग रहता है।

(६) इस जाति-पाँति के कारण ही आर्य-समाज गुण-कर्म-स्वभावानुसार कभी भी वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता; कारण कि गुण कर्म-स्वाभावानुसार वर्ण-व्यवस्था चलाने के पूर्व जाति-भेद का समूलोच्छेद होना परमावश्यक है; पर जिन्हें जन्म-मूलक उच्चता की जागीरें मिली हैं वे उन्हें छोड़ नहीं सकते।

(७) इस जाति-पाँति के कारण हिन्दुओं में शिल्प-कला की यथेष्ट उन्नति अन्य अहिन्दू जातियों की तरह, न हो सकी; कारण कि जिन जातियों का पैत्रिक व्यवसाय शिल्प-कला है, जैसे लोहार, बढ़ई, दर्ज़ी, कुम्हार, तेली, नाई, जुलाहा आदि, वे सबके सब ओछी निगाह से देखी जाती हैं; अतः वे जी-जान से इसकी उन्नति के लिए परिश्रम करने में सदा शिथिल रहीं। रामायण तथा महाभारत में हम समुद्र में बाँधे हुए सेतु, पुष्पक विमान, लाक्षा-गृह तथा विचित्र सभा-भवन के विषय में पढ़ते हैं; पर याद रहे, इनके निर्माता

भारतीय आर्य नहीं थे, जिनकी सन्तान होने का हिन्दू दावा करते हैं; बल्कि इनके निर्मातामय आदि दानव थे।

(८) इस जाति-पाँति के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय के अतिरिक्त किसी अन्य जाति का व्यक्ति लाख विद्वान्, सदाचारी तथा धनी होता हुआ भी सामाजिक दृष्टि से हेय समझा जाता है। यही कारण है कि आजकल कायस्थ, सोनार; कोइरी, कुर्मी, अहीर, बढ़ई, लोहार, तेली, माली आदि शूद्र समझी जाने वाली जातियाँ अपने को ब्राह्मण-क्षत्रिय सिद्ध करने के लिए आकाश-पाताल के कुलाबे एक कर रही हैं।

(९) इस जाति-पाँति के कारण हिन्दुओं की सहानुभूति उसकी बिरादरी तक ही सीमित रहती है। उसके विचार ऐसे संकुचित हो जाते हैं कि उसकी दृष्टि में किसी अन्य बिरादरी के लिए स्थान ही नहीं; यहाँ तक कि सरकारी ओहदा पाकर भी वह इस दोष से अपने को मुक्त नहीं कर सकता और अपने पद तथा अधिकार के द्वारा अपनी ही बिरादरी के लोगों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करता है तथा अन्य बिरादरी वालों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। ऐसा करने में वह न्याय-अन्याय का तथा औचित्य-अनौचित्य का कुछ भी विचार नहीं करता।

(१०) इस जाति-पाँति के कारण ही हिन्दू जाति विविध सामाजिक कुरीतियों का शिकार हो रही है तथा इसकी आर्थिक तथा राजनैतिक प्रगति खटाई में पड़ी है। हम गला फाड़कर 'हाय स्वराज्य ! हाय स्वराज्य !' चिल्ला रहे हैं; पर हमारा सुनता ही कौन है ?*

---

*इस पुस्तक के लिखी जाने और प्रकाशित होने के बाद, तारीख १५ अगस्त, ई० स० १९४७ को Indian Indepen-

जाति-पाँति के विरुद्ध हिन्दू नेताओं की सम्मतियाँ

जाति-पाँति की जिन १० हानियों को मैं ऊपर दिखला आया हूँ वे केवल मेरे ही विचार नहीं हैं अपितु हिन्दू जाति के बड़े-बड़े नेता भी उन्हें क़बूल करते हैं जिनकी सम्मतियाँ पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दी जाती हैं—

(१) स्वर्गीय सर रवीन्द्रनाथ ठाकुर। यदि हिन्दू धर्मोन्मत्त विधर्मियों के घातक आक्रमणों से अपनी रक्षा करना चाहते हैं, तो उन्हें जाति-पाँति का सर्वथा त्यागकर के अपने को संगठित करना होगा।

(२) स्वर्गीय पं० मोतीलाल नेहरू। जब तक जाति-पाँति का नामो-निशान मिटा नहीं दिया जाता, तब तक भारतवर्ष संसार के सभ्य राष्ट्रों में अपना उचित स्थान नहीं ले सकता।

(३) पं० जवाहर लाल नेहरू। भारतवर्ष में जाति-पाँति प्राचीन काल में चाहे कितनी उपयोगी क्यों न रही हो, पर इस समय सब प्रकार की उन्नति के मार्ग में यह बड़ी भारी बाधा और रुकावट बन रही है।..................हमें इसको जड़ से उखाड़ अपनी सामाजिक रचना एक दूसरे ढंग से करनी होगी।

(४) श्री विनायक दामोदर सावरकर। शुद्धि, छूतछात-

---

dence Bill के द्वारा हमें स्वराज्य मिल गया है सही; पर हम इसे एक वास्तविक तथा स्थायी स्वराज्य तभी बना सकेंगे और संसार के सम्मुख हम अपने को इसके लिए योग्य तभी सिद्ध कर सकेंगे जब हम आपस का भेद-भाव दूरकर और भूखी तथा नंगी प्रजा को अन्न-वस्त्रादिकों के द्वारा सुखी बनाकर सभी को एकता के सूत्र में बाँध-सकेंगे; अन्यथा नहीं।

निवारण और संगठन इत्यादि—इस प्रकार के उद्देश्य इस एक ही वाक्य के अन्दर पाए जाते हैं कि 'जाति-पाँति का झंझट तोड़ दो'।

(५) श्री राजा खलकसिंह जूदेव बहादुर, खनिया धाना राज्य। मेरा यह पक्का विचार है कि जन्म-मूलक जाति-पाँति और छुआ-छूत जैसी कुरीतियों के रहते हुए हिन्दू जाति कभी उन्नति नहीं कर सकती।

(६) श्री भगवानदास जी, एम्० ए० (काशी)। वर्त्तमान काल में जाति-प्रथा जिस रूप में प्रचलित है, उसका एकान्त रूप से विनाश करना ही होगा। अगर भारत की जनता को नया जीवन प्राप्त करना है, तो उसे वर्णभेद के वर्त्तमान रूप को मिटा देना होगा, क्योंकि वह उन्नति के सभी भागों में भयंकर रूप से बाधा उपस्थित कर रहा है।

(७) स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी। मेरा पूर्ण विश्वास है कि जाति-पाँति के जंजाल के टूटे बिना हिन्दुओं का उद्धार न होगा।

(८) स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द। मैंने अपना यह नियम बना लिया है कि किसी ऐसे विवाह-संस्कार में सम्मिलित न हूँगा और न उस जोड़े को आशिर्वाद दूँगा, जिसमें जाति-पाँति का बन्धन न तोड़ा गया हो।

(९) स्वर्गीय लाला लाजपत राय। जाति-पाँति हिन्दू-धर्म का सबसे बड़ा कलंक है। ब्राह्मण और अब्राह्मण, जाट और गैर-जाट और नाममात्र ऊँच-नीच जातियों के वैमनस्य का यही मूल कारण है और इसीने अछूतपन को जन्म दिया है। जब तक हिन्दू जाति-पाँति की बेड़ियों से मुक्त नहीं होते, तब तक उनका एक जाति बनना असंभव है।

(१०) विश्ववन्द्य महात्मा गांधी। जाति-पाँति तोड़क

विवाह आपत्तिजनक नहीं है। शूद्र पुरुष ब्राह्मण स्त्री से विवाह कर सकता है।

(११) डाक्टर मुंजे। अन्तर्जातीय विवाह द्वारा ही हम जाति-पाँति को मिटा सकते हैं।

(१२) स्वामी सत्यदेव। जाति-पाँति की दीवारों को गिरा दो; फूट के कारण को मिटा दो, तभी वास्तविक संगठन हो सकेगा।

(१३) श्री सी० वाई० चिन्तामणि। वर्ण-व्यवस्था मनुष्य की बनाई हुई है। वह ईश्वर की ओर से कदापि नहीं हो सकती। जातीय भाव, जो इसकी कृपा से हमारे हृदय में जम गए हैं, लानत के योग्य हैं। आज इस बात की आवश्यकता है कि इसका खूब विरोध किया जाय, निःसन्देह इस घातक प्रथा ने हमारी उन्नति को बहुत दूर पीछे फेंक दिया है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुओं के इस भेदभाव के कारण हम पूरा-पूरा प्रयत्न करने पर भी पूर्ण और स्थायी स्वतंत्रता (स्वराज्य) प्राप्त नहीं कर सकते।

(१४) सर पी० सी० राय। जब तक जन्म-मूलक जाति-भेद का अन्त न होगा और वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार न मानी जाएगी, तब तक देश स्वतंत्र नहीं हो सकता। जाति-पाँति के कृत्रिम भेद-भाव हमारे देश की उन्नति के मार्ग में बाधा सिद्ध हो रहे हैं। इसलिए इन्हें शीघ्र दूर कर देना चाहिए।

(१५) सर हरिसिंह गौड़। जाति-पाँति हिन्दुओं की एकता और उन्नति में रुकावट है। इस हानिकारक जाति-पाँति के विरुद्ध नवयुवकों को आन्दोलन करना चाहिए।

(१६) स्वामी रामतीर्थ। देश और धर्म तुमसे आशा करता है कि जाति-पाँति के अत्यन्त कठोर नियमों को तुम ढीला कर डालोगे और भ्रातृ-भाव के प्रकाश के लिए तुम कड़े वर्ण-भेदों को नियन्त्रित कर दोगे।

(१७) पं० सन्तराम जी, बी० ए० । जाति-पाँति ने शुद्धि, संगठन और दलितोद्धार की सभी चेष्टाओं को विफल कर दिया है। जब तक जाति-पाँति है, ये तीनों बातें असम्भव हैं। हिन्दू-समाज के सभी सच्चे हित चिन्तक और नेता इस बात को मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं।

(१८) महाशय देवराज, प्रधान कन्या-महाविद्यालय, जालंधर। जाति-पाँति के अयोग्य बन्धनों ने हमें ऐसा अभिमानी, आलसी और कर्महीन बना दिया है कि हम मनुष्य कहलाने के भी योग्य नहीं रहे। यह कुप्रथा तोड़ने योग्य ही है।

(१९) श्री नारायण स्वामी। जाति-पाँति का बन्धन हिन्दू-जाति के लिए कलंक का टीका है, और इसने सारी जाति को छिन्न-भिन्न कर रखा है। हिन्दू जाति में परस्पर घृणा और द्वेष का प्रचार इसकी कृपा का फल है। इसलिए आर्य जाति की उन्नति इस बन्धन के तोड़ने पर ही अवलंबित है।

(२०) श्री मालीराव जयकर। एक बात जो हमने स्वराज्य संग्राम में सीखी है, वह यह है कि हमें जाति-पाँति को सर्वथा मिटाकर जन्म की बड़ाई का त्याग कर देना चाहिए।

(२१) श्री के० नटराजन। वर्तमान जाति-पाँति शास्त्र और तर्क दोनों के विरुद्ध है। हिन्दुओं की आपस की फूट का यही कारण है। यह राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध है। जितना शीघ्र इसमें क्रान्तिकारी सुधार होगा, उतना ही इससे देश और विशेषकर के हिन्दुओं का कल्याण होगा।

यहाँ भारत के केवल २१ प्रख्यात नेताओं की ही सम्मतियाँ दी गई जिनसे पाठकों को भलीभाँति मालूम हो गया होगा कि हमारे देश के कर्णधार इस जाति-पाँति की नारकीय कुप्रथा के कैसे

कट्टर विरोधी हैं। इन सम्बन्ध में अन्यान्य नेताओं की भी सम्मतियाँ दी जातीं; पर ग्रन्थ का कलेवर व्यर्थ ही बढ़ जाने के भय से और अधिक नहीं दी गईं। कितने उच्चमन्य पर यथार्थ में नीच बुद्धि के मनुष्य प्रायः यह कहा करते हैं कि भाई आजकल जितने नीच जाति के मनुष्य हैं वे जाति-पाँति को इसलिए उठा देना चाहते हैं कि वे समझते हैं कि ऐसा करने से ही वे उच्च जातियों के समकक्ष हो सकेंगे और नीच कहाने के कलंक से मुक्त हो सकेंगे। पर ऐसे बुद्धिहीन महापुरुषों को मैं बता देना चाहता हूँ कि जाति-पाँति को घृणा की दृष्टि से देखने तथा उस पर लानत देने वाले नेताओं की पूर्वोक्त तालिका में अधिकांश ब्राह्मण तथा अन्य द्विज वर्ण के सदस्य हैं जो, यदि जाति भी कोई चीज़ है तो, उनसे जाति में कई गुणा अधिक श्रेष्ठ, कुल में कई गुणा अधिक प्रतिष्ठित तथा शिक्षा में कई गुणा अधिक उच्च हैं।

जाति-भेद के समर्थकों की दलीलों का खंडन

अब यहाँ पर उन कतिपय लचर, निःसार तथा पाखंडपूर्ण युक्तियों एवं कठंदलीलों का समूल खंडन किया जाता है जिन्हें जाति-पाँति एवं वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती इनके समर्थन में पेश करते हैं। इनकी दलीलों को एक-एक करके लेकर उनका कच्चा चिट्ठा खोला जाएगा—

(१) कितने तो यह कहते हैं कि भाई वर्ण-व्यवस्था या जाति-भेद और कुछ नहीं; यह केवल श्रम-विभाग है। पर यह श्रम-विभाग तब कहा जाता जब प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि, योग्यता और शक्ति के अनुसार कोई व्यवसाय चुन लेने का अधिकार रहता सो बात यहाँ नहीं है। यहाँ सभी को जाति-विशेष में जन्म लेने के ही आधार पर अपना व्यवसाय चुनना पड़ता है, चाहे उनमें उस व्यवसाय के लिए योग्यता आदि हों या न हों। अथवा थोड़े शब्दों

में यह कहिए कि वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाग करने के साथ-साथ श्रमिकों का भी विभाग उनके जन्म के आधार पर कर देती है। उदाहरणतः तेली के घर जन्म लेने वाला व्यक्ति तमोली का काम नहीं कर सकता। इसी प्रकार तमोली के घर जन्म लेनेवाला व्यक्ति तेली का काम नहीं कर सकता। क्षत्रिय मारे भूख के भले ही मर जाए; पर वह बनिए का काम करने में अपनी मान हानि मानता है। सच पूछिए तो हिन्दुओं के यहाँ कोई भी ऐसा सामाजिक कार्य नहीं जिसमें ब्राह्मण से लेकर भङ्गी तक सभी हिन्दू समान भाव से भाग ले सकें। इन्हें एकता के सूत्र में बाँधने वाली एक भी बात नहीं; सभी इन्हें अलग करने वाली हैं। सभी जातियों के जन्म से लेकर मरण पर्यन्त के सभी गृह्य-कृत्य रस्म तथा रिवाज अपने-अपने हैं। यही कारण है कि कोई भी हिन्दू अपने को किसी राष्ट्र के अंग के रूप में कभी अनुभव नहीं करता और 'तुम कौन हो?' ऐसा प्रश्न करने पर वह 'मैं हिन्दू हूँ' ऐसा न कहकर 'मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, बनिया हूँ' ऐसा कह देता है, जबकि कोई मुसलमान इसी प्रश्न के उत्तर में 'मैं सैय्यद हूँ, शेख हूँ, पठान हूँ', ऐसा न कहकर 'मैं मुसलमान हूँ', ऐसा कहा करता है। हिन्दुओं और मुसलमानों में इतना फ़र्क़ है।

ऊपर कह आया हूँ कि वर्ण-व्यवस्था केवल श्रम-विभाग न होकर श्रमिक-विभाग भी है। पर यह बात यहीं तक समाप्त नहीं होती, यह श्रमिक-विभाग एक ऐसा श्रेणीबद्ध विभाग है जिसमें श्रमिकों के विभागों को एक-दूसरे के ऊपर क्रम से रखा गया है तथा प्रत्येक श्रमिक का धन्धा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार न नियतकर उसके जन्मरूपी आकस्मिक घटनानुसार नियत किया जाता है, जो किसी भी सभ्य देश में नहीं पाया जाता।

(२) कितनों का कथन है कि वर्ण-भेद का उद्देश्य रक्त की पवित्रता तथा वंश की विशुद्धता को सुरक्षित रखता है। पर मैं इसी

पुस्तक के द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदों मे सविस्तर तथा सप्रमाण बता आया हूँ कि ब्राह्मण से लेकर चांडाल पर्यन्त किसी भी जाति का रक्त शुद्ध नहीं है। सभी जातियों में घोर रक्त-संमिश्रण हुआ है। यह केवल मेरा ही अनुसन्धान नहीं है। मानव-वंश-विज्ञान के अन्य पंडितगण भी गहरी खोज के बाद इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि विशुद्ध वंश के मनुष्य कहीं भी नहीं पाए जाते, संसार के सभी भागों में सभी वंशों की परस्पर मिलावट हो गई है। सुप्रसिद्ध महाराष्ट्रीय विद्वान् श्रीयुत डी० आर० भाण्डारकर ने अपने 'हिन्दू जनता में विदेशीय तत्त्व' (Foreign Elements in the Hindu Population) शीर्षक लेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई श्रेणी या वर्ण ऐसा होगा, जिसमें विजातीय अंश न हो। विदेशी रक्त का मिश्रण न केवल लड़ाकू श्रेणियों—राजपूतों और मराठों—में ही है, वरन् ब्राह्मणों में भी है, जो इस धोखे में हैं कि हममें कोई विजातीय रक्त नहीं मिला"। सच पूछिये तो ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मिश्रित रक्त होने के जितने प्रमाण मिलते हैं उतने वैश्यों और शूद्रों के नहीं मिलते। धर्मशास्त्रानुसार ब्राह्मणों में चार, क्षत्रियों में तीन तथा वैश्यों में दो वर्णों के रक्तों की मिलावट होनी चाहिए। केवल शूद्रों का ही रक्त शुद्ध मानना चाहिए।

वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था की स्थापना वंश की शुद्धता के रक्षार्थ नहीं हुई, उसकी स्थापना तो आर्यों तथा अनार्यों के रक्त तथा संस्कृति के परस्पर मिश्रित हो जाने के बहुत काल बाद हुई। यह धारणा कि वर्णों का भेद वास्तव में वंशों का भेद है, अपने तथा दूसरों को धोखे में डालना है। भला पंजाब के ब्राह्मणों तथा मद्रास के ब्राह्मणों में कौनसा वंश-सम्बन्ध है ? बंगाल के अछूतों तथा मद्रास के अछूतों में वंश का क्या रिश्ता है ? पंजाब के ब्राह्मणों और पंजाब के चमारों में क्या वंश-भेद है ? मद्रास के ब्राह्मणों और मद्रास के पारियों में

वंश की क्या भिन्नता है? मानव-वंश-विज्ञान (Ethnology) के पंडितों की दृष्टि में पंजाब के ब्राह्मण तथा चमार एवं मद्रास के ब्राह्मण तथा पारिए अपने-अपने प्रान्तों के एक ही मानव-वंश की सन्तान हैं। इसी प्रकार दो भिन्न प्रान्तों के ब्राह्मण वा चमार दो भिन्न-वंशों के हैं। अतः वर्ण-भेद वंश-विभाग को नहीं दिखलाता।

(३) कितनों का मत है कि वर्ण-व्यवस्था सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) के आधार पर चलाई गई है जिसमें उत्तम सन्तान की उत्पत्ति हो। यदि सचमुच बात ऐसी है, तो वंश के सुधारने के निमित्त सविवेक जोड़े मिला-मिलाकर विवाह करने तथा कराने पर कभी किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पर क्या वास्तव में किसी भी वर्ण में विवाह की यह विधि प्रचलित है? किसी एक वर्ण में से कौन दो आपस में विवाह करें, क्या इस चुनाव की कोई निश्चित रीति है? ऐसे प्रश्नों का उत्तर आपको नकार में ही मिलेगा। वृक्ष अपने फल-फूल से पहचाना जाता है। यदि वर्ण-व्यस्था सुप्रजनन शास्त्र पर आधारित थी, तो इसने किस प्रकार की नस्ल उत्पन्न की है? शारीरिक संगठन की दृष्टि से हिन्दू ठिगनों तथा बौनों की जाति हैं, जो कद में छोटे और बल में हीन हैं। यह एक ऐसी जाति है जिसके प्रतिशत ९० व्यक्ति सैनिक कार्य के लिये सर्वथा अयोग्य ठहराए गए हैं। इससे सिद्ध होता है कि वर्ण-व्यवस्था में आधुनिक वैज्ञानिकों के सुप्रजनन-शास्त्र का कुछ भी आधार नहीं। वर-कन्या के चुनाव में उक्त शास्त्र का कोई नाम तक नहीं लेता; उसके मुताबिक जोड़ा मिलाना तो दूर रहा। यहाँ तो तिलक-दहेज की रकम ज्यों ही तै पाई गई और पुरोहित ने अपनी लग्न विचारकर वर-कन्या की जन्म-कुंडली ज्योंही मिला दी कि बस विवाह पक्का हो गया। उनके शारीरिक तथा बौद्धिक विकास की कोई भी परवाह नहीं करता, जिसका फल यह होता है कि हृष्ट-पुष्ट कन्याएँ दुबले-

पतले वरों के, इसी प्रकार मोटे-ताज़े वर मरीज़ कन्याओं के गले मढ़ दिए जाते हैं। क्या हिन्दुओं के यहाँ सुप्रजनन-शास्त्र का यही सम्मान है!

(४) कितने लोग ऐसे भी हैं जिन्हें हिन्दुओं के जाति-भेद में कोई विलक्षणता दीख नहीं पड़ती। ये लोग इसाईयों, मुसलमानों तथा सिक्खों का उदाहरण देकर कि उन लोगों में भी जाति भेद है अपने तथा दूसरों को सन्तोष देते हैं। अभिप्राय यह कि उनकी समझ-मुबारक में हिन्दुओं का जाति-भेद कोई ऐसी भयानक तथा घृणित वस्तु नहीं कि जैसा बहुत से लोग मान बैठे हैं। पर खेद है कि इन महाशयों ने हिन्दुओं और अहिन्दुओं के जाति-भेदों में जो तात्विक अन्तर है उसे समझने के लिए कभी कोशिश नहीं की है। अहिन्दू अपने यहाँ के जाति-भेद को वही सामाजिक महत्त्व नहीं देते जो हिन्दू अपने यहाँ के जाति-भेद को प्रदान करते हैं। किसी मुसलमान से पूछने पर कि तुम कौन हो? उसके इतना ही कह देने से कि 'मैं मुसलमान हूँ', आप संतुष्ट हो जाते हैं। आपको यह जानने की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती कि वह शेख है, या सैय्यद है या मोमिन है। पर किसी हिन्दू से भेंट हो जाने पर बिना उसकी जाति जाने आप उसका पिण्ड नहीं छोड़ सकते; क्योंकि हिन्दू की हालत में उसकी जाति को बिना जाने हुए आप यह निश्चय नहीं कर सकते कि वह किस प्रकार का मनुष्य है। यह पहली बात हुई।

दूसरी बात यह है कि सिक्खों, इसाईयों तथा मुसलमानों में जाति-भेद होते हुए भी सब का खान पान एक है। उनमें छुआछूत का विचार नहीं। सैय्यद भी जुलाहे के हाथ के बनाए हुए सभी प्रकार के भोजन तथा उसका हुक्का भी ग्रहण कर लेने से पतित नहीं होता। केवल शादी अपनी ही बिरादरी में हुआ करती है जो

केवल हिन्दुओं की देखा-देखी है; अन्यथा मुसलमानों की शरीअत किसी सैय्यद को भी किसी मोमिन के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने से मना नहीं करती।

तीसरी बात यह है कि सिक्ख, मुसलमान तथा इसाई जाति-पाँति तोड़ने वाले व्यक्ति को अपनी बिरादरी से खारिज नहीं करते। वस्तुतः जाति-वहिष्कार की भावना ही अहिन्दुओं के लिए एक अपरिचित वस्तु है। पर हिन्दुओं की हालत उनसे बिल्कुल भिन्न है। जातीय नियम के उल्लंघन करने पर हिन्दू का वहिष्कृत होना अनिवार्य है। इससे साफ़ प्रकट है कि जाति-पाँति का जितना महत्त्व हिन्दुओं के यहाँ है उसकी तुलना में अहिन्दुओं के यहाँ नहीं के बराबर है।

चौथी बात यह है कि हिन्दुओं के यहाँ जाति-भेद उनके धर्म से सम्बद्ध है; पर अहिन्दुओं के यहाँ नहीं। हिन्दुओं की प्रत्येक जाति किसी न किसी वर्ण के अन्तर्गत है, अतः उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य हिन्दू धर्म-शास्त्रानुसार निश्चित हैं तथा वे प्रत्येक वर्ण के लिए भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरणत: जो अधिकार तथा कर्त्तव्य ब्राह्मण के हैं वे शूद्र के नहीं। पर सो बात अहिन्दुओं के यहाँ नहीं है। उनके यहाँ सभी जातियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य उनके मज़हब के अनुसार समान हैं। जाति-भेद के अनुसार उनके अधिकारादि के भेद नहीं हैं। उदाहरणतः मुसलमानों के यहाँ सैय्यद हो वा मोमिन; सिक्खों के यहाँ चाहे जाट हो वा अरोड़ा; इसाईयों के यहाँ चमार हो वा लोहार; अपने-अपने मज़हब की दृष्टि में सभी बराबर हैं। उनके अधिकारादि भी बराबर हैं, जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे हुए हैं और जिसका हिन्दुओं में नितान्त अभाव है।

(५) कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें अब तक भी यह बात मालूम नहीं हुई कि वर्ण-भेद ने हिन्दुओं की कुछ हानि की है। उन्हें तो

इसी बात का अभिमान है कि हिन्दू जाति अनेक राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्तियों के प्रचण्ड आघातों को भी विफल करती हुई अभी तक जीवित है। पर उसका अभी तक जीवित रहना उसके भविष्य में भी जीवित रहने की योग्यता का प्रमाण नहीं है और प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि कोई समाज जीता है या मर गया; बल्कि प्रश्न तो यह होना चाहिए कि वह समाज किस अवस्था में जीता है। जीता बचा रहना कई प्रकार का होता है। रण-भूमि में शत्रु का मान-मर्दनकर कीर्त्ति के साथ जीना और बात है तथा वहाँ से पीठ दिखाकर भागना और अन्त में बन्दी बनकर गुलाम की तरह जीना और बात है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। किसी भी हिन्दू का इस बात पर अभिमान व्यर्थ है कि हिन्दू जाति अब तक जी रही है; बल्कि उसको तो अभिमान करने के बदले इस बात पर विचार करना चाहिए कि हिन्दू जाति किस दशा में जी रही है। यदि वह अपनी दशा पर विचार करेगा तो वह जीते रहने का गर्व छोड़ देगा। हिन्दुओं का जीवन, जब से उनके वास्तविक इतिहास का उदय हुआ, एक निरन्तर पराजय का जीवन रहा है। उनके जीते रहने की यह एक ऐसी रीति है जिसके लिए प्रत्येक विचार-शील हिन्दू लज्जा अनुभव करता है। हिन्दू जाति अब तक क्यों जीती है, इस पर यथेष्ट प्रकाश आगामी परिच्छेद में डाला गया है।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि वैश्यों तथा शूद्रों को सदा दबाए रखने के लिए ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच गुट्ट-बन्दी हो गई थी। यह

ब्राह्मण-क्षत्रिय-गुट्ट का अन्योन्य प्रशंसा-गान

ब्राह्मण-क्षत्रिय-गुट्ट अपने नग्नरूप में तब देख पड़ता है जब हम पुराणों तथा इतिहास-ग्रन्थों के पढ़ने, जो इन दोनों जातियों के ही अन्योन्य-प्रशंसा गान से भरे हैं, उलटे हैं। यदि कहीं वैश्य-शूद्रों का

उल्लेख हुआ भी है तो केवल घृणा-व्यंजक शब्दों में ही। ये दोनों जातियाँ ऐसी हीनावस्था में रखी गईं कि ये किसी प्रशंसात्मक उल्लेख के योग्य हो ही न सके। एक और भी बात ध्यान देने योग्य है। विष्णु के जितने नरावतार हुए वे केवल ब्राह्मण-क्षत्रियों की ही जाति में हुए। वैश्य-शूद्रों की जाति में एक भी नहीं। वैश्य-शूद्रों के घर कोई अवतार होने ही क्यों लगे ? वे तो इस प्रकार पद-दलित कर दिए गए थे तथा वे इस हीन परिस्थित में जबर्दस्ती रखे गए थे कि उनमें से किसी को भी शक्तिशाली बनने की सुविधा ही नहीं मिली। ब्राह्मणी धारणा के अनुसार, जैसा कि हम पुराणों में लिखा पाते हैं, वेदों तथा ब्राह्मणों की ही रक्षा के निमित्त विष्णु के अवतार हुआ करते हैं। पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि वेदों की धज्जियाँ उड़ाने तथा ब्राह्मण जाति की जड़ खोदने वाले भी कपिलवस्तु के क्षत्रिय राजकुमार सिद्धार्थ बौद्धावतार के नाम से विष्णु के प्रधान दशावतारों में परिगणित हो गए। यदि वे किसी ब्राह्मण-क्षत्रिय-भिन्न जाति के होते तो उन्हें ब्राह्मणों द्वारा राक्षसाधम की उपाधि अवश्य मिली होती। पर वे अपने गुट्ट के आदमी थे; अतः ब्राह्मणों तथा वैदिक धर्म के कट्टर शत्रु होने पर भी अवतार की उपाधि से सम्मानित किए गए। ब्राह्मणों ने उनके धर्म का बहिष्कार किया सही; पर उनके व्यक्तित्व का सम्मान किया। यह गुट्टबन्दी यहाँ तक प्रबल है।

बौद्धकाल तथा जैन-काल

शुद्ध ब्राह्मणी शासनकाल में, जब शासन-कार्य स्मृतियों के अनुसार चल रहा था, वैश्यों और शूद्रों की जो दुर्गति थी उसकी झाँकी पाठकों ने कर ली। उस काल में वे एक कठोर नियंत्रण में रखे जाने के कारण फूलने-फलने को कौन कहे, पनपने तक भी न पाए। पर जब बौद्ध-काल तथा जैन-काल आए तो इन बेचारों

को साँस लेने का अवसर मिला। बौद्ध धर्म जाति-भेद का कट्टर विरोधी था तथा ब्राह्मणों एवं वैदिक धर्म को मानो जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए पैदा हुआ था। इसने मनुष्य मात्र को अपनी इच्छानुसार सब प्रकार की उन्नति करने का समान अधिकार दे दिया। उन्नति के मार्ग में जाति-पाँति की कोई क़ैद न रही। वैश्य-शूद्र को ब्राह्मण-क्षत्रिय के द्वारा यज्ञादि का बहाना करके लूटे जाने का डर जाता रहा। स्मार्त्त-शासन ताक़ पर रख दिया गया। बौद्ध-धर्म प्रबल धर्म हो गया। वैदिक-धर्म का धीरे-धीरे ह्रास होता गया। हिन्दू जाति में फूट फैलाकर उनमें परस्पर भ्रातृ-भाव का उच्छेद करने वाले "ब्राह्मणोऽस्यमुख मासीत्" आदि जैसे वेद-वाक्यों का प्रभाव जाता रहा। उस काल में क्षत्रियों का प्रायः अभाव-सा हो गया था, जिनके बल पर ब्राह्मण उछल-कूद किया करते थे तथा अपनी मान-मर्यादा को इस प्रकार नष्ट होते देख ये लोग बौद्ध-धर्म पर गृद्ध-दृष्टि लगाए बैठे थे, पर इनका वश कुछ भी न चलता था। इस धार्मिक क्रान्ति का यह फल हुआ कि देश में कितने धन-कुबेर श्रेष्ठि कुलों का प्रादुर्भाव हुआ जिनकी प्रशंसा से बौद्धों तथा जैनियों के ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इतना ही नहीं; बल्कि नन्द, मौर्य आदि शूद्रवंशीय तथा गुप्त, वर्द्धन आदि वैश्यवंशीय सम्राट् भी इसी बौद्ध धर्म के दौरा काल (ई० पू० ५००—ईसाब्द ५००) में वा उसके आस-पास ही उत्पन्न हुए। बौद्ध काल में राजा लोग भी बौद्ध हो गए थे अथवा नहीं तो वे कम से कम उस धर्म से प्रभावित तो अवश्य हो रहे थे, जो हमारे भूदेवों के दिल में अखर रहा था। इसी कारण उस काल में बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच घोर संघर्ष चल रहा था। बौद्ध-धर्म ने जाति-भेद को उठाकर सभी श्रेणियों के लोगों के लिए उन्नति का द्वार खोल दिया था। इस कारण ब्राह्मणी शिकंजे तथा तज्जन्य सामाजिक अत्याचारों से त्राण पाने के लिए बौद्ध-धर्म में

दीक्षा लेने वालों का ताँता बँध गया। हिन्दू जनता का विपुल भाग ब्राह्मणी फ़न्दे से भागकर बौद्ध-धर्म में जा मिला। ठीक वैसे ही अवस्था उत्पन्न हो गई थी जैसी कि मुस्लिम काल में असंख्य लोगों के मुस्लिम धर्म में चले जाने पर हुई थी और वर्त्तमान ब्रिटिश काल में बहुसंख्यक लोगों के ईसाई धर्म में जा मिलने के कारण हो रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण अत्यन्त भयभीत हुए। उन्हें इस आतंक ने धर दबाया कि कहीं उनके सभी चेले बौद्ध हो गए तो 'धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का', वे इस कहावत को चरितार्थ करते हुए कहीं के न रह जाएँगे। उनका सारा जातीय अभिमान और निःशेष जातीय गौरव मिट्टी में मिल जायगा। अतः इस बौद्ध-विभीषिका ने उन्हें अपने शासन की बागडोर आवश्यकतानुसार ढीली करने, और उन विविध सामाजिक प्रतिबन्धों को, जिनके नीचे दबकर वैश्य और शूद्र कराह रहे थे, वापस लेने के लिए विवश किया। बौद्धों के साथ इस प्रतिद्वन्द्विता में विजय प्राप्त करने की अभिलाषा ब्राह्मणों के हृदय में इतनी उत्कट और प्रबल हो उठी कि उन्होंने कतिपय विदेशी बर्बर जातियों एवं इस देश के अनेक आदिम अनार्य जातियों को भी, जैसा कि पहले लिखा गया है, राजपूत-संज्ञा धारी क्षत्रिय बना, उन्हें बौद्ध राजाओं के साथ एक धार्मिक युद्ध (Crusade) में भिड़ा दिया। इसका कारण यह था कि भारत की प्राचीन सूर्यवंशीय तथा चन्द्रवंशीय क्षत्रिय जाति का कुरुक्षेत्र और प्रभास की घरेलू लड़ाइयों में प्रायः सर्वनाश हो चुका था और जो कुछ क्षत्रिय भाग्यवश बच गए थे उनका भी धीरे-धीरे ह्रास हो रहा था और उनमें से अधिकांश बौद्ध-धर्म में जा मिले थे जिससे ब्राह्मणों को वैदिक-धर्म की रक्षा के लिए एक नवीन, वीर, उत्साही तथा अपनी भक्त क्षत्रिय जाति को उत्पन्न करने की ज़रूरत पड़ गई थी और इस नवीन क्षत्रिय जाति ने भी ब्राह्मणों के

प्रति अपने ऋण को, बौद्ध राजाओं का, जो बौद्ध-धर्म के पृष्ठपोषक और संरक्षक थे, समूलोत्पाटनकर तथा नवीन (पौराणिक) हिन्दू-धर्म की स्थापना में सहायता पहुँचाकर, पूरी तरह से चुका दिया। यह छीना-झपटी का जमाना था। ब्राह्मणों ने भी अपने शासन की कठोरता इसी कारण कुछ ढीली कर दी। बौद्धों की देखा-देखी उन्होंने भी विदेश-यात्रा तथा समुद्र-यात्रा-सम्बन्धी प्रतिबन्ध उठा लिया जिसका फल यह हुआ कि भारत के वैश्यगण पूर्व में जावा, बाली, सुमात्रा, जापान आदि द्वीपों में और पश्चिम में ईरान, फिनीशिया, मिस्र आदि विदेशों में बड़ी-बड़ी नावों के द्वारा, जिन्हें हम उस काल के जहाज कह सकते हैं, व्यापारकर मालोमाल हो गए। ब्राह्मणों ने वैश्यों के साथ इतनी उदारता दिखाई उन्होंने समुद्रगुप्त आदि वैश्य-सम्राटों के हाथ भी अश्वमेध यज्ञ तक, जिसके अधिकारी वे वैश्य होने के कारण कदापि न थे, करवाया। इस भय से कि कहीं वैश्य शूद्र बौद्धों में न जा मिलें, ब्राह्मणों ने उन लोगों के प्रति उसी नीति को अख्तियार किया जिसका अनुसरण वर्त्तमान काल में उच्च जाति के हिन्दू नेतागण स्वराज्य-संग्राम में अछूतों को अपने में मिलाने के लिए कर रहे हैं। अतः अछूत भाइयों को सावधान रहना चाहिए कि जैसे ब्राह्मण लोग बौद्धों तथा बौद्ध-धर्म का समूलोच्छेद कर देने के बाद वैश्य-शूद्रों के प्रति फिर वही पुरानी चाल चलने लगे, ठीक उसी प्रकार कहीं ऐसा न हो कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद उच्च मन्यहिन्दू अछूतों को पुनः उसी गर्त में ढकेल दें; क्योंकि काम निकाल लेने के बाद कौन किसको पूछता है।

बौद्ध काल का और हाल सुनिए। उस काल में भारतीय व्यापारियों के अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुओं ने भी तिब्बत, चीन, मंगोलिया, मंचूरिया, जापान, मलाया द्वीप-पुञ्ज, सिंहल आदि विदेशों और द्वीपों में जाकर बौद्ध-धर्म का प्रचार किया; जिससे भारत का सम्पर्क

विदेशों के साथ दिन-दिन बढ़ता गया और विदेशी आक्रमण-कारियों का ध्यान इस देश के अतुल वैभव के प्रति आकृष्ट हुआ। निदान इस ब्राह्मण-बौद्ध-संघर्ष का अन्तिम फल यह हुआ कि बौद्ध-धर्म अपनी पुण्य जन्म-भूमि भारत से निकाल बाहर किया गया और हिन्दू जाति के पुराने कोढ़ जाति-भेद के परिपोषक ब्राह्मणी धर्म, जिसका जड़ बौद्ध-धर्म की प्रचंड चोटों के कारण हिलकर उखड़ने-उखड़ने हो गई थी, अपने पूरी शक्ति के साथ एक सुदृढ़ नींव पर पुनः स्थापित हो गई तथा ब्राह्मणों ने उन सभी लोगों को, जिन्होंने वर्ण व्यवस्था का उल्लंघनकर बौद्ध-धर्म की दीक्षा कबूल कर ली थी, उनके धन्धों के आधार पर विविध जातियों में विभक्तकर, पुराणों तथा स्मृतियों में उन्हें वर्णसंकर करार देते हुए एक भयंकर प्रतिशोध के द्वारा अपने जले दिल की आग ठंढी की।

मैं भारत के बड़े-बड़े हिन्दू लीडरों तथा धर्मोपदेशकों को सभा-सोसाइटियों के अधिवेशनों में भारत की प्राचीन स्वतंत्रता का राग अलापते तथा उसकी वर्त्तमान पराधीनता पर विलाप करते देखा करता हूँ और देखकर उनकी अज्ञता पर मुझे तरस आया करता है। संभवत: किसी देश की स्वतंत्रता और वहाँ की प्रजा की स्वतंत्रता, ये दोनों दो भिन्न वस्तु हैं, यह उन्हें मालूम नहीं। किसी देश की स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि वह किसी विदेशी शक्ति के अधीन नहीं है; और वहाँ की प्रजा की स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि वहाँ की सारी प्रजा बिना किसी भेद-भाव के अपने देश के शासन-निर्माण में तुल्य अधिकार रखती है तथा उसके अन्य अधिकार भी जैसे धार्मिक, सामाजिक आदि तुल्य ही हैं। पर जिस देश में प्रजा का वर्ग-विशेष प्रबल होने के कारण अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए एक मनमाना शासन किसी निर्बल वर्ग-विशेष पर लादा करता है, वहाँ की प्रजा यथार्थ में

भारत की तथाकथित स्वतंत्रता

स्वतंत्र नहीं कही जा सकती। ठीक यही दशा भारत की भी जाननी चाहिए। यद्यपि प्राचीन काल में भारत विदेशियों के अधीन नहीं था; पर यहाँ की प्रजा स्वतंत्र न थी। यहाँ जैसा मैं पहले कह आया हूँ, ब्राह्मण-क्षत्रियों का गुट्ट वैश्य-शूद्रों को अपने मनमाने शासन की चक्की में अहनिश पीस रहा था। अतः इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि प्राचीन भारत की स्वतंत्रता केवल ब्राह्मण-क्षत्रियों की ही स्वतंत्रता थी; वैश्य-शूद्रों को नहीं। और उसकी स्वतंत्रता के छिन जाने का अर्थ है केवल ब्राह्मण-क्षत्रियों की स्वतंत्रता छिन जाना। इसके साथ मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि हमने अपनी प्राचीन स्वतंत्रता का उपार्जन अपने बाहु-बल से नहीं किया था और न तो इसकी रक्षा ही अपने बाहु-बल से कर रहे थे। प्रत्युत हमारे देश की यह स्वतंत्रता प्रकृति की देन थी और इसकी परिरक्षिका भी वही थी। उत्तर दिशा में शैलाधिराज हिमालय तनकर खड़े एक निर्भीक प्रहरी की तरह अपने सुविशाल स्कन्धस्थल पर संगीन-सज्जित बन्दूकों के समान धवलागिरि-कंचनजंघा, आदि गगन-चुंबी नुकीले शृंगों को रख, एवं देश की पश्चिमोत्तर तथा पूर्वोत्तर सीमाओं की ओर, अपने दहने और बाएँ, अन्य गिरि-श्रेणियों के रूप में अपनी विशाल बाहों से हमारी रक्षा कर रहा था। शेष सभी ओर उत्ताल तरंग तथा अथाह महोदधि एक विपुल-विस्तार तथा अलंघनीय दुर्ग-परिखा बनकर हमारे शत्रुओं का मार्ग रोके हिलोरें ले रहा था। इस प्राकृतिक प्राचीर के भीतर हम निरापद रहकर महाकूप-मण्डूकों की तरह टर्र-टर्र के आलाप से चैन की बंशी बजा-बजाकर उछल-कूद कर रहे थे और इस प्रकार आनंद-विभोर हो रहे थे कि हमें इस बात की तनिक भी छनक न थी कि हमारे विदेशी शत्रु काले नाग की तरह हम पर वार करने और हमें जीवित निगल जाने की फ़िराक में चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। हम इसी

मद से उन्मत्त हो रहे थे कि संसार में हमारी जैसी सभ्य, सुसंस्कृत, विक्रमशाली एवं विद्या-बुद्धि-सम्पन्न और समृद्ध कोई दूसरी जाति है ही नहीं, जिसका हमें डर हो। गूलर-कृमि के समान हम बाहरी दुनिया से इतने बेखबर थे कि हमें पता न था कि सभ्यता के कतिपय अंशों में हमसे भी अधिक समुन्नत जातियाँ, जैसे मिस्री (Egyptians), चीनी (Chinese), असुर (Assyrians), बाबुली (Babylonians) आदि जिनकी उत्कट सभ्यता की कीर्त्ति गाथा आज भी गा-गाकर स्फिंकस् (Sphinx) पिरैमिड (Pyramids), लटकते हुए बाग़ (Hanging Gardens), विशाल दीवार (The Great Wall) आदि सप्ताश्चर्यों (Seven Wonders) के भग्नावशेष दिग-दिगन्तों को मुखरित कर रहे हैं, धरातल में मौजूद हैं। हमारी स्वार्थमयी संस्कृति तथा अन्तःसारशून्य सभ्यता का पर्दाफ़ाश तब हुआ और हमारी जाति-भेदात्मक ज़हरीली सामाजिक संस्था के दारुण-परिणाम तब अनुभूत हुए जब विदेशी आक्रमणकारियों के धरणी देवी के वक्षःस्थल को अपने तुमुल नाद से कँपा देने वाले नगाड़े खैबर और बोलन जैसे हमारे सिंहद्वार के फाटकों पर गड़गड़ाने लगे और हमें अपने चिरसंचित पापों को परिणाम-स्वरूप शत्रुओं के सन्मुख मुँह की खानी पड़ी।

भारत की पराधीनता का मुख्य कारण वर्ण-व्यवस्था है

भारत की परतंत्रता का मुख्य कारण हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था हुई, यह ऊपर कह आया हूँ। अब उसी की यहाँ पर व्याख्या करता हूँ। वर्ण-व्यवस्था ने एक जाति का काम दूसरी जाति को सीखने नहीं दिया। वैश्यों और शूद्रों पर तो मनु ने पहले ही "यो लोभादधमोजात्या" वाला कानून पासकर उन्हें एक प्रकार से हथियार-कानून (Arms Act) के शिकंजे में जकड़ दिया जिससे वे युद्ध-शिक्षा से बिल्कुल वंचित रह गए।

शेष बचे ब्राह्मण और क्षत्रिय। इनमें हमारे महीदेवों को क्या पड़ा था कि वे यजमानों के तथाकथित कल्याणार्थ सदा पूजा-पाठ में निरत रहने का ढोंग रचकर 'परमुंडे फलाहार' वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए मोहनभोग का भोग लगाना छोड़ दें और शास्त्र-सम्मत तथा देश-रक्षार्थ आपद्धर्म-स्वरूप युद्ध-विद्या सीखकर अपनी मातृ-भूमि की स्वातंत्र्य-रक्षा में क्षत्रियों के साथ हाथ बटावें और इस प्रकार अपनी जान जोखम में डालें? उनके अपने 'स्वराज्य' में तो किसी भी विघ्न-बाधा की आशंका न थी! फल यह हुआ कि देश-रक्षा के निमित्त ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र, अथवा यों कहिए कि हिन्दू जनता के कम से कम तीन चतुर्थांश, पूरे निकम्मे सिद्ध हुए। केवल क्षत्रियों से, जो हिन्दू धर्मशास्त्रानुसार सैनिक शिक्षा के असली अधिकारी थे, देश की रक्षा न हो सकी; विशेषकर ऐसे क्षत्रियों से जो परस्पर सदा लड़ा करते थे और जिन्होंने विदेशों में जाकर वहाँ की समुन्नत युद्ध-कला को सीखने का कष्ट कभी न उठाया और जो बराबर अपने यहाँ की युद्ध-विद्या-सम्बन्धी पुरानी लकीर के फ़क़ीर बने रहे। ऐतिहासिक काल में भारत पर सबसे पहली मार निनेवा की रानी सेमिरैमिस् के हाथों पड़ी। तत्पश्चात् उसे फ़ारस के बादशाह दारा की, और दारा के बाद यूनान के बादशाह सिकन्दर की मार पुनः खानी पड़ी। इन जगद्विख्यात विजेताओं के अतिरिक्त न मालूम कितनी यूनानी, शक, हूण, कुशान आदि बर्बर जातियों ने यहाँ आकर अपने-अपने अड्डे जमाए और सबके अन्त में हिन्दू-शासन का अन्त करने वाले मुसलमानों के शुभ दर्शन हुए। इन सभी आक्रमणकारियों के आक्रमण-वृत्तान्तों से हम कौन-सी बात सीखते हैं? यही कि उनके लिए केवल यहाँ के क्षत्रियों पर ही विजय प्राप्त करना मानो देशमात्र पर अपना प्रभुत्व जमा लेना था। रण-भूमि में जहाँ विदेशी शत्रुओं ने वीर क्षत्रियों

को पछाड़ा कि देश की स्वतंत्रता का किस्सा तमाम हुआ। फिर प्रबल शत्रुओं के उमड़ते हुए ज्वार को रोकने वाला ही कौन था? अन्य सभी जातियाँ सैनिक-शिक्षा से वंचित रहने के कारण निहत्थी हो रही थी। फलतः शत्रुओं के लिए शहर के शहर तथा गाँव के गाँव जलाकर भस्म करते और वहाँ की निरीह तथा निरस्त्र प्रजा को मूक पशुओं की तरह तलवार के घाट उतारते और उनका सर्वस्व अपहरण करते हुए तमाम देश को रौंद डालना बाएँ हाथ का खेल हो गया था। हमारा इतिहास हमें बतला रहा है कि जब-जब विदेशियों के साथ हमारी मुठ-भेड़ हुई, तब-तब हमें नीचा देखना पड़ा। यदि एकाध बार हमारे मुँह की लाली रह भी गई, तो वह पुआल के खलिहान में अन्न के दो-चार दानों के सिवा और कुछ नहीं, जो गणना योग्य समझी जाए। क्या हमारा भी सौभाग्य कभी ऐसा हुआ कि हमने भी अपने देश की चहारदिवारी नाँघकर विदेश में अपना प्रभुत्व जमाया? इस प्रश्न के उत्तर में इतिहास के मुँह से बारबार नकार ही निकलता है। हममें से कितने महाशय यह कहकर सब्र कर लेते हैं; पर सच पूछिए तो वे इस बात से अपनी लज्जापूर्ण अयोग्यता छिपाने का प्रयत्न करते हैं कि भाई, हिन्दू एक धर्मपरायण जाति है जिसका एकमात्र लक्ष्य रही है आध्यात्मिक उन्नति, न कि भौतिक। अतः भौतिक उन्नति के पीछे पागल बने हुए विदेशी लुटेरों के सामने वह खड़ी न रह सकी। पर पाठकवृन्द! हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि महासन्त की सी ये बातें उन मायावियों की हैं जिन्होंने अपने भाइयों का सर्वस्व लूटकर और उनकी भौतिक, आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार की उन्नतियों का रास्ता रोककर उनके गले में गुलामी का तवक सदा के लिए डाल दिया है। उनकी ये बातें 'खट्टे अंगूर'' की सी लगती हैं।

भारत के नामी-गिरामी हिन्दू नेताओं की सम्मतियों का

उल्लेखकर मैंने यह बात दिखा दी है कि उन सभी लोगों ने भारत की पराधीनता का मुख्य कारण जाति-भेद तथा वर्ण-व्यवस्था ही को माना है तथा मैंने अभी इस कारण की व्याख्या भी कर दी है। पर कितने वर्णाश्रमधर्म के हिमायती उक्त घोर सत्य का सामना करने में अपनी असमर्थता छिपाते हुए यह कहा करते हैं कि भारत की परतंत्रता का मुख्य कारण बौद्धों का अहिंसावाद था।

भारत की पराधीनता का कारण

बौद्ध-धर्म का अहिंसावाद न था

उनकी दलील है कि बुद्ध-धर्म के अहिंसावाद ने भारतवर्ष को हिंसा के भय से युद्ध-विमुख तथा सैनिक-शिक्षा-विहीन बना दिया जिससे उसकी लड़ाकू प्रवृत्ति का ह्रास हुआ और वह विदेशी शत्रुओं का सामना न कर सका। इसीको कहते हैं, 'खेत खाए गदहा, मार खाए जोलाहा'; क्योंकि भारत का इतिहास उक्त दलील का समर्थन नहीं करता। बल्कि उसकी गवाही ठीक इस दलील के प्रतिकूल है। सच पूछिए तो भारतीय इतिहास का सबसे अधिक समुज्ज्वल अंश बौद्ध काल में ही पड़ता है। उसी काल में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र, कनिष्क, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, हर्षवर्द्धन, पुलिकेशिन आदि बड़े-बड़े सम्राट् हुए जिन्होंने भारतवर्ष के राजनैतिक रंगमंच पर अपने असाधारण अभिनय के द्वारा अपनी कीर्त्ति को अजर और अमर कर दिया। जिस गुप्त-काल को हम भारत का सुवर्ण-युग बतलाकर मारे आनन्द और अभिमान के फूले नहीं समाते वह बौद्ध-काल के ही अन्तर्गत है। बौद्ध-धर्म अहिंसावादी था जरूर; पर विदेशी शत्रुओं से अपने देश की रक्षा करने, दुष्टों को दण्ड देने तथा आततायियों को तलवार के घाट उतारने में वह कभी विमुख नहीं हुआ। ऐसे-ऐसे अवसरों पर हिंसा को हिंसा नहीं; बल्कि, परम धर्म समझता था। भारत में अशोक,

कनिष्क, हर्षवर्द्धन आदि बड़े-बड़े बौद्ध सम्राट् हो गए हैं, जिनके पास नानाविधि अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित अतः दुर्द्धर्ष विशाल सेनाएँ थीं। आखिर अहिंसा व्रतधारी इन बौद्ध सम्राटों का हिंसापरायण सेनाएँ रखना कौनसा अर्थ रखता था? यही कि ये बौद्ध सम्राट् अपने धर्म तथा साम्राज्य की रक्षा के निमित्त स्वदेश पर आक्रमणकारी शत्रुओं का मूलोच्छेद करना अपना कर्त्तव्य समझते थे जो बिना हिंसा का आश्रय लिए नहीं हो सकता था। इनकी सेनाएँ केवल परिच्छद मात्र न थीं। माना कि ये स्वयं आक्रमणकर किसी दूसरे को हानि पहुँचाना नहीं चाहते थे; पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ये अपने धर्म तथा राज्य की रक्षा में खून की नदियाँ बहाने के लिए तैयार न थे। हमें बौद्ध धर्मग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि अहिंसा-धर्म पर इसी प्रकार की शंका वैशाली राज्य के सेनापति सिंह ने गौतम बुद्ध के पास आकर की थी और उन्होंने जिस खूबी के साथ सिंह की शंकाओं का समाधान किया था वह पढ़ने तथा मनन करने योग्य है।

सिंह ने पूछा कि क्या भगवान् तथागत, जो असीम दया का उपदेश देते हैं और सब दुखियों के प्रति करुणा का भाव सिखाते हैं, अपराधी को दंड देने की आज्ञा देते हैं? क्या भगवान् तथागत का यह उपदेश है कि हम अपने घर, स्त्री, बच्चे और अपनी जायदाद की रक्षा हेतु युद्ध न करें? क्या हमें अत्याचारियों के अत्याचारों को चुपचाप सहकर उसकी अधीनता दीनतापूर्वक मान लेना चाहिए? क्या श्री तथागत यह सिद्धान्त रखते हैं कि सब प्रकार के युद्ध, जिनमें सत्य और न्याय के लिए युद्ध करना भी शामिल हो, मना हैं?

गौतम बुद्ध ने उत्तर दिया कि जो दंड का पात्र है उसे दंड और जो पुरस्कार का पात्र है उसे पुरस्कार अवश्य मिलना चाहिए। अपराधी को जो दंड मिलता है उसका कारण अधिकारी की बदनीयती नहीं है; बल्कि उसका कारण खुद अपराधी का अपराध है। हाकिम

तो केवल कानून की आज्ञा का पालन करता है; अतः वह हिंसा का भागी नहीं होता। जो मनुष्य सत्य और न्याय की रक्षा में युद्ध करता है वह दोषी कदापि नहीं है। यदि शान्ति रखने के सभी उपाय असफल हो गए हों तो युद्ध का दोषी वही होता है जो उसका कारण है। शैतानी ताकतों के सामने कभी भी आत्म-समर्पण नहीं करना चाहिए। संग्राम होना चाहिए ज़रूर पर किसी निजी स्वार्थ के लिए नहीं। वह जो स्वार्थ के लिए युद्ध करता है ताकि वह सबसे महान्, शक्तिशाली, धनवान् या प्रसिद्ध हो जाए, पुरस्कार का पात्र नहीं होता। पुरस्कार का पात्र तो वह होता है जो सत्य और न्याय के लिए युद्ध करता है; क्योंकि उसकी पराजय भी विजय समझी जाएगी। रणक्षेत्र में जाने वाले वीर अपनी जान हथेली पर रखकर ही वहाँ जाते हैं। अतः यदि वे वहाँ पर वीर-गति को प्राप्त हो जाएँ तो उन्हें किसी प्रकार की शिकायत नहीं करनी चाहिए। शत्रु को रण-भूमि में पछाड़ने से ही स्थायी विजय नहीं प्राप्त होती। स्थायी विजय तो तब मिलती है जब गिरे हुए शत्रु को प्रेमपूर्वक उठाकर उसके साथ भ्रातृत्व स्थापित कर लिया जाए। जिसने अपने आपको जीत लिया है वह किसी विजयी सेनापति से भी महान् है।

क्या गौतम बुद्ध के उक्त समाधान से यह बात स्पष्ट नहीं हो जाती कि बौद्ध लोग अहिंसा-व्रत को परमधर्म मानते थे ज़रूर; पर देश की स्वातंत्र्य-रक्षा के निमित्त किए जाने वाले हिंसात्मक युद्ध से कभी उन्होंने अपना मुँह नहीं मोड़ा। वर्त्तमान काल में तिब्बत, चीन, जापान आदि बौद्ध राष्ट्र हैं जो आज भी स्वतंत्र हैं तथा जो अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए खून की नदियाँ बहा रहे हैं। यह देख विद्वानों की तो यह सम्मति है कि यदि भारत बौद्ध-धर्म को अपनाए रहता, तो वह विदेशियों द्वारा इस प्रकार पददलित नहीं होता। उसकी पराधीनता का मुख्य कारण बौद्ध-धर्म का

परित्याग तथा नवीन हिन्दू धर्म (पौराणिक धर्म) का अंगीकार करना था, जिसने वर्णाश्रमधर्म के पहले से भी अधिक कट्टर रूप में चलाकर हिन्दुओं में परस्पर फूट का वह बीज बो दिया जिससे वे विदेशी शत्रुओं का सम्मिलित मुकाबला न कर सके। भारत में हिन्दू-शासन का सर्वप्रथम अन्त करने वाले मुसलमान हैं। मुस्लिम-विजय काल से ही भारत के पराधीनता-काल का प्रारम्भ माना जाता है। मुसलमानों ने भारतवर्ष को किससे छीना? बौद्धों से या वर्णाश्रमी हिन्दुओं से? क्या सिन्ध-नरेश दाहिर, जिसके हाथ से मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध छीना था, कोई बौद्ध राजा था? क्या शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को बुलाने वाला कन्नौज-पति जयचन्द बौद्ध धर्मावलम्बी था? क्या दिल्लीश्वर पृथ्वीराज, जिसे गोरी के सामने परास्त होना पड़ा, अहिंसा व्रत-धारी था? क्या नदिया का राजा लक्ष्मणसेन, जो कुतुबुद्दीन के सेनापति बख्तियार खिल्जी का नाम सुनते ही और बिना उससे लड़े ही अपने महल के पिछवाड़े के द्वार से चुपके से दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ, कोई कायर बौद्ध-भिक्षु था? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठ सकते हैं जिनका उत्तर पाठकों को भली भाँति बता देगा कि भारत को विदेशियों के हाथ बेंचने वाले अहिंसावादी तथा समर-विमुख बौद्ध न थे; अपितु बड़े ही रण-बाँकुरे तथा हथेली पर अपनी जान रखकर जूझ जाने वाले राजपूत जैसे कट्टर वर्णाश्रमी हिन्दू थे, जो स्वयं ही बौद्धों का उच्छेद करने में ब्राह्मणों का दहना हाथ हुए थे। स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्र दत्त अपनी पुस्तक Civilization in Ancient India, Vol. II, Book V, Chap. III, पृष्ठ १६५ में लिखते हैं—Like all new converts, they were fired with an excessive zeal to revive the religion they embraced. The Brahmans worked on the

zeal of the new race of Kshatryas, and the Chohan and the Rathore vindicated their claims to be regarded as Kshatryas by establishing the supremacy of the Brahmins.

अर्थ—सभी नये चेलों की तरह वे (राजपूत) स्वगृहीत धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए मारे जोश के प्रज्वलित हो गए थे। ब्राह्मणों ने इन नए क्षत्रियों के जोश पर काम किया और चौहानों तथा राठौरों ने अपने क्षत्रिय समझे जाने के दावे को ब्राह्मणों की प्रधानता स्थापितकर सच्चा सिद्ध कर दिया।

दूसरे की कीर्त्ति छीनना

और भी सुनिये। हिन्दू जिस प्रकार अपना दोष दूसरों के मत्थे मढ़ देने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार वे दूसरों की कीर्त्ति को छीन-कर उससे स्वयं कीर्त्तिमान् बन जाना भी चाहते हैं। जैसे भारत की गुलामी का मूल कारण वे अपनी ही गलती का होना न स्वीकारकर बौद्धों की गलती बताते हैं जिसका खंडन मैं अभी पूर्व में कर आया हूँ। यह तो हुआ उनकी पहले प्रकार की मनोवृत्ति का उदाहरण। अब उनके दूसरे प्रकार की मनोवृत्ति के उदाहरण लीजिए—

इसके उदाहरण

किसी ने पेरू (दक्षिण अमेरिका) में सूर्यदेव के मन्दिर का भग्नावशेष अभी तक पाए जाने का एक संदिग्ध लेख 'हार्पर्स' में पढ़कर उक्त महादेश के पता लगाने का श्रेय कोलम्बस से छीनकर उसे प्राचीन हिन्दुओं तथा बौद्धों को देना चाहा तो, किसी ने कोपरनिकस (Copernicus), गैलीलियो (Galileo), न्यूटन (Newton)

आदि यूरोपीय ज्योतिर्विदों के द्वारा आविष्कृत तथा प्रचारित सूर्य केन्द्रक ज्यौतिष (Helio-centric Astronomy) वेद मंत्रों से सिद्ध करने का बीड़ा उठाया, तथा अन्यों ने पौराणिक कथानुसार सूर्यदेव के रथ में जुते हुए घोड़ों की संख्या के बल पर सूर्य की रोशनी में सात प्रकार के रंगों का पता पहले-पहल हिन्दुओं के ही द्वारा लगाए जाने की डींग हाँकी। एक हिन्दी दैनिक में मैंने यह भी लिखा पाया कि परमाणु वज्र (Atom Bomb) का उल्लेख वेदों में भी आया है। खोज करने पर कितने और भी उदाहरण मिलेंगे जहाँ हिन्दुओं ने दूसरों की कीर्त्ति हड़प जाने का कुत्सित प्रयत्न किया है।

क्या मैं इस प्रकार अनर्गल प्रलाप करने वाले लाल बुझक्कड़ों से पूछ सकता हूँ कि पाश्चात्य विद्वानों ने जब तक उक्त वैज्ञानिक अनुसन्धानों को नहीं किया था तब तक आप लोग किस खर्राटे की नींद सो रहे थे कि आप लोगों के कानों पर उक्त आविष्कारों के सम्बन्ध में जूँ तक नहीं रेंगी; पर ज्योंही विदेशियों ने उक्त तथ्यों का पता लगाया त्यों ही आप लोगों की आखें खुलीं और आप लोग झट लोट-पोटकर उठे और कन्धे की धूलि झाड़कर लगे विदेशियों के साथ उनकी कीर्त्ति छीनने के लिए छीना-झपटी करने। पर हम केवल बातें बनाकर दूसरों की कीर्त्ति नहीं छीन सकते। यदि हमें कीर्त्ति कमानी है तो उसे अपने ही बूते कमानी होगी।

एक पुस्तक के सुयोग्य लेखक ने लिखा है कि प्राचीन हिन्दुओं का चरित्र बहुत ऊँचा होता था इसके सबूत में उन्होंने लिखित मुनि का वृत्तान्त लिखा है, जिन्होंने अपने बड़े भाई संख

मिथ्या आत्म-श्लाघा का खंडन

मुनि के बाग में से उनकी आज्ञा के बिना फल तोड़कर खा लेने के अपराध में स्वयं राजा के पास जाकर दण्ड-स्वरूप अपना हाथ कटवा लिया था। पर

विचारे लेखक जी लिखित का वृत्तान्त लिखते समय द्रोणाचार्य की उस नीचता को भूल गए जिससे प्रेरित होकर उन्होंने एकलव्य का अँगूठा कटवा लिया था।

उक्त लेखक महाशय ने और भी कितनी ही ऊट-पटाँग बातें लिख मारी है। उन्होंने लिखा है कि ईसा अपने माँ-बाप से रूठकर घर से भागा और भारत में आकर बौद्ध धर्म्म को ग्रहण कर लिया। पुनः वह अपने देश में वापस जाकर एक नए धर्म का प्रचार करने लगा जिससे उसकी फाँसी हो गई। पर यदि इसी एक नए धर्म्म का प्रचार करने लगा तो यह कहना सर्वथा फजूल है कि इसाई धर्म्म बौद्ध वा किसी अन्य भारतीय धर्म्म की सामग्रियों से तैयार हुआ है। 'नए धर्म्म को ये शब्द ही लेखक महोदय की मिथ्या धारणा का खंडन कर देते हैं। यों तो दुनिया के सभी धर्म्मों में धम्म के मौलिक तत्त्व, जैसे सत्य बोलना, गुरुजनों की सेवा करना, परोपकार करना, झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, परस्त्री को माँ-बहन समझना आदि, एक से रहते हैं। पर इस समता के कारण उनमें से कोई भी किसी का ऋणी नहीं कहा जा सकता। भेद पड़ता है उनकी मौलिक कल्पनाओं में। जैसे बौद्ध धर्म्म अनीश्वरवादी है; पर इसाई धर्म्म में God the Supreme Soul (परमात्मा), God the Father (पिता ईश्वर) और God the son (पुत्र ईश्वर) ये तीन ईश्वर माने जाते हैं। अतः इसाई धर्म्म का निकास बौद्धधर्म्म से हुआ मानना केवल सत्य को गला घोटना है। इसी प्रकार जैन धर्म्म भी निरीश्वर-वादी है और कीट-पतंग जैसे क्षुद्र जीवों के भी वध से विरत होने का उपदेश देता है। अतः वह इसाई धर्म्म का जन्मदाता नहीं माना जा सकता। दोनों में कुछ भी संबन्ध नहीं है। और हिन्दू (ब्राह्मणी धर्म्म तो और भी निराला है; क्योंकि वह वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद,

छूआ-छूत आदि अनेक विलक्षण प्रथाओं का समर्थक है। वह और इसाई धर्म्म ठीक एक-दूसरे से दोनों ध्रुवों की तरह प्रतिकूल है। अतः उक्त विविध धर्म्मों में इन पारस्परिक भिन्नताओं को देखकर भी इसाई धर्म्म को किसी भी भारतीय धर्म्म की सामग्रियों से तैयार हुआ कहना मानों सत्य के पीछे लट्ठ लेकर दौड़ना है।

विदेशियों की सम्मतियों का खंडन

उक्त लेखक महाशय ने, जब उन्हें अपने यहाँ कोई भी प्रमाण नहीं मिला तो ब्राउन, काउन्ट जेनी, डेलमार, मैक्समूलर, मानियर विलियम्स, वेवर, कोलबुक, एल्बेरूनी, थावो आदि विदेशी विद्वानों की दुहाई देते हुए हिन्दुओं को समस्त संसार को धर्म्म, साहित्य, सभ्यता, चित्रकारी, संग-तराशी, स्थापत्य, आदि विविध कला-कौशल युद्धविद्या, वैद्यक, ज्यौतिस, दर्शन, गणित आदि विविध विद्याएँ सिखाने वाले आदि गुरु होने का डंका पीटा है। भला इस श्वेत झूठ का कहीं ठिकाना है। यदि 'हिन्दू' शब्द से आप का तात्पर्य 'बौद्ध' हो तो यह कुछ अंश में ठीक हो सकता है जैसा कि आगे चलकर देखाया जाएगा। पर यदि 'हिन्दू' शब्द से आप का अभिप्राय 'ब्राह्मणी धर्म्म के अनुयायी' है तो आप का उक्त कथन सरासर ग़लत है। जिन हिन्दुओं की जाति समुद्रयात्रार्थ जहाज पर पैर रखते ही काफ़ूर हो जाती थी; जिन हिन्दुओं ने शूद्र और अछूत संज्ञाधारी अपने करोड़ों देश-भाइयों को अज्ञान के महाअन्धकूप में स्मरणातीत काल से सड़ाते हुए उन पर मनमाना अत्याचार करते आए, उन हिन्दुओं ने विदेशियों को, जिन्हें म्लेच्छ, वर्वर आदि घृणित नामों से पुकारते थे तथा जिनकी परछाईं से भी छुला जाना वे पाप समझते थे, कभी भी कुछ सिखलाया होगा, यह बात मानने योग्य नहीं है। जान पड़ता है कि लेखक महराज

मिस मेयों गोरों की सम्मतियों पर दिलोजान से फ़िदा हो गए हैं। यदि ऐसी बात है तो वे एक गोरी (Miss Mayo) की सम्मतियाँ (Mother India और Slaves of the Gods) भी पढ़कर अपना जीवन क्यों नहीं सफल कर लेते !!!

अथ सप्तम परिच्छेद

विविध विषय ; उपसंहार

"रस्सी जल गई; पर ऐंठन न गई", यह एक प्रसिद्ध हिन्दी कहावत है। ठीक यही हाल हम हिन्दुओं तथा हमारे परमपूज्य गुरु-ब्राह्मणों की है। हिन्दुओं की कोई दुर्गति बाक़ी नहीं रही; तिस पर भी उनका अपना प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति का डींग हाँकना बन्द नहीं होता। हिन्दुओं की यह डींग हाँकना कहाँ तक यथार्थ है, इस पर इस परिच्छेद में विचार किया जाएगा।

हिन्दू जाति का जगद् गुरुत्व खंडन

हम हिन्दुओं का दावा है कि उनकी सभ्यता संसार की अन्य सभी जातियों की सभ्यता की अपेक्षा प्राचीनतम है। हम हिन्दुओं ने ही अपनी सभ्यता के आलोक से अन्य देशों को पहले-पहल आलोकित किया था। जिस समय भू-मंडल की आधुनिक सभ्यताभिमानी जातियों के नग्न-प्राय पूर्वज अपना जीवन पशुवत् व्यतीत करते और गिरि-गह्वरों तथा जंगलों में निवासकर वन्य पशुओं के कच्चे मांस से अपनी क्षुधा शान्त किया करते थे; जिस समय वर्त्तमान सभ्यमन्य यूरोप के आदर्श भूत रोमन (Roman) और यूनानी (Greek) सभ्यता का अभी अंकुर तक न उगने पाया था, उस समय हम हिन्दुओं ने विज्ञान और कला के विविध विभागों में अपनी सूक्ष्मदर्शिता दिखला दी थी। अथवा थोड़े शब्दों में यों कहिए कि हमीं जगत् के आदि गुरु हैं। मनु-स्मृति कहती है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः ॥
मनु० २।२०॥

अर्थ—कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन, ये सब मिलकर ब्रह्मर्षि देश कहलाते हैं। इस ब्रह्मर्षि देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से पृथ्वी के सभी मनुष्य अपन-अपना आचार-व्यवहार सीखें।

इस श्लोक में "पृथिव्यां सर्वमानवाः" (पृथ्वी के सभी मनुष्यों) का उल्लेख होने से ब्राह्मणादि वर्ण-चतुष्टय के अतिरिक्त संसार की म्लेच्छ, बर्बर आदि जातियाँ भी उक्त ब्राह्मणों से अपना-अपना आचार-व्यवहार सीखने की अधिकारिणी बन गईं। पर क्या सच-मुच हमारे ब्राह्मण देवता कभी भी बर्बरों और म्लेच्छों को, यदि वे उनसे सीखने आते तो कुछ सिखलाते ? या कभी भी ये जातियाँ ब्राह्मणों से कुछ सीखने आईं और ब्राह्मणों ने उन्हें कुछ सिखलाया ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर मिलता है—'नहीं'; क्योंकि जिस मनुस्मृति ने ब्राह्मणों को जगद्गुरु के पद पर नियुक्त किया था, जब उसीने 'न शूद्राय मतिंदद्यात्' (मनु ४।८०), 'योह्यस्य धर्म्म माचष्टे' (मनु ४।८१) आदि आर्डिनेंस जारीकर, जैसा कि पहले कहा गया है, उन्हें अपने ही देश-भाई शूद्रों को धर्मादि का उपदेश देने से मना कर दिया, तो यह कब मानने की बात है कि वे अभारतीय आदि विदेशियों को, जिन्हें वे महाअपवित्र मानते तथा म्लेच्छ, बर्बर आदि घृणित संज्ञाओं से याद किया करते थे, कभी कुछ सिखाते या कभी कुछ सिखाया ? जहाँ के भारतमाता की ही सन्तान शूद्रों की यह दशा है, वहाँ विदेशी म्लेच्छों को पूछता ही कौन है ? क्या मनु का ब्राह्मणों को जगद्गुरु के पद पर स्थापित करना उनके महत्त्व की मिथ्या प्रशंसा करना नहीं है ? क्या पृथ्वीमात्र के मनुष्यों के प्रति मनु की उक्त उदारता केवल बनावटी नहीं है ? यथार्थ बात तो यह है कि न

ब्राह्मणों ने विदेशियों को कुछ सिखलाया और न विदेशियों ने यहाँ के ब्राह्मणों से कुछ सीखा और ये दोनों बातें विदेशियों के पक्ष में अच्छी ही हुईं। यदि अन्य देश वाले यहाँ के ब्राह्मणों के चेले हो जाते, तो वे भी आज हिन्दुओं की ही तरह जाति-भेद, छुआछूत, "तीन कनौजिए तेरह चूल्हे" आदि जैसी कुप्रथाओं के दलदल में फँसकर सड़ते रहते। आखिर यह भी तो मालूम होना चाहिए कि ब्राह्मणों ने विदेशियों को सचमुच क्या सिखाया। हम हिन्दुओं और अन्य देश के निवासियों के बीच आचार-विचार-सम्बन्धी आकाश-पाताल का अन्तर प्रत्यक्ष देख पड़ता है। हम अपने मृतकों को जलाते हैं, तो वे गाड़ते हैं। हम शिखा-सूत्र धारण करते हैं, तो वे इनसे अलग रहते हैं। हम वेदों को अपने धर्मग्रन्थ मानते हैं, तो वे उनसे विमुख हैं। हम जाति-भेद, वर्ण-व्यवस्था तथा छूआछूत मानते हैं, तो वे इन्हें नहीं मानते। हम अपने गोत्र-मात्र में विवाह नहीं करते; पर वे स्वगोत्र में क्या, स्वपरिवार में ही विवाह कर लेते हैं। हिन्दू पुनर्जन्म मानते हैं, तो वे उससे इनकार करते हैं। हिन्दू के लिए गो-वध तथा गोमांस निषिद्ध हैं; पर उनके यहाँ दोनों जाएज़ हैं। हिन्दू विदेश-यात्रा करने से जातिच्युत तथा धर्मच्युत हो जाता है जिसके लिए उसको प्रायश्चित करना पड़ता है; पर अन्य देशवाले भूमंडल में तमाम घूम आने पर भी स्वधर्मच्युत अथवा स्वसमाज से बहिष्कृत नहीं होते। क्या ये भिन्नताएँ इस बात के पक्के प्रमाण नहीं हैं कि विदेशियों की सभ्यता और संस्कृति स्वतंत्र तथा मौलिक हैं। उनके लिए वे हिन्दुओं के ऋणी कदापि नहीं हैं। और ब्राह्मणों ने जो उन्हें कुछ सिखलाया नहीं सो उनके लिए अच्छा ही हुआ।

कितने हमारे हिन्दू भाई उक्त आत्मश्लाघा की बात को कुछ घुमा-फिराकर यों कहा करते हैं कि भले ही ब्राह्मण जाति का जगद्-गुरु होने का दावा निर्मूल हो; पर कम से कम यह तो मानना ही

पड़ेगा कि भारत के बौद्ध भिक्षुओं ने ही संसार के एक तिहाई भाग को धर्म और ज्ञान के आलोक से आलोकित किया है; अतः बुद्धदेव की पुण्य जन्म-भूमि भारत संसार के उक्त तिहाई भाग का गुरु अवश्य है। पर प्रश्न यह है कि बौद्ध धर्म यदि एक उत्तम धर्म था, तो भारत ने उसे बुरा समझकर उसका बहिष्कार क्यों किया ? और यदि वह सचमुच एक बुरा धर्म था, तो उसने दूसरों को उसमें क्यों फँसाया ? दोनों ही हालतों में भारत का आचरण नितान्त गर्हित है। पहली हालत में वह अच्छी वस्तुओं से घृणा करने वाला अतः दुष्ट और दूसरी हालत में दूसरों को गुमराह करने वाला, अतः वञ्चक सिद्ध होता है। चाहे किसी भी दृष्टिकोण से विचार कीजिए, भारत का जगद्गुरु होने का दावा करना केवल उसकी निर्लज्जता है। जिस वस्तु को अवांछनीय समझकर उसने स्वयं ठुकरा दिया, उस वस्तु का दूसरों में प्रचार करने के कारण उसको श्रेय के बदले लानत मिलनी चाहिए !! बौद्ध भिक्षुओं की कीर्त्ति पर, जो यद्यपि हमारे ही भाई थे, पर जिन्हें हम सदा धर्म-द्रोही मानते रहे, अभिमान करने का हमारा कुछ भी अधिकार नहीं।

अब हिन्दुओं के इस दावे पर विचार कीजिए कि उनकी सभ्यता संसार में प्राचीनतम है। मिस्र के स्फिंकस् और पिरैमिड, बाबुल के लटकते हुए बाग़, चीन की विशाल दीवार, रोडस् टापू के बन्दरगाह पर बनी हुई सूर्यदेव (Apollo) विशाल धातुमयी मूर्त्ति आदि जो प्राचीन जगत् के सप्ताश्चर्यों (Seven wonders of the world) में से हैं कम से कम ३००० से लेकर ६००० वर्षों तक के बने हुए हैं, जिनके द्वारा उनसे सम्बन्धित जातियों की सभ्यता की प्राचीनता भली भाँति सिद्ध होती है। क्या हिन्दू भी अपनी तथा-कथित प्राचीनतम सभ्यता के स्मारक स्वरूप कोई

हिन्दू सभ्यता की प्राचीनतमता खंडन

ऐसी ही आश्चर्यजनक प्राचीन वस्तु वा कम से कम उसका ध्वंसावशेष अपने यहाँ दिखा सकते हैं ? हाँ, हिन्दुओं के यहाँ एक ऐसी अनोखी वस्तु है जो अपनी अद्वितीयता के कारण संसार के नवीन किम्वा प्राचीन सभी आश्चर्यों पर पानी फेर देती है। वह है उनके पतन की आदि जननी तथा उनके पुनरुत्थान की प्रबल शत्रु जाति-प्रथा।

कितने नासमझ हिन्दू अपने यहाँ की शिल्प-कला तथा विज्ञान को भी, आत्मश्लाघा की प्रबल-प्रेरणा के वशीभूत होकर, सर्वश्रेष्ठ, स्वतंत्र तथा प्राचीनतम मानते हैं। उनका कथन है कि यूरोपवासियों ने जिन वायुयानों का आविष्कारकर आज समस्त जगत् को चमत्कृत कर दिया है वे हमारे पूर्वजों को कई सहस्राब्दियाँ पहले ही मालूम थे और उनके द्वारा वे भली भाँति वियद्-यात्रा तथा आकाश-युद्ध किया करते थे। हमारे इन भोले-भाले भाइयों को अभी तक यह भी मालूम नहीं है कि उनके पूर्वज कौन थे तथा कवियों की विलक्षण एवं भ्रमोत्पादिनी कल्पना और वास्तविकता में क्या अन्तर है। कविगण अपनी प्रबल कल्पना-शक्ति के बल पर धुएँ का धौरहर खड़ा कर सकते हैं; पानी में भी आग लगा सकते हैं, तिल का ताड़ तथा ताड़ का तिल एक क्षण में बना सकते हैं; वे क्या-क्या नहीं कर सकते ! इसी कारण कहा गया है—'कविरन्यः प्रजापतिः' अर्थात् कवि दूसरा प्रजापति (जगत्-स्रष्टा) है। यह मैं भी मानता हूँ कि भागवत आदि पुराणों में वर्णित देवासुर-संग्राम के अवसर पर उभय पक्ष ने युद्धार्थ विमानों का उपयोग किया था। पर युद्ध-वर्णन में विमानों को भी ला घुसेड़ना केवल कवि-कल्पना है, जिसका आश्रय कवि ने कथा में रोचकता लाने के ही लिए लिया है। यदि उक्त संग्राम में विमानों को उपयोग होना एक वास्तविक घटना है, तो इसका श्रेय हमारे पूर्वजों को नहीं; बल्कि देवताओं तथा असुरों को था, जो हमारे पूर्वजों से भिन्न जातियाँ थे। यों तो रामचन्द्र भी लंका से पुष्पक विमान पर अपने

दल-बल के साथ सवार होकर अयोध्या लौटे थे। पर वह विमान कुबेर का था, जो यक्ष (देवयोनि) जाति के थे और जिनसे लंकेश्वर रावण ने उक्त विमान को जबर्दस्ती छीन लिया था। अतः जब तक अखंडनीय प्रमाणों के द्वारा यह न सिद्ध हो जाए कि प्राचीन भारतीय आर्य, जो हिन्दू सभ्यता तथा हिन्दू संस्कृति के जन्मदाता थे, वायुयान बनाने तथा उसका उपयोग करना जानते थे, तब तक हिन्दुओं का वायुयान विषयक दावा निराधार जानना चाहिए। ऋग्वेद के ४।३६।१, १।४७।२, १।११८।२, १।११८।४, १।२०।३ आदि कतिपय स्थानों पर ऐसे रथों का वर्णन पाया जाता है जिनकी गति द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष, इन तीनों लोकों में अप्रतिहत थी। पर इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि ऐसे रथों के बनाने वाले रैभव, अश्विन आदि देवगण थे, जो हिन्दुओं के पूर्वजों से भिन्न जाति के थे। पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में विविध अस्त्रों का भी वर्णन मिलता है जिनका प्रयोग रण-भूमि में शत्रुओं पर किया जाता था। शत्रु सेना पर धुआँधार अग्नि-वर्षा करने वाले आग्नेयास्त्र, जल-वर्षा करने वाले वारुणास्त्र, झंझा पैदा करने वाले वायव्यास्त्र आदि विविध अस्त्रों का उल्लेख उदाहरण स्वरूप उक्त ग्रन्थों में मिलता है। पर सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि इनके निर्माण और प्रयोग करने वाले तथा प्रयोग की शिक्षा देने वाले भारतीय आर्यों से कोई भिन्न लोग थे। अर्जुन को पाशुपतास्त्र की शिक्षा देने वाले महादेव थे। इसी प्रकार राजकुमार अज को सम्मोहनास्त्र बताने वाला प्रियम्वद नामक एक गन्धर्व था। जिस धनुष, बाण, अक्षय तुणीर और तलवार को महर्षि अगस्त्य ने रामचन्द्र को दिया था, वे सब के सब देवनिर्मित थे और उक्त महर्षि को इन्द्र से मिले थे। जिस बला और अतिबला नामक विद्या-द्वय का उपदेश महर्षि विश्वामित्र ने रामचन्द्र को दिया था उसे उन्होंने ब्रह्मा जी से प्राप्त किया था और इसके अतिरिक्त उक्त

महर्षि ने जिन विविध प्रकार के विष्णु-चक्र, ऐन्द्र-चक्र, शैव शूलवत, ब्रह्मशिरोऽस्त्र, ब्रह्मास्त्र, धर्म-पाश, काल-पाश, वरुण-पाश, पैनाकास्त्र, नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र आदि अस्त्रों की शिक्षा उन्हें दी थी, वे सब के सब देवनिर्मित थे जैसा कि इनके नामों से ही स्पष्ट है। और तो और; राजा युधिष्ठिर के सभा-भवन का बनाने वाला मय नामक एक दानव था जिसके रचना-कौशल ने दुर्योधन को बारबार धोखे में डाला था। सारांश यह कि उस सुदूर भूतकाल में विज्ञान का इतना उन्नत होना यदि संभव माना जाय, तो इस उन्नति को करने वाले विदेशी लोग थे जिन्हें भारतीय आर्य देव, दानव, असुर आदि विविध नामों से पुकारते थे और जिनके वंशधर आज भी विज्ञान में हमसे बहुत आगे हैं। हम दूसरे के धन से धनवान् तथा दूसरे के पुत्र से पुत्रवान् नहीं कहला सकते। हमारे कितने भाई हरप्पा और मोहेनजोदारो की खुदाई की दुहाई देकर हिन्दू सभ्यता को ईसा से ३००० वर्ष पूर्व की बतलाते हुये उसे संसार की प्राचीनतम सभ्यता मानते हैं। पर इसका कौन-सा प्रमाण है कि हरप्पा और मोहेनजोदारो के निवासी वर्त्तमान हिन्दुओं के पूर्वज वैदिक आर्य थे। संभव हो सकता है कि वे कोई अनार्य तथा द्रविड़ जाति के होंगे। आगरा के विश्व-विख्यात ताजमहल का बनाने वाला बादशाह शाहजहाँ मुसल्मान था; अतः इसका गर्व किसी हिन्दू को नहीं हो सकता; क्योंकि वह हिन्दुओं का पूर्वज नहीं था। इसके अतिरिक्त उक्त स्थानों की खुदाई में मिश्र के पिरैमिड और स्फिन्क्स् जैसी कोई भा अलौकिक वस्तु नहीं मिली। और प्राचीनता के विषय में भी हरप्पा और मोहेनजोदारो की सभ्यता मिश्र की सभ्यता की बराबरी नहीं कर सकती; क्योंकि वहाँ के कोई-कोई पिरैमिड् ईसा से ४००० वर्ष पूर्व के बने हैं।

हरप्पा और मोहेनजोदारो की सभ्यता के विषय में एक और

बात भी विचारने योग्य है। वहाँ की खुदाई से जो सभ्यता के कतिपय चिन्ह मिले हैं उनमें बहुत से शिवलिंग भी हैं। कितने ही शिवलिंग तो वैसे ही हैं जैसे कि आज-कल भारत के बहुत से मन्दिरों में पाए जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शिव की पूजा जिस प्रकार आज-कल होती है उसी प्रकार उस सुदूर पूर्व काल में भी उक्त दोनों स्थानों में होती थी। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है शिव के ये पूजा करने वाले कौन थे। वेदों के अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक काल में शिव का महत्त्व कुछ भी नहीं था। और न शिवलिंग की पूजा प्रचलित थी। उस काल में सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि ही माने जाते थे। त्रिदेवों का महत्त्व, जिनमें एक शिव भी हैं, उस समय चमका जब पुराण-काल आया। यह हम लोगों को भली भाँति मालूम है कि त्रिदेव-प्रधान पौराणिक धर्म की सृष्टि, जिसे हम नवीन हिन्दू धर्म भी कहते हैं, बौद्ध धर्म के अनुकरण में हुई और हिन्दू पौराणिकों ने स्वयं गौतम बुद्ध को विष्णु का दशम अवतार मान लिया। इस नूतन धर्म की उत्पत्ति गुप्तवंशीय सम्राटों के शासन-काल में, चौथी और पाँचवीं शताब्दियों के बीच में हुई मानी जाती है। अतः हरप्पा और मोहेनजोदारो के निवासी यदि भारतीय आर्यों की सन्तान हिन्दू थे, तो उनको हुए आज से १५०० वर्षों से अधिक नहीं हुआ।

यह हुआ उक्त प्रश्न का एक उत्तर। इसका दूसरा उत्तर भी हो सकता है। शिव असुरों के एकमात्र आराध्य देवता थे। असुरों को विष्णु से भारी घृणा थी जैसा कि पुराणों से पता चलता है। रावण, वाण, वृक आदि असुरगण शिव को ही अपनी उग्र तपस्या के प्रभाव से प्रसन्नकर मनोवाञ्छित वर पा सके थे। अतः हरप्पा और मोहेनजोदारो की खुदाई में पाए गए शिवलिंगों के आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उक्त नगरों के निवासी किसी

असुर वा अनार्य जाति के थे जो शिव की पूजा किया करते थे तथा जिनकी सभ्यता से, चाहे वह प्राचीन से भी प्राचीन क्यों न हो, हिन्दुओं का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए तो किन्हीं-किन्हीं विद्वानों की सम्मति है। कि उक्त नगरों की सभ्यता सुमेरियन् वा नहीं तो द्राविड़ लोगों की थी। उक्त दोनों उत्तरों में से कोई भी उत्तर हिन्दू सभ्यता की प्राचीनतमता सिद्ध करने के लिए बेकार है; क्योंकि यदि वह हिन्दू सभ्यता थी तो वह १५०० वर्षों से अधिक की नहीं हो सकती; और यदि वह असुर सभ्यता थी तो इसका गर्व हिन्दुओं को नहीं हो सकता।

मैं पहले लिख आया हूँ कि हिन्दुओं का यह दावा कि उन्होंने ही अन्य देश वालों को सभ्यता सिखलाई सरासर गलत और झूठ है। इस झूठ का प्रबल तथा अकाट्य प्रमाण भारत के वे कई लाख आदिम निवासी हैं जिनके लिए हिन्दुओं ने कुछ भी नहीं किया और जो आज तक भी जंगलों और पर्वत-गह्वरों में रहकर अपना जीवन पशुवत् बिता रहे हैं। ये आदिम निवासी वैदिक युग के घृणित अनार्यों के अवशिष्टांश हैं, जिन्हें वैदिक आर्य दस्यु कहा करते थे। हिन्दुओं के लिए यह कैसी शर्म की बात है कि ये आदिम निवासी एक ऐसे देश में जो सहस्रों वर्षों की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की डींग हाँकता है, अपनी पहली असभ्य दशा में ही अभी तक पड़े हैं। न केवल इतना ही कि वे असभ्य हैं; वरन् उनमें कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अपनी अवैध जीविका के कारण जरायम-पेशा भी कहलाने लगे हैं। शोक है कि इतने मनुष्य, जो भारत-माता की ही सन्तान हैं, सभ्य संसार के बीच रहते हुए अभी तक भी जंगली अवस्था में हैं और परम्परागत अपराधियों का जीवन बिता रहे हैं और हम हिन्दुओं ने कभी इसके लिए लज्जा का अनुभव नहीं किया! यदि सचमुच हम विश्व भर में ज्ञान तथा सभ्यता वितरण करने के ठेकेदार थे तो

इन बेचारे अपने सहोदर निर्विशेष भारतीय भाइयों को सभ्य बनाने तथा किसी अधिक प्रतिष्ठित रीति से जीविकोपार्जन करना सिखाने का प्रयत्न हमने क्यों नहीं किया ? हम इस बात को स्वीकार करें अथवा न करें; पर यह निश्चय जानिए कि हमारे जैसे झूठे, घमंडी तथा अपने मुँह मिट्ठू बनने वाले जीव संसार में आपको कहीं न मिलेंगे।

हरिजन समुदाय और हिन्दू धर्म

हिन्दू जाति का तथाकथित सभ्यता पर लिखते समय उस सभ्यता के कलंक हरिजन-समुदाय की उपेक्षा भारी भूल होगी; अतः उनके विषय में भी अपना विचार प्रकट कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। 'हरिजन' शब्द से शूद्र समुदाय के अन्तर्गत वे जातियाँ अभिप्रेत हैं जिन्हें अस्पृश्य वा अछूत कहते हैं; जिनके हाथ का अन्न-जल हम उच्च जात्यभिमानी हिन्दू ग्रहण नहीं करते तथा जिनका स्पर्श-मात्र भी हम पाप समझते हैं। अछूतों की यह 'हरिजन' संज्ञा नवीन है जिसे हमारे हिन्दू समाज के नेताओं ने दी है और जिसका अर्थ होता है 'भगवान् का भक्त'। हिन्दुओं के 'भगवान' हैं राम और कृष्ण; पर इन तथा-कथित 'भगवानो' की भक्ति करते करते तथा उनके नाम की सुमिरिनी जपते-जपते हमारे हरिजन भाइयों की कई सहस्राब्दियाँ बीत गईं; किन्तु दोनों में से किन्हीं भी 'भगवान' ने अपने हरिजन भक्तों के प्रति अपनी कुछ भी दया न दिखलाई जिससे इनकी हीन दशा में थोड़ा सा भी अन्तर देख पड़े। बल्कि उल्टे रामचन्द्र ने तो शम्बूक का वधकर शूद्रों के प्रति अपनी असली मनोवृत्ति का नंगा परिचय दिया। तिस पर भी इन अभागे हरिजनों की आँखें न खुलीं। और ये राम-कृष्ण के अनन्य भक्त होकर भी नानाविध सामाजिक अत्याचारों के दुर्वह बोझ के नीचे दबे रहकर निरन्तर कराहने तथा अपने पूर्व जन्मों के कर्म को कोस-कोस-

कर अपने भाग्य पर सब्र करते रहे। पर इसमें कसूर किसका है? क़सूर है इन विवेक-हीन हरिजनों का ही; क्योंकि क्या उन्हें अभी तक यह बात मालूम न थी कि राम और कृष्ण ये दोनों ही 'भगवान्' उसी वर्णाश्रम-प्रथा कलंकित ब्राह्मणी धर्म की रक्षा के लिए अवतीर्ण हुए थे जिसने उन्हें 'स्वधर्मे मरणं श्रेयः परधर्मो भयावहः' आदि जैसी कतिपय उल्टी-सीधी बातें सिखाकर रसातल में ढकेल दिया है; जिसने उनके शरीर पर से वस्त्र, उनके आगे से अन्न तथा उनके घर-द्वार आदि सब कुछ छीनकर उन्हें दर-दर का भिखारी और दूसरों के जूठन से पेट पालने वाला बना रखा है? यदि उन्हें यह नहीं मालूम था तो अब मालूम करें और होश सँभालें। यह वे निश्चय जान लें कि जब तक वे ऐसे धर्म और ऐसे धर्म की रक्षा करने वाले उक्त 'भगवानों' से अपना पिंड नहीं छुड़ाते हैं, तब तक उनका कल्याण होने का नहीं। केवल हरिजन ही नहीं; बल्कि अन्य शूद्र जातियों एवं वैश्यों को भी जान लेना चाहिए कि विष्णु के जितने तथा-कथित अवतार हुए हैं वे सब के सब, केवल गौतम बुद्ध को छोड़कर, उसी ब्राह्मणी धर्म की रक्षा के लिए हैं जिसने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त शेष सभी जातियों को गुलाम बना रखा है। सच पूछिए तो इन अवतारों से वैश्यों और शूद्रों को कुछ भी लाभ नहीं हुआ; क्योंकि शासन की चक्की इनको सदा एक-सी पीसती रही। पर आश्चर्य तो इस बात पर है इन अवतारों के मन्दिर बनवाने तथा उनके राग-भोग के प्रबन्ध करने में वैश्य जाति अपने रुपयों को पानी की तरह बहाया करती है तथा इन अवतारों की रथयात्रा में रथ को खींचने वाले प्रायः शूद्र ही होते हैं जो अपने 'भगवान्' का रथ खींचकर, जिस पर सीताराम वा राधाकृष्ण की मूर्त्तियों के बगल में तोंद फुलाए हुए पंडे-पुजारी मौज से बैठकर गुलछर्रें उड़ाया करते हैं, अपना जीवन धन्य मानते हैं। कल्पित

स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रलोभन देकर पुजारी-वर्ग ने इन मूढ़ों को किस प्रकार ठग लिया है, यह देखकर इन विचारों के अधःपतन पर तरस आता है। थोड़े दिन हुए 'भगवान्' के मन्दिरों में अछूतों के प्रवेश के लिए जो घोर आन्दोलन छिड़ा था वह पूर्णतः बेकार था; कारण कि जो 'भगवान्' ऐसे धर्म के संरक्षक तथा समर्थक हैं जो भाई-भाई में फूट का बीज बोकर एक-दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखने का उपदेश देता है, उस 'भगवान्' से अछूतों का अलग रहना ही अच्छा है। कृष्ण ने वैश्यों और शूद्रों को 'पापयोनि' कहा और राम ने शंबूक का गला काटा, केवल इसीसे इन भगवानों की मनोवृत्ति वैश्यों और शूद्रों के प्रति जान लेनी चाहिए। अतः अब इन जातियों का कल्याण तो इसी में देख पड़ता है कि वे उक्त 'भगवानों' से अपना पीछा जहाँ तक शीघ्र हो छुड़ा लें और किसी ऐसे भगवान् की शरण लें जो उन्हें विश्व-बन्धुता, समता और स्वतन्त्रता का दिव्य सन्देश सुनावे। भारत में यदि कोई ऐसा पवित्र सन्देश सुनाने वाला अवतीर्ण हुआ है तो वह गौतम बुद्ध के अतिरिक्त और कोई नहीं।

हरिजनों का धर्मान्तर ग्रहण

हिन्दुओं ने भारत के असभ्य आदिम जातियों को सभ्य बनाने के कार्य के प्रति जो अपनी उदासीनता दिखाई है उसका उल्लेख मैं कर आया हूँ। वैसी ही उदासीनता उन्होंने हरिजनों की दशा सुधारने के प्रति दिखलाई है। अदूरदर्शिता के कारण उन्होंने इस बात को कभी नहीं महसूस किया कि ये आदिम निवासी एवं अछूत समाज हमारे लिए प्रसुप्त भय के स्रोत हैं। यदि हमारी स्वार्थपरायणता तथा ठग-विद्या के कारण ये मूर्ख ही बने रहें तो हो सकता है कि ये हमारी कोई हानि न करें। पर ठग-विद्या का दिवाला एक न एक दिन अवश्य निकल जाता है; धोखे की टट्टी हमेशा के लिए कारगर नहीं होती। अतः हमको पहले से ही चेत जाना चाहता था

कि यदि कहीं अहिन्दुओं ने उनको सुधारकर अपने धर्म में मिला लिया, तो वे हमारे शत्रुओं की सेना को बढ़ाने के कारण बन जाएँगे और तब हमको लेने के देने पड़ेंगे। ठीक यही हाल हुआ। हम अपने जिन हरिजन भाइयों की आँखों में धूल झोंककर अपना उल्लू सीधा करते चले आ रहे थे, आखिर उनको भो आँखें खुलीं और उनके दिन पलटे। मुसलमान और इसाई जैसे अहिन्दुओं ने इस देश में आकर हरिजनों और आदिम जातियों के संमुख राम-कृष्ण की भक्ति की प्रत्यक्ष व्यर्थता दिखलाई और हमारी ठग-विद्या की पोल खोलकर उन्हें, कलमा और बपतिस्मा को डोरियों के द्वारा अज्ञान तथा अधोगति के अथाह अन्ध-कूप से निकाल बाहर किया। इसका फल यह हुआ कि आज ये लाखों नहीं बल्कि करोड़ों की संख्या में हमारे दायाद तथा प्रतिद्वन्द्वी बनकर हमसे पग-पग पर लोहा लेने को तैयार हैं और हमारी दाल गलने नहीं देते। यही है हमारे पूज्य त्रिकालदर्शी ऋषियों की त्रिकालज्ञता, तथा हमारे धर्म-शास्त्रों की कल्याण-कारिणी सामाजिक व्यवस्था का सुपरिणाम, और सबसे बढ़कर यही है हमारे जगद्गुरुओं का जगद्गुरुत्व! जिस करामात को अनेक सहस्राब्दियों तक अनन्यभाव से की हुई राम-कृष्ण की भक्ति आज तक न दिखा सकी वही करामात कलमा और बपतिस्मा ने बात की बात में छूमंतर की तरह करके दिखला दिया। मँगरू चमार और नथून दुसाध जब तक राम-कृष्ण के भक्त बने रहे तब तक ये बेचारे मूक पशुओं की तरह हमारे फटकार निरन्तर सुनते रहे। पर ज्यों ही ये मौलवी अबदुलगनी और मिस्टर जोज़ेफ़ के आकार में परिणत हुए, त्यों ही ये हमारे सम्मान और प्रेम के भाजन बन गए। हमारा यह गर्व सदा रहा है और अब भी है कि जहाँ भूमंडल की मिस्री, रोमी, यूनानी, बाबुली आदि प्राचीन सभ्य जातियाँ सदा के लिए इस प्रकार नेस्त-नाबूद हो गईं कि अब उनके

वंश में उनका कोई नाम-लेवा तक नहीं है, वहाँ हमारी यह हिन्दू-जाति, हमारी यह हिन्दू-सभ्यता एवं हमारी यह हिन्दू-संस्कृति विदेशियों तथा विधर्मियों के असंख्य निष्ठुर प्रहारों को हज़ारों वर्ष से विफल करती हुई अब भी जीवित और जागृत है। पर हिन्दुओं के इस निर्लज्ज अभिमान का मुँहतोड़ उत्तर मैं पहले ही दे चुका हूँ और कह चुका हूँ कि जिस पतितावस्था में हिन्दू जाति जी रही है, उसके लिए प्रत्येक विचारशील हिन्दू को लज्जा अनुभव करना चाहिए तथा प्रश्न यह न होना चाहिए कि हम ज़िन्दा हैं वा मर गए; बल्कि प्रश्न यह होना चाहिए कि हम किस अवस्था में ज़िन्दा हैं इत्यादि। अब यहाँ पर हिन्दू जाति के जीते रहने के कारण पर विचार किया जाता है। इस जाति के अब तक जीते रहने का यह कारण नहीं है कि हिन्दू धर्म किसी सुदृढ़ नींव पर अवस्थित है जैसा कि कितने लोगों की चिरबद्ध धारणा है; क्योंकि यह धर्म तो इतना निर्बल है कि वह पानी के बुलबुले की तरह हवा की एक हल्की झोंक लगने पर; अथवा कच्चे धागे की तरह एक हल्के झटके से भी नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। जहाँ किसी हिन्दू ने किसी अहिन्दू का छुआ हुआ भोजन ग़लती से भी कर लिया था अथवा उसका छुआ हुआ जल भी पी लिया कि बस, उसका धर्म काफ़ूर हुआ। इसके अतिरिक्त इस धर्म में वह साहस नहीं कि वह स्वधर्मच्युत अपने बिछुड़े हुए हिन्दू भक्तों तथा अहिन्दुओं को आत्मसात कर सके। आज भारत में जो कई करोड़ मुसलमान दृष्टि-गोचर हो रहे हैं, वे हमारे ही आत्मीय होते हुए भी इस धर्म की संकीर्णता तथा कमज़ोरी का नगाड़ा पीट रहे हैं। अतः हिन्दू जाति का अब तक जीते रहने का कारण हिन्दू धर्म का किसी सुदृढ़ नींव पर खड़ा रहना नहीं है; बल्कि इसका कारण इसकी विपुल जनसंख्या है। इस जाति की जन-संख्या इतनी बड़ी है कि इसे छोड़कर न मालूम कितने दूसरे-दूसरे धर्म में

जा मिले और अब भी जाकर मिल रहे हैं; पर तो भी यह भरी-पुरी दीखती है। मृत्यु तथा धर्मान्तर-ग्रहण इस जाति का बाल बाँका न कर सके; कारण कि उनके कारण जो स्थान रिक्त हुए उनकी आवश्यकता से भी अधिक पूर्त्ति जन्म ने कर दी। यही हाल विपुल-संख्यक चीनियों का भी समझना चाहिए, जो हिन्दुओं की तरह प्राचीन होते हुए तथा विविध राजनैतिक तथा धार्मिक संकटों को पार करते हुए अब तक इस संसार में मौजूद हैं। पर मिस्री, यूनानी आदि अन्य प्राचीन जातियाँ अति ही अल्प-संख्यक होने के कारण इस्लाम और इसाई धर्मों के प्रबल आक्रमणों के सामने अपनी मौलिक सूरत में ठहर न सकीं। फल यह हुआ कि उनके वंशधर आज तक विद्यमान तो हैं; पर उनकी रूप-रेखा बदल गई। यह समझना भारी भूल है कि हम हिन्दू अपनी संस्कृति तथा धर्म की दृढ़ता ही के कारण अब तक संसार में जीवित हैं तथा मिश्री आदि प्राचीन सभ्य जातियों के वंशधर अब संसार में हैं ही नहीं। इसके अतिरिक्त मनुष्य वा तिर्यक, किसी भी प्राणी के वंश का क़ायम रहना ही प्राकृतिक नियम है। उसका उच्छेद तो अपवाद है; अन्यथा कोल-भील आदि जंगलियों की सभ्यता (!) में कौन-सी खूबी है जिससे वे हिन्दुओं से भी अधिक प्राचीन काल से आज तक जीवित हैं? जितना अत्याचार विदेशियों ने हिन्दुओं पर किया है, उससे अधिक अत्याचार आर्यों ने इन आनार्यों पर किया है। पर फिर भी ये जीवित हैं। इस प्रसंग में इससे और अधिक क्या कहा जाए कि खटमलों का संहार हम लोग बराबर कर रहे हैं; किन्तु संसार सदैव उनसे भरा-पुरा है?

हिन्दू जाति की तथा-कथित सभ्यता पर विचार करते हुए मैं अपने पाठकों का ध्यान इस जाति में १९वीं शताब्दी के मध्य तक धर्म के नाम से प्रचलित उन विविध क्रूर तथा

हिन्दुओं में प्रचलित कतिपय निष्ठुर प्रथाएँ

असभ्य कुप्रथाओं की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ जो इस जाति के सभ्य होने में ही सन्देह उत्पन्न कर देती हैं, तथा जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने कानून द्वारा बन्दकर इस जाति का महोपकार किया है।

(१) रथ-यात्रा—जगन्नाथ धाम में रथ-यात्रा के समय कितने भक्तजन रथ के पहियों के नीचे मोक्ष-प्राप्ति की आशा में जान-बूझ-कर दबकर मर जाते थे। मानव सभ्यता को कलंकित करने वाला यह नृशंस कार्य हर तीसरे वर्ष होता था। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रथा को कानून के द्वारा बन्द किया।

(२) काशी-करवट। काशी धाम में आदि विश्वेश्वर के मन्दिर के पास एक कुआँ है जिसमें मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा से कूदकर भक्तजन अपनी जान दे दिया करते थे। इस प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने दूर किया।

(३) गंगा-प्रवाह। अधिक अवस्था बीत जाने पर भी यदि कोई सन्तान न हुई, तो कितने माता-पिता यह मनौती करते थे कि यदि हमें सन्तान हुई, तो हम अपने पहले बच्चे को गंगा-सागर को भेंट चढ़ावेंगे। इस निष्ठुर मनौती को पूरी करने के लिए वे अपनी पहली सन्तान को गंगा-सागर में छोड़ देते थे। इस क्रूर प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने ई० स० १८३५ में कानून के द्वारा बन्द कर दिया।

(४) चरक-पूजा। काली के मोक्षाभिलाषी उपासक के मेरु-दंड में दो लोहे के हुक धँसाकर उसे रस्सी के द्वारा चर्खी के एक छोर से लटका देते थे। और चर्खी के दूसरे छोर में बँधी हुई दूसरी रस्सी को पकड़कर उस चर्खी को खूब ज़ोर से तब तक नचाते थे जब तक उस उपासक के प्राण पखेरू उड़ न जाएँ। इस प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने ई० स० १८६३ में कानून के द्वारा बन्द किया।

(५) सतीदाह। विधवा स्त्री को उसके मृत पति के शव के साथ उसी की चिता में जला दिया जाता था। इस अमानुषिक प्रथा का अन्त ब्रिटिश सरकार ने ई० स० १८४१ में किया। यह प्रथा भारत में सर्वत्र प्रचलित थी।

(६) कन्या-वध। उड़ीसा और राजपूताना में कुलीन क्षत्रिय कन्या के जन्म होने पर तत्काल ही उसकी नट्टी टीपकर उसे इस भय से मार डालते थे कि उसको जिन्दा रखने पर उनको किसी न किसी का ससुर और साला बनना पड़ेगा। इस जघन्य प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने ई० स० १८७० में कानून से बन्द किया।

(७) नर-मेध। यह पैशाचिक प्रथा ऋग्वेदीय शुनःशेफ सूक्त को आधार मानकर, जिसका उल्लेख मैं चतुर्थ परिच्छेद में कर आया हूँ, उत्तर और दक्षिण भारत में प्रचलित थी। इसमें किसी अनाथ वा निर्धन मनुष्य को दीक्षित करके यज्ञ में उसकी बलि चढ़ाई जाती थी। इस निष्ठुर प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने ई० स० १८४५ में एक्ट २१ बनाकर दूर किया।

(८) महाप्रस्थान। इसका आधार मनु-स्मृति ६।३१ माना जाता था; पर वहाँ इसकी विधि दूसरी ही बतलाई गई है जैसा कि मैं चतुर्थ परिच्छेद में कह आया हूँ। यह एक प्रकार का आत्मघात है। इस व्रत को करने वाले मोक्षलाभार्थ जल में डूबकर अथवा आग में जलकर अपनी जान दे देते थे। मृच्छकटिक नाटक में लिखा है कि राजा शूद्रक ने भी महाप्रस्थान किया था। इस प्रथा को भी मिटाने वाली ब्रिटिश सरकार ही है।

(९) तुषानल। कोई-कोई अपने किसी पाप के प्रायश्चित्त-स्वरूप अपने को भूसा या घास की आग में जलाकर भस्म कर देते थे। कुमारिल भट्ट ने बौद्धों से विद्या ग्रहणकर फिर उन्हीं के धर्म को

खंडन करने के पाप से मुक्त होने के लिए इस व्रत को किया था। सरकारी कानून ने ही इस राक्षसी प्रथा का अन्त किया।

(१०) हरिबोल। यह प्रथा बंगाल में प्रचलित थी; असाध्य किम्वा मरणासन्न रोगी को गंगा में ले जाकर उसे गोते दे देकर स्नान कराते तथा उसे कहते थे कि 'हरि बोल, बोल हरि'। यदि वह इस प्रकार गोते खाते-खाते मर गया, तो वह बड़ा भाग्यवान् समझा जाता था और यदि नहीं मरा, तो वहीं पर अकेले तड़प-तड़पकर मर जाने के लिए छोड़ दिया जाता था। वह घर वापस नहीं लाया जाता था। इस जघन्य प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने ई० स० १८३१ में कानून द्वारा बन्द किया।

(११) भृगूत्पन्न। यह प्रथा गिरनार और सतपुड़ा पहाड़ों की घाटियों में प्रचलित थी। वहाँ के नवयुवक अपनी माताओं के द्वारा महादेवजी से की हुई इस मनौती को पूरी करने के लिये कि, यदि हमें सन्तान होगी तो हम अपनी पहली सन्तान से भृगूत्पन्न करावेंगी, पहाड़ की चोटी से गिरकर अपने प्राण दे डालते थे। इस प्रथा को भी ब्रिटिश सरकार ने ही बन्द किया।

(१२) धरना। याचक लोग विष या शस्त्र हाथ में लेकर गृहस्थों के द्वार पर बैठ जाते थे और उनसे यह कहते थे कि हमारी अमुक कामना को पूरी करो; नहीं तो हम जान दे देंगे। विचारे गृहस्थों को उनकी अनुचित इच्छाएँ भी पूरी करनी पड़ती थीं। इस प्रथा को ब्रिटिश सरकार ने ई० स० १८२० में कानून से बन्द किया।

हमारे कितने धर्माचार्य यह कहा करते हैं कि भाई, जब से हमने अपने धर्म-पालन में शिथिलता दिखलाई तभी से हमारी यह अधोगति हो गई है। क्या मैं धर्म के इन ठेकेदारों

हिन्दुओं के पतन का कारण उनका धर्म है

से पूछ सकता हूँ कि हिन्दुओं ने कौनसी धार्मिक शिथिलता दिखलाई जिसके कुफल वे आज भोग रहे हैं ? क्या उन्होंने जाति-प्रथा को एक घोर सामाजिक कलंक समझकर उसका परित्याग कर दिया है ? क्या उन्होंने छूआ-छूत को तिलांजलि देकर हिन्दू मात्र का खान-पान एक कर दिया है ? क्या उन्होंने बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह अवाध-रूप से प्रचलितकर हिन्दू समाज को भ्रूण-हत्या तथा गर्भपात सदृश पैशाचिक पापों से मुक्त कर दिया है ? क्या उन्होंने अपने आत्मीय जनों के मरने पर उनके श्राद्ध में भोजन भट्टों को जिमाना बन्द कर दिया है ? क्या उन्होंने देवताओं के मन्दिर बनवाने तथा उनके राग-भोग में अपनी गाढ़ी कमाई को पानी की तरह बहा देने से अपना हाथ खींच लिया है ? क्या उन्होंने प्रतिदिन प्रातःकाल में भगवती जाह्नवी अथवा कोई अन्य पूतसलिला नदी में अपने करोड़ों जन्म के पापों को प्रक्षालितकर देवमूर्त्तियों के मस्तक पर जल उड़ेलना केवल मूर्खता समझकर उसे छोड़ दिया है ? क्या उन्होंने बद्रिकाश्रम, द्वारका-धाम, रामेश्वर, वैद्यनाथ-धाम, जगन्नाथपुरी आदि तीर्थ-स्थानों की यात्राकर वहाँ के अर्थगृध्नु तथा जीविकार्थी पंडे-पुजारियों की पूजा करना बन्द कर दिया है ? क्या उन्होंने रामनवमी, जन्माष्टमी, एकादशी, अनन्त, शिवरात्रि आदि व्रतों के दिन तत्तत्सम्बन्धित धार्मिक कृत्यों से अपना मुँह फेर लिया है ? यदि नहीं तो फिर हिन्दुओं में कौन-सी धार्मिक त्रुटि आ गई जो उनके अधःपतन का कारण हुई ? सच पूछिये तो धर्म के इन विविध निरर्थक आडम्बरों में फँसा रहना ही हमारी वर्त्तमान अधोगति का एकमात्र कारण है। इसका साक्षी भूमंडल का वर्त्तमान इतिहास है। जब तक जापान बौद्ध धर्म के विविध अनावश्यक आडम्बरों में फँसा रहा तब तक वह किसी गणना के योग्य न था। पर ज्योंही

उसने उक्त आडम्बरों तथा उन्हीं की सदृश अन्यान्य रूढ़ियों पर लात मारी त्योंही वह एक पराक्रमी राष्ट्र के रूप में परिणत होकर अन्यान्य शक्तिशाली राष्ट्रों के भी सम्मान तथा मित्रता का पात्र बन गया। जब तक टर्की रोज़ा-नमाज़ आदि इस्लामी फन्दे में जकड़ी रही, तब तक वह यूरोपीय राष्ट्रों की दृष्टि में एक असाध्य रोगिणी बनी रही। पर ज्योंही कमालपाशा ने इस्लामीय रूढ़ियों तथा आडम्बरों की कमर तोड़कर मौलवी-मुल्लाओं की जड़ उखाड़ फेंकी त्योंही टर्की का सारा रोग जाता रहा और वह हृष्ट-पुष्ट तथा समुन्नत राष्ट्र के रूप में देख पड़ने लगी। यही हाल रूस का भी जानिए? जब तक वह धार्मिक आडम्बरों तथा धर्म के ठेकेदार पादड़ियों के फेर में पड़ा रहा तब तक वह ज़ारशाही तथा उसके पिट्ठू धर्मगुरुओं के मनमाना अत्याचार के नीचे दबकर सिसकता रहा। पर ज्योंही उसने तथाकथित धर्म तथा उसके ठेकेदारों से अपना पीछा छुड़ा लिया त्योंही उसके दिन पलट गए।

स्वराज्य-चर्चा

वर्त्तमान काल में भारत स्वराज्य-सम्बन्धी एक घोर आन्दोलन से डावाँडोल हो रहा है जिसमें भाग लेने वाले अधिकांशतः अग्रसर जातियों के ही हिन्दू नेता हैं। अतः इस पुस्तक को बिना तत्सम्बन्धी कुछ चर्चा किए यों ही छोड़ देना अनुचित जान पड़ता है। मैं प्रायः हिन्दू नेताओं को ब्रिटिश सरकार को यह कह-कहकर कोसते हुए सुनता हूँ कि यदि हम स्वराज्य के योग्य नहीं हैं, तो इसका क़सूर ब्रिटिशों का ही है, उन लोगों ने हमारे ऊपर लगभग दो सौ वर्षों तक शासन करके भी हमें स्वराज्य के योग्य क्यों नहीं बनाया? उन्होंने हथियार-कानून (Arms Act) पासकर हमें निरस्त्र, निःसहाय तथा नामर्द बना डाला; उन्होंने हमारे देश का धन लूट-खसोटकर हमें दरिद्र बना दिया; उन्होंने अपने लिए जो कानूनी वा राजनैतिक

सुविधाएँ रखीं वे हमारे लिए नहीं इत्यादि। क्या मैं स्वार्थ के नशे में चूर होकर इस प्रकार प्रलाप करते हुए अपने देश के पूज्य नेताओं के सम्मुख करबद्ध खड़ा होकर उनसे यह विनीत निवेदन कर सकता हूँ कि वे दूसरों को कोसने के पहले, देवर्षि नारद की तरह आइना न मिले तो जल में ही सही, एक बार मुखारबिन्द को अवश्य देखें और अपने हृदय पर हाथ रखकर अपनी पाप-कलुषित आत्मा से पूछें कि क्या हमने स्वयं वही, या यों कहिए कि उनसे भी बढ़कर, पाप नहीं किए हैं जिनके कसूरवार आज हम ब्रिटिशों को बना रहे हैं? क्या हमने मनमाना रचे धर्मशास्त्रों की दुहाई दे-देकर, जैसा कि इस पुस्तक में पहले दिखलाया गया है, अपने सीधे-सादे सहोदर भाइयों का सर्वस्व अपहरण नहीं किया है? क्या हमने उन्हीं शास्त्रों के बल पर अपने भाइयों को निरस्त्र, निःसहाय, मनुष्यत्व-हीन तथा बिना पैसे के गुलाम नहीं बना दिया? क्या हमने स्वयं विविध सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक सुविधाओं का उपभोग करते हुए अपने सगे बन्धुओं को उनसे सदा के लिए वंचित नहीं कर दिया है? क्या हमारी स्वार्थ-परायणता, हमारी ठग-विद्या जो ब्रिटिशों के द्वारा समुन्मूलित 'ठग' नामक सम्प्रदाय-विशेष की भी विद्या पर पानी फेर देती है, एवं हमारी कुटिल नीति की पराकाष्टा तभी न पहुँच गई जब हमने भारत-माता के लगभग दस करोड़ लालों को श्वान-शूकर की तरह अछूत करार दे उन्हें इस गिरी दशा में ढकेल दिया कि न मालूम कितनी सहस्राब्दियों से न उनके रहने के घर, न पहनने के कपड़े और न उनके खाने के अन्न हैं और इस पर तुर्रा भी यह कि वे जहाँ जाते वहाँ ही दुत्कारे जाते हैं। इनकी दर्दनाक अवस्था तब देखने में आती है जब वे किसी सवर्ण हिन्दू के घर भोज के अवसरों पर बाहर फेंके हुए जूठे पत्तलों के लिए गिद्धों और चीलों की तरह छीना-झपटी करते हैं। इनके लिए सदा महँगी है; इनके लिए सदा

अकाल है; इनके लिए सदा दुर्भिक्ष है; इनके लिए सदा गिरानी है। और क्या कहूँ ? निखिलैश्वर्य-परिपूर्णा तथा मधुदुग्ध-प्रसविणी अतः कामधेनूपमा यह भारत-भूमि इन अभागों के लिए सदा दरिद्रा और शुष्का रही। हमने अपने इन गिरे हुए भाइयों पर कई सहस्राब्दियों तक एक सभ्यमन्य शासन खुदकर इन्हें किस योग्य बनाया ? इनके उद्धार के लिए हमने स्वयं कौन-सा प्रयत्न किया, जो आज हम इस विदेशी सरकार को अपनी अयोग्यता का जिम्मेवार ठहरा रहे हैं ? भारत की इस पुण्य-भूमि को कितने महापुरुषों ने अपने शुभ जन्म से अलंकृत किया है जो ईश्वर के अवतार तक कहे गए और जिनकी स्तुति में दीनबन्धु, कृपासिन्धु, पतित-पावन आदि जैसे महिमा द्योतक शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। यहाँ कितने ऐसे दार्शनिकों का भी प्रादुर्भाव हुआ है जिन्होंने 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः": आदि जैसे उच्च सिद्धान्तों का प्रचार किया है; तथा कितने ऐसे वीर और रण-बाँकुरे देशभक्तों का भी जन्म हुआ है जिन्होंने अपनी मातृ-भूमि के उद्धारार्थ अपने प्राणों तक को भी न्यौछावर कर दिया है। पर शोक के साथ कहना पड़ता है कि राम और कृष्ण की दीनबन्धुता, कपिल और व्यास के दर्शन तथा अर्जुन और भीम, एवं राणा प्रताप और शिवाजी की बहादुरी हमारे देश के गिरे भाइयों के लिए किस काम की सिद्ध हुई ? उनके कारण इन विचारों की हीनावस्था में कौन-सा सुधार हुआ ? अतः उन नर-रत्नों के प्रति ये ममता-शून्य हों; उन्हें ये अपने नहीं बल्कि विराने समझते हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ब्राह्मण-विद्वानों का प्रखर पाण्डित्य तथा क्षत्रिय बहादुरों की रण-दुर्द्धर्षता भले ही उनके जाति वालों के हृदय में गर्व की गंगा बहाकर उनका मस्तक ऊँचा कर दे; पर अन्य जाति वालों को इससे क्या सम्बन्ध ? वे क्योंकर दूसरी जाति की कीर्त्ति से अपने को गौरवान्वित समझें ?

वे क्योंकर उन लोगों की कीर्त्ति को अपनी कीर्त्ति समझें, जिन लोगों ने उन्हें लाभ के बदले असीम हानि पहुँचाई है? अभी कुछ दिन हुए कि महात्मा गान्धी की प्रेरणा से जो कांग्रेसी जीवों ने हरिजनों की गन्दी से भी गंदी झोपड़ियों तक को खुद अपने हाथों में झाड़ू लेकर साफ़-सुथरी की थी, वह केवल एक राजनैतिक चाल थी,—एक ढोंग था। देशकालज्ञ तथा अनुभवी हरिजन नेता बखूबी जानते थे कि उनकी यह जो आज खुशामद हो रही है; उन्हें 'भाई-भाई' कहकर यह जो आज गले लगाया जा रहा है, जैसा कि पूर्व काल में कभी नहीं हुआ था, वह केवल बनावटी होती हुई विदेशी शासन का ही फल है, जिसके भारत से विदा होते ही उनके साथ 'पुनरपि मूषिको भव' के न्यायानुसार पहले का सा ही व्यवहार बरता जाएगा। महात्मा गान्धी एक वास्तविक महात्मा हैं। वे अपनी ही तरह दूसरों को भी शुद्ध हृदय समझते हैं। उनकी कल्पना में यह बात कभी भी नहीं आती कि उनके तथाकथित अधिकांश भक्त ऊपर से मेमने की खाल ओढ़े हुए भीतर से भयंकर भेड़िए हैं जो अनुकूल अवसर पाते ही अपना बनावटी वेष उतार फेकेंगे और अपना वास्तविक हिंस्र-रूप धारणकर निर्बलों का चिराभ्यस्त मनमाना शिकार शुरू कर देंगे। अतः स्वराज्य-प्राप्त्यर्थ देश में धूम मचाने वाले महाशयों को मैं स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि इस ध्येय की पूर्त्ति में किए हुए उनकी सारी उछल-कूद तब तक विफल होती रहेगी जब तक हमारे यहाँ उन धर्मशास्त्रों का मान होता रहेगा, जिन्होंने हमें अपने बन्धु-बान्धवों के जन्म-सिद्ध अधिकारों को दबाकर बैठ जाने की कुशिक्षा दी है। उन्हें जान लेना चाहिए कि हमारी स्वाधीनता के नाश का कारण कोई बाहरी वस्तु न होकर हमारे वे ही धर्मशास्त्र हैं जिनकी कलई इस पुस्तक में खोली गई है। अतः देश की मंगल-कामना करने वाले प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य है कि वह फ़ौरन से

पेश्तर इन धर्मशास्त्रों की पोथियों को ले जाकर किसी अजायब-घर के ताक पर अपने पूर्वजों की अदूरदर्शिता के स्मारक-स्वरूप सदा के लिए रख छोड़े। स्वराज्य और हिन्दू-धर्म, ये दोनों एक दूसरे के आग और पानी के समान, घोर शत्रु हैं। जहाँ एक है वहाँ दूसरा नहीं। अतः जो स्वराज्य के भूखे हों वे इस धर्म से अपना पिण्ड छुड़ा लें। अथवा जो इस धर्म के भक्त हों वे स्वराज्य की ओर भूलकर भी न ताकें; क्योंकि इस धर्म के रहते उन्हें स्वराज्य कभी भी नसीब नहीं हो सकता और यदि काकतालीय न्यायवत् उन्हें भाग्यवश कहीं स्वराज्य मिल भी गया, तो वह स्थायी न हो सकेगा। यदि आप चाहते हैं कि आपकी स्वतंत्रता को कोई अपहरण न करे, तो आप दूसरों की भी स्वतंत्रता पर अनुचित आक्रमण करना छोड़ दें। और यदि आप चाहते हैं कि आपके साथ कोई अनुचित बर्त्ताव न करे जिसे आप नहीं चाहते, तो आप भी दूसरों के साथ उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई अनुचित बर्त्ताव करना छोड़ दें। यदि आप लोग अपने तथाकथित धर्मशास्त्रों के कूटनीति परिपूर्ण तथा स्वार्थ कलंकित आदेशों पर लात मारकर खुशी से अपने गिरे भाइयों को समानता तथा इनके मनुष्योचित अधिकारों को शीघ्र नहीं प्रदान करेंगे, तो ये लोग स्वयं ही उनको बिना प्राप्त किए नहीं छोड़ेंगे। अब आप लोगों का लबड़धोधों अधिक दिन तक नहीं चल सकती।

पुस्तक के उपसंहार-स्वरूप मैं जाति-प्रथा के भविष्य पर कुछ कहकर अब इसे समाप्त करना चाहता हूँ। हिन्दू जाति की जीवन-

जाति-भेद मिटाने के उपाय

रक्त-शोषिणी इस घोर पिशाची का मूलोच्छेदन करने के लिए गौतम बुद्ध से लेकर आज तक न मालूम कितने वीर सुधारकों ने इस पर प्रचंड प्रहार किये; पर वे इसका तनिक भी बाल बाँका न कर सके। यह आज भी पूर्ववत् फली-फूली देखी जा रही है। इसका एक

कारण यह है, जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, कि इस प्रथा के बल पर जो जातियाँ नाना प्रकार की सामाजिक सुविधाओं का उपभोग अनायास ही कर रही हैं उन्हीं के हाथ में धन, पृथ्वी, अधिकार आदि सब कुछ हैं और वे उक्त सुविधाओं को अपने हाथ से निकल जाने की आशंका से इसे उठाना नहीं चाहतीं और जो निर्बल जातियाँ हैं वे इस प्रथा को उखाड़ फेंकने में पूर्णतः असमर्थ हैं। दूसरा कारण है हमारी स्थिति-विवशता। हम जिस स्थिति में एक बार पड़ जाते हैं उसके हम दास बन जाते हैं। वह इस प्रकार हममें घर कर लेती है तथा समारी प्रकृति का एक अंग बन जाती है कि उसके बुराइयों के जानते तथा उनके कुफल-स्वरूप नाना दुखों को झेलते हुए भी उससे पिंड छुड़ाना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इस प्रथा ने, हमारे चिरकाल तक इसको मानते रहने के कारण, हमें इस प्रकार अपने चंगुल में फँसा रखा है और हमारी अन्तरात्मा पर अपने कुत्सित प्रभाव का जाल इस प्रकार बिछा दिया है कि इससे होती हुई हानियों को देखते हुए भी हमसे इसे उठाकर फेंक देना पार नहीं लगता। हमारी दशा उन शराबियों तथा अफीमचियों की-सी है जो शराब और अफ़ीम के दुर्गुणों को जानते तथा उनके दारुण परिणामों को भोगते हुए भी उनका अपनी कुटेव से पल्ला छुड़ाना एक दुष्कर कार्य हो जाता है। स्थिति-विवशता की इस दुर्भेद्य बेड़ी को तोड़-फेंकना एक असीम साहस तथा अतुल आत्मिक बल का काम है जो सर्वसाधारण में नहीं पाया जा सकता। अतः इस पिशाची को एकाएक मार भगाना मानव-शक्ति के बाहर-सा प्रतीत होता है। पर हाँ, यदि प्रत्येक हिन्दू यह प्रतिज्ञा कर ले कि वह ब्राह्मण से लेकर भंगी पर्यन्त किसी को भी केवल उसकी जाति के कारण उच्च वा नीच, पूज्य वा अपूज्य, अथवा किसी भी विशेषाधिकार के योग्य वा अयोग्य नहीं मान सकता, तो इस पिशाची की कराल तथा तीक्ष्ण

डाढ़ें बहुत कुछ कुंठित हो जायँगी और जाति प्रथा-पोषिणी हमारी मनोवृत्ति के इस परिवर्त्तन के साथ-साथ उसको आहार मिलना बन्द हो जाएगा जिसके फल-स्वरूप वह भोजनाभाव से बिना मारे आप ही मर मिटेगी।

जाति-भेद को मिटाने के लिए कुछ लोग यह सुझाव पेश करते हैं कि पहले उपजातियों को मिटाना चाहिए। जिन लोगों का यह विचार है वे यह समझे हुए हैं कि उपजातियों के रहन-सहन में मूलजातियों की अपेक्षा अधिक सादृश्य है। पर उनकी यह कल्पना ग़लत है। मद्रास और बंबई के निरामिष भोजी ब्राह्मणों और बंगाल के आमिष भोजी ब्राह्मणों में कौन-सा सादृश्य है? इसके विपरीत, भोजन के विषय में जैन, मारवाड़ी आदि वैश्य जातियाँ मद्रास और बम्बई के निरामिष भोजी ब्राह्मणों के साथ अधिक सादृश्य रखती हैं। बौद्धिक-विकास में भी यही उलटी बात देखी जाती है। उत्तर भारत के वैश्य और कायस्थ अपने बौद्धिक-विकास के कारण मद्रास और बंबई के ब्राह्मणों के बराबर हैं। अब कहिए, किनका संमिश्रण किया जाए? एक जाति की उपजातियों का वा भिन्न जातियों की उपजातियों का? यदि उपजातियों का संमिश्रण संभव भी हो, तो इस बात की कौन-सी गारंटी है कि उपजातियों को तोड़ देने से जातियाँ भी ज़रूर टूट जाएँगी। संभव है कि उपजातियों के टूटने के साथ ही काम बन्द हो जाए और मुख्य जातियाँ अधिक संगठित तथा प्रबल होकर अधिक अनिष्ट करने लगें। अतः यह उपाय न साध्य है और न सिद्धि है।

कुछ लोगों की यह सम्मति है कि जाति-भेद को नष्ट करने के लिए पहले अन्तर्वर्णीय सहभोज प्रारम्भ किए जाएँ। पर यह उपाय भी इष्ट-सिद्धि के लिए यथेष्ट प्रबल नहीं है। अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिनमें सहभोज होता है; पर यह सब किसी के अनुभव

की बात है कि सहभोज जाति-भेद के भाव और चेतना को नष्ट करने में सफल नहीं हुआ। कुछ लोगों का ख्याल है कि जाति-भेद को मिटाने का वास्तविक उपाय अन्तर्वर्णीय विवाह है। केवल रक्त का मिश्रण ही स्वजन और मित्र होने का भाव पैदा कर सकता है। जब तक मित्र तथा भाई-बन्धु होने का भाव प्रधान नहीं होता, जाति-भेद द्वारा उत्पन्न किया हुआ वियोजक भाव कभी दूर न होगा। अन्तर्जातीय विवाह के सिवा अन्य कोई भी उपाय जाति-भेद को मिटाने में कारगर नहीं हो सकता।

यह उपाय तो सिद्धान्त-रूप से सोलहो आने ठीक जँचता है; पर इसको व्यवहार-रूप में लाना उतना सरल नहीं है जितना इसको कह देना; क्योंकि कहावत है—'बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधेगा'। जिस हिन्दू समाज में केवल जाति के ही विचार से एक दूसरे का अन्न-जल तक का ग्रहण करना अधर्म समझा जाता है उस हिन्दू समाज से यह आशा करना कि वह अन्तर्जातीय विवाह को शुद्ध अन्तःकरण से स्वीकार करेगा वन्ध्या-गर्भ से पुत्र-प्राप्ति की आशा करने के तुल्य है; कारण कि हिन्दू के लिए उसकी जाति ही धर्म है; उसकी जाति ही कर्म है; उसकी जाति ही स्वर्ग है; उसकी जाति ही ईश्वर है; उसकी जाति ही सब कुछ है। वह अपनी जाति-रक्षा के लिए सब कुछ खोने को सदा तैयार है। यों तो हर युग में कुछ इने-गिने अन्तर्जातीय विवाह सामान्य प्रथा के अपवाद-स्वरूप हो ही जाया करते हैं; पर क्या कारण है कि हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या जात-पाँत तोड़कर रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं करती? क्या कारण है कि जात-पाँत-तोड़क आन्दोलन सफल नहीं होता? इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है कि जात-पाँत तोड़कर रोटी-बेटी का सम्बन्ध करना उन विश्वासी तथा सिद्धान्तों के विरुद्ध है जिन्हें हिन्दू पवित्र मानते हैं।

पर जाति-भेद को मानने में बेचारे हिन्दुओं का कुछ कसूर नहीं। वे जाति-भेद को इसलिए नहीं मानते कि वस्तुतः वे क्रूर तथा हृदय-हीन हैं; बल्कि वे इसे इसलिए मानते हैं कि उनका धर्म, जो उनको अपने प्राणों से भी प्यारा है, उन्हें जाति-भेद को मानने के लिए विवश करता है। अतः कसूर है उन धर्म-ग्रन्थों का जिन्होंने उनकी ऐसी मनोवृत्ति कर दी है। जाति-भेद का समूलोत्पाटन करते समय हमें जिन शत्रुओं का सामना करना है वे इसके मानने वाले लोग नहीं हैं; बल्कि वे धर्म-शास्त्र हैं जो उन्हें इस वर्ण-भेद का धर्मोपदेश देते हैं। अतः जाति-भेद रूपी इस सामाजिक कोढ़ की सच्ची दवा तो यह है कि उन धर्मशास्त्रों की पवित्रता में ही लोगों का विश्वास नष्ट कर दिया जाए। लोगों के आचरण उन विश्वासों के परिणाम-मात्र हैं जो शास्त्रों ने उनके मन में बैठा दिए हैं। लोग तब तक अपने उस आचरण को नहीं बदल सकते जब तक कि उनका विश्वास उन शास्त्रों से हट नहीं जाता जो उनके आचरण के आधार हैं। अन्तर्जातीय सहभोजी तथा विवाहों के लिए आन्दोलन करना केवल कृत्रिम उपायों से ज़बर्दस्ती मुँह में भोजन ठूँसने के समान है। अतः हिन्दू जाति के सुधाराकांक्षी प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह हिन्दू धर्मशास्त्रों की धज्जियाँ उड़ाना शुरू कर दे, जैसा कि इस पुस्तक में किया गया है और तब तक दम न ले जब तक हिन्दुओं के मस्तिष्क में विषैले कीटाणुओं की तरह घुसे हुए उनके कलुषित उपदेशों का प्रभाव नष्ट न हो जाए।

अब वाक्‌छल से काम लेने में कुछ फ़ायदा नहीं। लोगों को यह कहने से कुछ भी लाभ नहीं कि शास्त्र वह बात नहीं कहते जिसमें तुम विश्वास किए बैठे हो। महत्त्व की बात यह नहीं कि व्याकरण की दृष्टि से पढ़ने अथवा तर्क की दृष्टि से व्याख्या करने पर, शास्त्र क्या कहते हैं। वरन् महत्त्व की बात तो यह है कि लोग शास्त्रों

का क्या अर्थ लेते हैं। अतः हमें शास्त्रों के प्रति वही रुख धारण करना चाहिए जिसे महात्मा बुद्ध तथा गुरु नानक ने धारण किया था। हमें उन्हीं महात्माओं की तरह शास्त्रों को प्रामाणिक या धर्म-ग्रन्थ मानने से साफ़ इन्कार कर देना चाहिए। हमें साहस के साथ हिन्दुओं से यह कह देना चाहिए कि तुम्हारी सारी खराबियों की जड़ वे ही धर्म-ग्रन्थ हैं जिन्होंने तुममें जाति-भेद की पवित्रता की झूठी भावना उत्पन्न कर रखी है। यदि इतना कह देने पर भी कोई हठवश उन ग्रन्थों को प्रामाणिक ही मानता रहे तो उससे उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर उसकी ही जाति की उत्पत्ति की पोल खोल देनी चाहिए जैसा कि इस पुस्तक में किया गया है। ऐसा करने से उसकी जाति-विषयक भावना धीरे-धीरे बदल जाएगी और वह जाति के कारण किसी को उच्च या नीच मानना छोड़ देगा। जाति-विषयक विवाद में जाति-भेद वा जाति के कारण किसी को व्यर्थ ही उच्च वा नीच मानने वाले प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के लिए उसकी जाति ही एक ऐसा मर्म-स्थल है जिस पर प्रहार होते ही वह चित्त हो जाएगा।

मैं पूर्व में कह आया हूँ कि सारा हिन्दू समाज दो वर्गों में विभक्त है—(१) शासक-वर्ग और (२) शासित-वर्ग। ब्राह्मण और क्षत्रिय शासक-वर्ग के तथा वैश्य और शूद्र शासित-वर्ग के सदस्य हैं। जो शासक-वर्ग है वही देश का सत्ताधारी वर्ग है। उसी के हाथ में धन, पृथ्वी, अधिकार आदि सब कुछ है। और जो शासित-वर्ग है वह उन वस्तुओं से वंचित है। आप कह सकते हैं कि वैश्य जाति तो अच्छी हालत में है। इस जाति में अनेक करोड़पति सेठ-साहूकार हैं जो अपने धन-बल से समाज पर काफ़ी प्रभाव रखते हैं। उसके अतिरिक्त कितने ऐसे भी शूद्र समझी जाने वाली जातियों के सदस्य हैं जो देश में हुकूमत करने वाले सरदार हैं। अतः हिन्दू-

समाज का उक्त विभाजन ठीक नहीं जँचता। पर इसे बतलाने के पूर्व कि वैश्यों और शूद्रों के दिन कब पलटे, उक्त शंका के समाधान में मैं यहाँ केवल यही कह देना चाहता हूँ कि ब्राह्मण-क्षत्रिय चाहे कितनी ही गिरी और वैश्य-शूद्र चाहे कितनी ही उन्नत दशा में हों, पर उनके जाति-नामों के साथ जो कर्मशः उच्चता तथा नीचता की भावना एक बार सम्बद्ध हो चुकी है उसको उखाड़ फेंकना, जैसा कि पहले कहा गया है, असम्भव-सा हो गया है। यही कारण है कि दरिद्र से दरिद्र तथा मूर्ख से मूर्ख ब्राह्मण-क्षत्रिय भी धनविद्या से समृद्ध वैश्य-शूद्र को भी अपने बराबर नहीं मानते। उच्चता की भावना जो एक बार ब्राह्मण-क्षत्रिय के दिमाग़ में अपना घर कर चुकी है उसे वहाँ से हटा देना सुकर नहीं है। अतः जाति-भेद के ध्वंसन-कार्य में ब्राह्मण-क्षत्रिय का सहयोग प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ है। अनुभव बताता है कि गौतम बुद्ध के समय से लेकर वर्त्तमान काल तक जितने ऐसे सम्प्रदायों की सृष्टि हुई जिन्होंने जात-पाँत के भेद भाव को मिटाकर अपने सदस्यों के बीच समता का भाव स्थापित करना चाहा उन सबमें ब्राह्मण-क्षत्रिय की अपेक्षा वैश्य-शूद्र ही अधिक संख्या में सम्मिलित हुए। बौद्ध काल में सामाजिक समता के आकांक्षी होकर वैश्य-शूद्र ने ही विपुल संख्या में बौद्ध मत को ग्रहण किया था। वर्त्तमान काल में ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज, राधास्वामी-सम्प्रदाय आदि विविध सम्प्रदायों के सदस्यों की नामावली उनके दफ्तरों से लेकर यदि आप पढ़ें; तो आप देखेंगे कि उनमें सम्मिलित होने वाले वैश्य-शूद्र ही अधिक हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय की संख्या अति ही अल्प है जो उँगलियों पर गिनी जा सकती है। ब्राह्मण-क्षत्रिय राजनैतिक तथा आर्थिक सुधार में भले ही भाग ले लें; पर जाति-भेद-तोड़क अन्दोलन में उनका उदासीन रहना स्वाभाविक है। इतना ही नहीं; यदि उनका चले तो ऐसे

आन्दोलन को हर सूरत से दबाना भी उनका स्वाभाविक कर्म होगा। जाति-भेद-तोड़क आन्दोलन को तो अभी एक ओर रहने दीजिए और अपनी निगाह आजकल के उन आन्दोलनों की ओर दौड़ाइए जिनके द्वारा कतिपय शूद्र समझी जाने वाली जातियाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय बनने की घोषणा कर रही हैं। क्या ये आन्दोलन खानदानी ब्राह्मण-क्षत्रियों को कभी सह्य हो सकते हैं? कभी नहीं। हम लोग समाचार-पत्रों में प्रायः पढ़ा करते तथा ऐसे भी सुना करते हैं कि अमुक गाँव के कुछ कहारों ने अपने को क्षत्रिय घोषितकर जनेऊ धारण कर लिया था, जिस पर वहाँ के क्षत्रिय ज़मीन्दारों ने उन बेचारों को खूब पीटा और उनके जनेऊ भी तोड़ डाले। मुकद्दमा हुआ; पर डर के मारे किसी ने गवाही न दी; अतः वह खारिज हो गया। दिहातों में जाने पर आप देखेंगे कि वहाँ ब्राह्मण-क्षत्रियों के आतंक के मारे वैश्य-शूद्र उनके सामने चारपाई पर बैठने, अच्छी पोशाक पहनने तथा घोड़े आदि सवारी पर चढ़कर चलने नहीं पाते। आप पूछ सकते हैं कि क्या ब्राह्मण-क्षत्रिय जाति-भेद के विषैले परिणाम को नहीं जानते जो वे इसके मिटाने पर सहमत नहीं होते? मेरा उत्तर है कि वे जानते हैं कि जाति-भेद के कारण ही उनकी राज-नैतिक स्वतंत्रता मिट्टी में मिल गई और उनका देश सदियों से पराधीनता की दुर्भेद्य बेड़ियों में जकड़ा रहकर कराह रहा है; पर मानव-जाति का स्वाभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वह जिस अधिकार का रस एक बार चख लेता है उसे वह खोना नहीं चाहता। ब्राह्मण-क्षत्रिय इस बात को अच्छी तरह महसूस कर गये हैं कि जाति-भेद मिटाने का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है उनके सारे जातीय महत्त्व पर एक बारगी पानी फेर देना जो उनके लिए असह्य है। उन्हें गुलामी कबूल है पर सामाजिक समता नहीं।

जाति-भेद को तोड़ने में जो एक और अड़चन है उसकी ओर

भी मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह है हिन्दू समाज के अन्तर्गत विविध जातियों का एक दूसरे के ऊपर क्रमवद्ध विन्यास; जैसे क्षत्रिय यदि ब्राह्मण से नीचे हैं तो वह वैश्यादिकों से ऊपर है; वैश्य यदि ब्राह्मण-क्षत्रियों से नीचे है तो वह शूद्रों से ऊपर है इत्यादि। यह उच्च-नीच का भाव हरिजनों तक भी आपस में पूरा फैल गया है; जैसे भंगी अपने को धोबी से उत्तम समझता है। इतना ही नहीं। जातियों के इस क्रम-विन्यास के साथ-साथ उनके सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का भी क्रम-विन्यास हो गया है; अर्थात् विविध जातियों की इस क्रम-बद्ध शृंखला में जिस जाति का पद जितना ऊँचा या नीचा है, उसके अधिकारों की संख्या भी उतनी ही अधिक या कम है। फल यह होता है कि प्रत्येक जाति अपने को किसी न किसी दूसरी जाति से उत्तम होने का अभिमान करती है और वह अपने से ऊपर वाली जाति के साथ रोटी-बेटी का संबन्ध स्थापित करना तो चाहती है पर वह अपने से नीचे वाली जाति के साथ नहीं रहना चाहती। यह जाति शृंखला सब लोगों को मिलकर जाति-भेद के विरुद्ध संगठित नहीं होने देती। इस शृंखला ने जिस चालाकी के साथ विभिन्न जातियों में अधिकारों का बटवारा किया है जिससे किसी को अधिक तो किसी को कम मिले हैं, उसको देखते हुए आप सभी हिन्दुओं को जाति-भेद के किले पर टूट पड़ने के लिए अपनी सेना में नहीं भरती कर सकते। अतः जाति-भेद को मिटाना एक सरल कार्य नहीं है। हाँ इसकी कठोरता को, जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, हम इस प्रकार कम कर सकते हैं कि सभी जातियों की पोल खोलकर उनकी धज्जियाँ उड़ा दी जाएँ और केवल जाति के कारण किसी को भी उच्च या नीच, पूज्य या अपूज्य मानने की बात को छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर ली जाय। तब संभव है कि यह जाति-प्रथा आप से आप कुछ काल

में धीरे-धीरे मर मिटे। अथवा नहीं तो जाति का पूछना और जाति का बतलाना अर्थात् जाति-नाम के द्वारा परिचय देना और लेना दोनों को ही कानून से दंडनीय करार कर दिया जाए। इसके सिवा कोई अन्य उपाय नहीं दीखता। इस प्रकार जाति-नामों के लुप्त हो जाने पर अन्तर्जातीय विवाह या भोजन के प्रश्न उठेंगे ही नहीं; क्योंकि इस दशा में सभी सजाति हो जाएँगे।

इस विषय में षष्ठ परिच्छेद में कुछ कह चुका हूँ जिससे पाठकों को मालूम हो गया होगा कि ये दोनों जातियाँ शुद्ध ब्राह्मणी

वैश्य-शूद्रों के अच्छे दिन कब आये

काल में एक निष्ठुर शासन-चक्की के नीचे बराबर पिसती रहीं। इनका धन किसी न किसी स्वार्थपूर्ण बहाने से छीनकर इन्हें कभी पनपने नहीं दिया गया। इनकी मेंड़-मूड़न बराबर जारी रही। इनके पीठ पर कभी रोएँ जमने नहीं पाए। पर जब बौद्ध काल का शुभागमन हुआ तभी इन्हें अच्छे दिन देखने को मिले। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस काल में यह देश अनेक धन-कुबेर सेठों और साहूकारों से भरा था। वैश्यों और शूद्रों ने साम्राज्य तक स्थापित कर लिए थे! बौद्ध काल से ही भारत का विदेशियों के साथ सम्पर्क शुरू हुआ। तभी से विदेशी लोग भारत में आकर अपना राज्य स्थापित करने लगे। इनमें से कुछ विदेशी तो, जैसे शक, हूण, गुजर आदि जो बौद्ध काल में आये, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति को अपना कर हिन्दू जाति में मिल गये। पर कुछ ऐसे विदेशी भी आये, जैसे मुसलमान और ब्रिटिश, जो भारत पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापितकर चिरकाल तक शासन करते रहने पर भी हिन्दू-संस्कृति को अपनाने के बदले अपनी संस्कृति की बहुत कुछ छाप हिन्दू-संस्कृति पर डाल दी और यहाँ की शासन-पद्धति में पर्याप्त परिवर्तन कर डाला। इसका फल यह हुआ कि ब्राह्मणी-

शासन की कानूनी क्रूरता बौद्ध काल की तरह मुस्लिम तथा ब्रिटिश काल में भी कुंठित होकर पुनः अपने मौलिक रूप को न प्राप्त कर सकी और वैश्य-शूद्रों के जान-माल की रक्षा हुई अर्थात् धर्म के नाम पर ब्राह्मणी-क्षत्रियों के द्वारा उनका लूटा जाना बन्द हुआ। इस कथन में असत्य की मात्रा तनिक भी नहीं है कि वैश्य-शूद्रों के लिए, ब्राह्मणी-शासन की अपेक्षा अ-ब्राह्मणी-शासन ही, चाहे वह स्वदेशी हो जैसे बौद्ध कालीन शासन अथवा विदेशी हो जैसे मुस्लिम और ब्रिटिश शासन, अधिक श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है; क्योंकि अब्राह्मणी-शासन-काल में ही उनका उन्नति-मार्ग निष्कंटक रहा।

अन्त में मैं अपने विज्ञ पाठकों की सेवा में यह नम्र निवेदन कर देना चाहता हूँ कि इस पुस्तक में मैंने जो कुछ लिखा या तर्क किया है, वह प्रमाण ग्रन्थों के आधार पर ही किया है, जिनका हवाला मैं आवश्यकतानुसार प्रत्येक स्थान पर देता आया हूँ। जिन्हें किसी प्रकार की शंका हो, वे उसके समाधान के लिए उक्त ग्रन्थों को लेकर स्वयं देख लें। इस पुस्तक के लिखने में मैं केवल इसी सद्भावना से प्रेरित हुआ हूँ कि सभी हिन्दू परस्पर का भेदभाव एक ओर रखकर अपनी इस जीर्ण-शीर्ण भारत-माता के उद्धार में कटि-बद्ध हो जाएँ तथा कोई भी किसी को धोखे में डालकर स्वार्थ-साधन की कुप्रवृत्ति में रत न रहे। कारण कि यह ज्ञान और तर्क का युग है, धाँधली का नहीं। वर्त्तमान हिन्दू-सन्तान केवल सिंह की खाल ओढ़ लेने वालों को सिंह, केवल मयूर-पक्ष धारण कर लेने वालों को मयूर अथवा केवल नील के रंग में अपना शरीर रंग लेने वालों को जंगल का राजा मान लेने को तैयार नहीं है। इसके अतिरिक्त मैं इस हिन्दू जाति को यह भी चेतावनी स्पष्ट शब्दों में दे देना चाहता हूँ कि जब तक वह धर्म के नाम पर स्वार्थियों के द्वारा प्रचारित जिन

अन्तिम निवेदन

विविध अन्धविश्वासों में फँसकर वैदिक काल से लेकर आज तक सड़ती आई, उनसे शीघ्रातिशीघ्र अपना पिंड छुड़ाकर निःशेष धर्मों के मूल-भूत प्राणि-मात्र के प्रति अहिंसा, विश्व-बन्धुता, सच्ची नागरिकता एवं शुद्ध राष्ट्रीयता की भावना को ही वास्तविक धर्म समझकर उसे नहीं अपनाएगी तब तक उसका उद्धार होना केवल कठिन ही नहीं, असंभव है।

आधार-ग्रन्थावली (BIBLIOGRAPHY)

(१) ऋग्वेद
(२) यजुर्वेद
(३) अथर्ववेद
(४) तैत्तिरीय ब्राह्मण
(५) गोपथ ब्राह्मण
(६) बृहदारण्यक
(७) पारस्कर-गृह्य सूत्र
(८) आपस्तम्ब-गृह्य सूत्र
(९) ईशोपनिषद्
(१०) कठोपनिषद्
(११) वज्रसूच्ययुपनिषद्
(१२) श्वेताश्वतरोपनिषद्
(१३) भगवद्गीता
(१४) निरुक्त
(१५) मनुस्मृति
(१६) याज्ञवल्क्य-स्मृति
(१७) अष्टदश-स्मृति
(१८) दशकर्म-पद्धति
(१९) वाल्मीकीय रामायण
(२०) महाभारत
(२१) हरिवंश
(२२) स्कन्दपुराण
(२३) पद्मपुराण
(२४) वह्निपुराण
(२५) ब्रह्मवैवर्त्तपुराण
(२६) मार्कण्डेयपुराण
(२७) लिङ्गपुराण
(२८) वायुपुराण
(२९) विष्णुपुराण
(३०) भविष्यपुराण
(३१) श्रीमद्भागवत
(३२) अध्यात्म रामायण
(३३) आचार निर्णय तंत्र
(३४) शक्तिसंगम तंत्र
(३५) विष्णु रहस्य
(३६) बृहन्नारदीय
(३७) रुद्रसंहिता
(३८) नीति शतकम् (भर्तृहरि)
(३९) सांख्य-कारिका
(४०) न्याय-दर्शन
(४१) तर्कप्रकाशिका
(४२) भट्टिकाव्य
(४३) रघुवंश
(४४) मेघदूत

(४५) शिशुपाल-वध
(४६) मुद्राराक्षस
(४७) कुमार संभव
(४८) मृच्छकटिक
(४९) उत्तर रामचरित
(५०) अमर-कोष
(५१) संस्कृत-अंगरेज़ी कोष (आप्टे)
(५२) शब्द कल्पद्रुम (वंङ्गाक्षर संस्करण)
(५३) हिन्दी विश्वकोष
(५४) अष्टाध्यायी (पाणिनि)
(५५) महाभाष्य (पातञ्जलि)
(५६) जाति-भास्कर (पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र; संवत् १९७४
(५७) जाति-विवेक
(५८) जाति-विवेकाध्याय
(५९) वर्णविवेक चन्द्रिका
(६०) कायस्थ मीमांसा
(६१) ब्राह्मण-निर्णय (पं० छोटे-लाल शर्मा; संवत् १९७३)
(६२) ब्रह्मणोत्पत्ति मार्त्तण्ड (पं० हरिकृष्ण शास्त्री; संवत् १९७१)
(६३) जाति-भेद का उच्छेद (श्री आम्बेडकर; ई० स० १९३७)
(६४) मूल भारतवासी और आर्य (स्वामी बोधानंद; ई० सं० १९३०)
(६५) जाति-अन्वेषण, प्रथम भाग (पं० छोटे लाल शर्मा; संवत् १९७१)
(६६) सप्तखंडी जाति-निर्णय (पं० छोटेलाल शर्मा ई० सं० १९२३)
(६७) ब्राह्मण समाज की स्थित (श्री सहजानन्द जी; संवत् १९८१)
(६८) कायस्थ कुलभास्कर (पं० लक्ष्मीनारायण दि०; ई० सं० १९०४)
(६९) कायस्थ धर्म्म-दर्पण (पं० सुखदेव प्रसाद बाजपेयी; ई० स० १९१४)
(७०) ब्रह्मर्षि वंश विस्तर (श्री सहजानन्दजी; संवत् १९८१)
(७१) झूठा भय और मिथ्या-भिमान (श्री सहजानन्द जी; संवत् १९८५)

(७२) रामचरित मानस
(७३) पृथ्वीराज रासौ
(७४) भूषण कवि की कविता
(७५) सुजानसिंह की कविता
(७६) समर्थदास की कविता
(७७) वेन कवि की कविता
(७८) शातीर
(७९) गयासुल्लोगात
(८०) हिन्दी महाभारत मीमांसा
(८१) सीनियर हिन्दुस्तान का इतिहास (गुप्तेश्वरनाथ; Revised Edition)
(८२) The Brahmans (S. P. Upadhyaya)
(८३) Civilization in Ancient India (R. C. Dutt)
(८४) Early History of India including Alexander's campaigns (V. Smith, Second Edition)
(८५) The Oxford Student's History of India (V. Smith, Eighth Edition)
(८६) History of Tirhut S. N. Singh, 1922)
(८७) Indian Law Reports, Patna Series, Vol. VI, 1927.
(८८) A book on Eleven Land Grants of the Chalukyas (G. Buhler).
(८९) A Treatise on Hindu Law (G. C. Sarkar, 6th Edition).
(९०) Todd's Rajsthan.
(९१) J. N. Bhattacharya's Hindu Castes and Sects.
(९२) Risley's Castes and Tribes of Bengal.
(९३) Elliot's Supplementary Glossary

(६४) Foreign Elements in Hindu Population (Dr. Bhandarkar.)

(६५) The Asiatic Society Journal (M. M. U. Hara Prasad Shastri.)

(६६) The Indian Penal Code.

(६७) Deserted Village (Goldsmith.)



शुद्धि-पत्र

नोट—पुस्तक पढ़ने के पहले अशुद्धियों को शुद्ध कर लें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	२६	सम	हम
१८	१६	श्वेद	श्वेत
२६	१	दन्तं	दत्तं
२६	११	अर्च्चिया	अर्च्चिता
६१	२५	क्षत्रिय	क्षत्रियों
७४	१७	किसी जाति	किस जाति
७७	१०	आलोचना	आलोचनाधीन
७७	१५	पूर्वज	पूर्वज के
८०	२	पंचयो	पंचमो
८३	२३	ब्रहसंज्ञक:	ब्रह्मसंज्ञकः
९१	२	शुद्धति	शुध्यति
९६	३	शान	शासन
९८	५	किणानियों	किरानियों
०५	६	बनाए	बताए
०६	२१	एसिया	एशिया
११	१८	प्रवृत्ति	प्रवृत्त
१८	१७	व्यासकृति	व्यासकृत
२१	२२	सहोर्पितो	सहोपितो
२४	७	आह	आप
३२	१५	पुत्री	पुत्रों
३५	२४	रोग का	इस रोग का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३८	२५	सरे	दूसरे
१४०	१	सूर्य-प्रजा	सूर्य-पूजा
१४३	२४	११८-११	११८-१२१
१४६	५	(मत्स्य-भेद)	मत्स्य-भेद
१५६	३	गोमांश	गोमांस
१८०	१६	नीतिशीतोष्ण	नातिशीतोष्ण
१८३	१६	बनाया	बनाया
१८४	२०	राह्यो	राज्ञो
२२२	१४	दाशराज्ञ	दाशराज्ञ
२२३	२५	संस्कार	संस्कार
२२४	६	राजमहर्षियों	राज-महिषियों
२२५	२५	कुन, पै	कूच पै,
२३४	७	लिखा—	लिखा है—
२३४	१६	तदेवं	तमेदं
२७०	२०	तत्रः	तन्नः
२९१	१	नारक की	नारद की
२९८	२०	सुन ध्यया	सुमध्यया
२९९	२४	यर्ममेवाचरोत्तमम्	धर्ममेवाचरोत्तमम्
३१३	१६	राजत्यः	राजन्यः
३२३	२३	की ब्राह्मणों की	ब्राह्मणों की
३४७	२२	भक्तों	भक्त
३८५	२४	पढ़ने	पन्ने
३८५	२६	उलटे हैं	उलटते हैं
[illegible]२	८	इसी	ईसा
[illegible]	९	समारी	हमारी